ओ३म्

# मनुस्मृतिः

भाषानुवाद-सहिता

तथा च

यथाऽऽवश्यकं तत्रतत्रोपयुक्तविशिष्टव्याख्यानैः

परिबृंहिता

श्रीयस्

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, गीता व्याख्याकारेण,

सामवेदभाष्यकारेण, वेदप्रकाशसम्पादकेन

तुलसीराम स्वामिना

सम्पाद्य

स्वकीये मेरठ-स्थे "स्वामि यन्त्रालये"

मुद्रयित्वा

सप्तमवारं प्रकाशिता

---

सृष्टिसंवत् १९७२९४९०३५, विक्रमी संवत् १९९१

मूल्यम् १।)

पुस्तक मिलने का पता-

मैनेजर स्वामी प्रेस-मेरठ

ओ३म्

# मनुस्मृति भाषानुवाद का

## विषयसूचीपत्र

मनोर्भाषानुवादस्य तुलसीरामशर्मणा ( स्वामिना )
अनुक्रमणिका सूची विषयाणामुदीर्यते ॥ १ ॥

### भूमिका में-



### प्रथमाध्याय में-

## द्वितीयाध्याय में-

## तृतीयाध्याय में

| विषय | श्लोक |
|---|---|


## चतुर्थाऽध्याय में–

## पञ्चमाऽध्याय में-

## षष्ठाऽध्याय में-

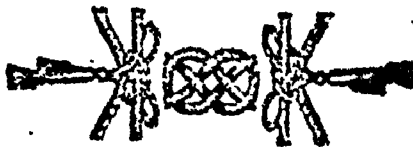
## सप्तमाऽध्याय में-

## अष्टमाऽध्याय में

## दशमाऽध्याय में-

## एकादशाऽध्याय में-

## द्वादशाऽध्याय में–



# निवेदन

मनु के भाषानुवाद की धर्मजिज्ञासुओं को जितनी अधिक आवश्यकता है, उसे जिज्ञासु ही जानते हैं और सम्प्रति मनु पर अनेक संस्कृत टीका और भाषाटीकाओं के होते हुवे भी एक ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी जो सुगम हो, अल्प मूल्य का हो, संक्षिप्त और मूल का आशय भले प्रकार स्पष्ट करने वाला हो, जिसके अर्थों में खेंचातानी और पक्षपात न हो। इस पर भी यह जाना जासके कि कितने और कौन २ से श्लोक लोगों ने पश्चात् मिला दिये हैं। यह एक ऐसा कठिन काम है, जैसे दूध में मिले पानी का पृथक् करना। इसी लिये हमने ऊपर लिखे गुणों से युक्त यह टीका छापी है और जो श्लोक हमारी समझ में पीछे से औरों ने मिला दिये हैं, उनको ठीक उसी स्थान पर कुछ छोटे अक्षरों में उपस्थित रक्खा है और " " चिन्ह उन के ऊपर कर दिया है तथा संक्षेप से उन के प्रक्षिप्त मानने के हेतु दिखलाते हुवे उस के अर्थ में कुछ हस्तक्षेप न करके अपनी सम्मति ( ) चिन्ह के भीतर लिख दी है। जिस में जिन सज्जनों को उन २ श्लोकों के प्रक्षिप्त मानने के हेतु पर्याप्त (काफ़ी) प्रतीत हों, वे श्रद्धा करें और जिन की दृष्टि में अग्राह्य हों, वे न मानें। क्योंकि हम निर्भ्रान्त वा सर्वज्ञ नहीं हैं और न मनुष्य सर्वज्ञ हो सक्ता है। इसी से अपनी सम्मति को सर्वोपरि मानकर पुस्तक में से वे श्लोक निकाल नहीं दिये हैं। जहां तक बना छान बीन बहुत की है। कितने ही ऐसे श्लोकों का भी पता लगता है जो अब मूल में से निकल गये, प्राचीनकाल में थे वा अभी सब पुस्तकों में नहीं मिल पाये। हमने उनको भी [ ] कोष्ठक में रक्खा है। जिन श्लोकों को स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में माना है, उन में से हमने किसी को प्रक्षिप्त नहीं माना। मुम्बई के एक पुस्तक से, जिस में मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र; इन परिश्रमी और प्रसिद्ध ६ टीकाकारों की टीकाओं के अतिरिक्त १—बङ्गाल ऐसियाटिक सोसाइटी। २—उज्जैन के सोरठी बावा रामभाऊ। ३-उज्जैन के आठवले नाना साहब। ४-७—मुन्शी हनुमान्प्रसाद प्रयाग। ८—खण्डवा के रावबहादुर खेरे बल्लालात्मज वासुदेव शर्मा। ९-१०—मिरज के महाबल वामन भट्ट। ११—यौलेश्वर के रामचन्द्र। १२-१४—पूना के ज्योतिषी बलवन्तराव। १५

अहमदाबाद के सेठ बेचरदास । १६–शम्भुमहादेव क्षेत्र के जावड़े बलवन्तराव । १७–बङ्गाल ऐसि० के मूल पुस्तक । १८–आस्टैलिमये के गोविन्द । १९–लण्डन का मूल पुस्तक । २०–कलिकाता राजधानी का छपा । २१–मिरज के वामन भट्ट का राघवानन्दी टीका का । २२–बड़ौदे के वासुदेव । २३–जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री (राघ०) । २४–मद्रास के दीवान बहादुर रघुनाथ राव । २५–पूने के गणेश ज्योतिर्विद् । २६–पूना के गोखले भट्ट नारायण । २७–जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री का मूलमात्र । २८–सर्वज्ञना० टी० । २९–३० आर्ष्टलिमये के गोविन्द राघवा०टीका । इन ३० प्राचीन पुस्तकों का संग्रह किया है; पाठान्तर, पाठाधिक्य, श्लोकाधिक्य आदि को देख भाल कर यथा सम्भव अपनी सम्मति लिखने में सावधानी की है । और अब तक जो कुछ विचार किया उस से " " चिन्हयुक्त प्रति अध्याय क्रम से ३४ । ४ । १६७ । २० । ४१ । ०० । ३ । १९ । ४९ । १९ । २२ । ४ सब ३८२ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़े हैं । परन्तु अभी कई विचारणीय भी हैं । आशा है कि सज्जन इस श्रम से प्रसन्न होंगे ॥

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के आरम्भ में ही सब से प्रथम ३० प्रकार के प्राचीन लिखे पुस्तकों में से १९ प्रकार के पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है और श्लोकसंख्या उस पर नहीं है । इस से भी पाया जाता है कि वर्त्तमान में जो मनुस्मृति का पुस्तक मिलता है, यह मनुप्रोक्त नहीं, किन्तु अन्य का बनाया है । इसी में यथार्थ मनु के आशय भी हैं । वह श्लोक यह है:–

**स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।**
**मनुप्रणीतान्विविधान्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १॥**

अर्थात्–मैं ( सम्पादक ) अनन्त तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्मा को नमस्कार करके मनुप्रोक्त सनातन विविध धर्मों का वर्णन करूंगा ॥ अध्याय एक श्लोक २ में " अन्तरप्रभवाणाम् " के स्थान में ३ पुस्तकों में " सङ्करप्रभवाणाम् " पाठ देखा जाता है ॥

अध्याय १ श्लोक ७ में सर्वज्ञनारायण टीकाकार "अतीन्द्रियोऽग्राह्यः" मानते हैं और इसी श्लोक में ८ पुस्तकों में "सएव=सएषः" पाठ देखा जाता है ॥ १ । ८ में कई पुस्तकों का पाठ अभिध्याय=अभिध्यायन् । बीजम्=वीर्यम् । असृजत्=अक्षिपत्, है ॥ १ । ९ में दो पुस्तकों "तस्मिन्=यस्मिन्" पाठ है ।

१।१०में तीन पुस्तकों में "अयनं तस्य ताः पूर्वं" पाठ है।१।१० के आगेः-

नारायणपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपाऽत्र मेदिनी ॥

यह श्लोक दो पुस्तकों के मूल में और एक की टीका में देखा जाता है और एक पुस्तक में उक्त श्लोक के स्थान में निम्नलिखित प्रक्षिप्त श्लोक पाया जाता हैः-

सहस्रशीर्षा पुरुषोरुक्मबाहुस्त्वतीन्द्रियः ।
ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदा ॥

एक पुस्तक में १।११ में "नित्यम्=लोके" देखा जाता है॥१।१३ में-ताभ्यां स शकलाभ्याम्=ताभ्यां च शकलाभ्याम्=ताभ्यां मुण्डकपालाभ्यां,भी देखे जाते हैं॥ तथा-स्थानं च शाश्वतं=स्थानं प्रकल्पयत्-भी है॥ तथा इस के आगे निम्नस्थ डेढ़ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक हैः-

वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।

१।१५ से आगेः-

अविशेषान्विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ।

यह अर्ध श्लोक दो पुस्तकों में अधिक मिलता है॥१।१६ में १ पुस्तक में षणामप्यमि=षण्मयानपि । मात्रासु=मात्रास्तु, देखा जाता है॥१।१७ में १ पुस्तक में तस्येमानि=तानीमानि, है॥१।२५ के १ पुस्तक में वाचं=बलं है॥ १।२७ के १ पुस्तक में सार्धं=विश्वं, है॥१।४६ के ७ पुस्तकों में स्थावराः=तरवः, है॥१।४९ के १ पुस्तक में-अन्तःसंज्ञा=अतःसंज्ञा, और ४ पुस्तकों में-अन्तसंज्ञाः, और दो पुस्तकों में-सुखदुःखसम०=फलपुष्पसम०, पाठ हैं। इन पाठों से वृक्ष सुखदुःखयुक्त नहीं सिद्ध होते॥१। ६३ से आगे १ पुस्तक में और दूसरी में ७० वें श्लोक में यह अर्ध श्लोक अधिक हैः-

कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोधत ॥

१।७८ से आगे ३ पुस्तकों में आगे कहा श्लोक अधिक हैः-

परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम् ।

गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

१।८५ में--युगह्रासानुरूपतः=तत्तद्धर्मानुरूपतः, पाठ है और इस से आगे १ पुस्तक में निम्नस्थ श्लोक अधिक है,जिस की व्याख्या केवल रामचन्द्र टीकाकार ने, जो सब से नवीन है, की है। जिस से प्रतीत होता है कि अति नवीन समय तक युग २ के पृथक् २ धर्मों की शिक्षा की मिलावट होती रही है:-

ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।

वैश्योद्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥

१।९७ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक और अधिक है कि:-

तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते।

तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥

तथा अन्य दो पुस्तकों में आधा श्लोक और अधिक है कि:-

ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते ॥

१।१०५ से आगे दो पुस्तकों और रामचन्द्रकृत टीका में यह श्लोक अधिक है:-

यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।

अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥

२।५ से आगे दो पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक हैं:-

असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः । नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥१॥ तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम् । काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥ २ ॥

२।१५ से आगे भी ३ पुस्तकों में दो श्लोक अधिक हैं, जो हमने उसी स्थान पर छापे हैं ॥ २।३१ के उत्तरार्ध का ३ पुस्तकों में-

शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्

पाठभेद है ॥ २।३२ में भी एक पुस्तक में:-

राज्ञोरक्षासमन्वितम्=राज्ञोवर्मसमन्वितम् ।

पाठ भेद है ॥ २।५१ के ९ यावदन्नं=यावदर्थं, पाठों में मेधातिथि के भाष्यानुसार भेद है ॥ २। ६७ वें प्रक्षिप्त श्लोक के पाठ में भी बड़ा अन्तर है कि एक पुस्तक में-

संस्कारोवैदिकः स्मृतः=औपनायनिकः स्मृतः ।

पाठ भेद है । दूसरे एक पुस्तक में-

गृहार्थोग्निपरिक्रिया=गृहार्थोग्निपरिग्रहः ।

पाठ है और अन्य दो पुस्तकों में इसी की जगह-

गृहार्थेग्निपरिक्रिया

पाठान्तर है । तो क्या ठिकाना है कि यह श्लोक मनुप्रोक्त है ॥ इसी ६७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥

ऐसे ही एक पुस्तक में यह श्लोक ११७ से आगे मिलाया गया है कि:-

जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ॥
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥

एक हाथ से सलाम करने की निन्दा यवनकालीन जान पड़ती है ॥

नन्दन भाष्यकारके मत में "भोःशब्दं कीर्त्त०" यह १२४ वां श्लोक १२३ वें "नामधेयस्य"० के स्थान में पाया जाता है ॥

इस से आगे १२ वें अध्याय तक पाठ भेद पाठाधिक्य वा जो २ अधिक श्लोक किन्हीं पुस्तकों में पाये गये वे अनुमान ११९ के हैं और उसी स्थान पर [ ] चिन्ह के भीतर हम छापते गये हैं ॥

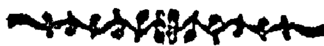
एकादशाध्याय में प्रायश्चित्तार्थ जिन २ वेदमन्त्रों के प्रतीक श्लोकों में आये हैं वे २ मन्त्र वेदों के मण्डल सूक्त अध्याय आदि पते खोज कर लिख दिये हैं ॥

इस पुस्तक का विषयसूची पृथक् भी इस लिये छपा दिया है कि यद्यपि अध्याय १ श्लोक १११ से ११८ तक १२ हों अध्यायों का भिन्न २ विषयसूची किसी ने श्लोक बना कर मिलाया है उस की भाषाटीका भी हमने की है परन्तु वहां जिन को विस्तार से कोई विषय जानना हो, नहीं जान सकते । बहुत शीघ्र मैंने यह बनाया और छपाया था। इस से बहुत सुधारने पर भी जहां

जहां जो कुछ अशुद्धि रह गई हों और पाठकगण की दृष्टि पड़ें तो सरलता से मुझे लिखें, आठवीं बार छपेगा उस में भी और ठीक कर दिया जायगा ॥

इस के अतिरिक्त हेमाद्रि आदि लोगों ने ऐसे कई वचन कहे हैं जो उन्हों ने मनुवचन कहके लिखे हैं, परन्तु वे वचन अब मनु में नहीं मिलते। ऐसे वचनों का संग्रह ४६६ श्लोकों के अनुमान ज्ञात हो चुका है। जैसा कि धर्माब्धिसार में १ स्मृतिचन्द्रिका में ३२ दानहेमाद्रि में ११ व्रतहेमाद्रि में १ श्राद्धहेमाद्रि में ३१ स्मृतिरत्नाकर में ५३ शूद्रकमलाकरमें १४ पराशरमाधव में ४७ निर्णयसिन्धु में १५ मिताक्षरा में १३ संस्कारकौस्तुभ में ६ विवाद भङ्गार्णव में १७ नारायणभट्टकृत प्रयोगरत्न संस्कारमयूख में २ व्यवहारतत्त्व में १ दायक्रमसंग्रह में २ श्रीमद्भागवत ३।१।३६ की टीका में १ शङ्करदिग्विजय १ प्रकरण में २ संस्कारमयूख में ४ आचारमयूख में ८ श्राद्धमयूख में २ व्यवहारमयूख में २ प्रायश्चित्तमयूख में १० और वृद्धमनु के नाम से १७४ वृहन्मनु के नाम से १७ इस प्रकार श्लोक ४६६ हुवे। तथा मेधातिथि के समस्त पाठभेद ५०० के लगभग हैं। कुल्लूक के पाठभेद भी ६५० के ऊपर हैं। राघवानन्द ने भी ३०० से ऊपर पाठभेद माने हैं। नन्दन ने १०० के लगभग पाठभेद माने हैं। इत्यादि अनेक हेतु इस पुस्तक के (जो वर्त्तमान समय में मिलता है) ठीक २ मनुकृत होने में पूर्ण सन्देहजनक हैं ॥

मेरठ २२। ५। १९१४ तुलसीराम स्वामी



ओ३म्

श्री परमात्मने नमः

अथ

# मनुस्मृति-भाषानुवादः

प्रणम्य जगदाधारं वाक्पतिं परमेश्वरम् । क्रियते
मानवी टीका तुलसीरामशर्मणा ( स्वामिना ) ॥१॥

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ—महर्षि लोग एकान्त में विराजमान मनु जी के निकट जाकर ( उन का ) यथोचित प्रतिपूजन कर, यह वचन बोले कि—॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः । अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥३॥

अर्थ—महाराज ! संपूर्ण वर्णों और वर्णसङ्करों के धर्मोंका यथावत् क्रम से हम लोगों को उपदेश करने में आप समर्थ हैं ॥ २ ॥ क्योंकि संपूर्ण वेद ( ऋग्यजुः साम अथर्व ) के कार्यों ( ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और नित्यकर्म संध्यावन्दनादि ) के यथार्थ तात्पर्य के जानने वाले आप एक ही हैं । जो ( वेद ) कि अचिन्त्य, अप्रमेय; अनादि=परमात्मा का विधान (क़ानून है) ॥३॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः । प्रत्युवाचार्च्य तान् सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥ आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥५॥

अर्थ—जब इन महात्माओं ने महात्मा मनु से इस प्रकार प्रश्न किया, तब मनु जी ने इन सब महर्षियों का सत्कार करके कहा कि श्रवण कीजिये ॥४॥

यह विश्व (महाप्रलयकाल में) अन्धकारयुक्त और लक्षणों से रहित, सङ्केत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य, सब ओर से निद्रा की सी दशा में था॥

(यहां यह प्रश्न होता है कि ऋषियों ने तो धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन क्यों करने लगे? मनु के सब टीकाकारों (१ मेधातिथि, २ सर्वज्ञनारायण, ३ कुल्लूक, ४ राघवानन्द, ५ नन्दन) ने एक छठे रामचन्द्र टीकाकार को छोड़कर यह प्रश्न उठाया है और थोड़े से भाव में भेद करते हुवे प्रायः सब का तात्पर्य उत्तर में यह है कि सृष्टि का वर्णन करते हुये, चारों वर्णों के धर्म क्रमशः वर्णन करने के लिये प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ करना साङ्गोपाङ्ग धर्म का वर्णन कहा जा सकता है। इस लिये और ब्रह्मज्ञान की सब धर्मों में उत्तमता होने से मनु जी ने परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति दिखाते हुवे धर्मोपदेश का आरम्भ किया। परन्तु दूसरे श्लोक के आगे अन्य दो श्लोक भी चार प्राचीन लिखित पुस्तकों में देखे जाते हैं और नन्दन तथा रामचन्द्र ने इन पर टीका भी की है। वे ये हैं:-

[जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम्। भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा॥१॥ आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम्। यथाकालं(कामं) यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः२]

अर्थात्-जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज और सब प्राणिमात्र की उत्पत्ति और प्रलय॥१॥ और सब के आचार और कार्य अकार्य का निर्णय, काल (वा इच्छा) और योग के अनुसार समस्त कहिये॥२॥ तीन पुस्तकों में "कालम्" पाठ देखा जाता है। यदि ये श्लोक प्राचीन माने जांय तो यह संशय सर्वथा नहीं रहता कि मुनियों ने धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि का वर्णन क्यों करने लगे? हमारे विचार में तो जैसे बहुत श्लोक मनु में नये मिल गये, वैसे ही ऐसे २ श्लोक मनु से जाते रहे और किन्हीं २ पुस्तकों में रह गये)॥५॥

ततः स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तोव्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥६॥ योसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः सएवस्वयमुद्बभौ॥७॥

अर्थ–इस (दशा) के अनन्तर उत्पत्तिरहित, सर्वशक्तिमान्, इन्द्रियों से अतीत, ( प्रलयकाल के अन्त में ) प्रकृति की प्रेरणा करने वाले, महत्तत्त्व (आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी) आदि कारणों से युक्त है बल जिसका, उस परमात्मा ने इन को प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया। (परमेश्वर का प्रकट होना यही है कि जगत् की रचना और जगत् के लोगों को अपना ज्ञान कराना) ॥ ६ ॥ जो कि इन्द्रियों से नहीं ( किन्तु आत्मा से ) जाना जाता और परम सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, संपूर्ण विश्व में व्याप्त तथा अचिन्त्य है वही अपने आप प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ९

अर्थ–उस (स्वस्वामिभावसंबन्ध से=मालिक और मिलकियत् के लिहाज़ से) अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले ने ध्यान करके प्रथम अप् तत्त्व ही उत्पन्न किया, उस में बीज को आरोपित किया। (यहां शरीर शब्द से उपादानकारण का ग्रहण है *। परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी [मालिक] है, इस लिये उसे "परमेश्वर का" कहा गया है ) ॥

अप् शब्द का अर्थ अप्तत्त्व है, जल नहीं। वास्तव में पञ्च भूतों में से एक भूत जल का अर्थ लेना यहां संगत भी नहीं किन्तु प्रकृति को जब परमात्मा कार्योन्मुख करके सृष्टि को उत्पन्न करना आरम्भ करता है तब जो तत्त्व प्रकृति का सब से पहला कार्य वा सब से पहला परिणाम होता है उसी को "अप्तत्त्व" कहा समझना चाहिये क्योंकि इस के आगे १।११ में–

"यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।"

इस श्लोक में अव्यक्त (प्रकृति) का वर्णन प्रकरण में है। उसी को १।८ में शरीर कहा है। शरीर से अप् को उत्पन्न करना कहा गया है। अप् वही वस्तु जान पड़ती है जिस को सांख्य मत में–

प्रकृतेर्महान्

* प्रधानमेव तस्येदं शरीरम्=प्रकृति ही उस पुरुष का शरीर है। मेधातिथि टीकाकार ॥

कह कर महत्तत्त्व संज्ञा दी है। यदि हम अप् का अर्थ जल मात्र लें तो यह किसी शास्त्र वा दर्शन से अनुमोदित नहीं हो सकता ॥ ऐतरेय आरण्यक पृ० ११२ में सायणाचार्य कहते हैं कि—

"अप् शब्देन पञ्चभूतान्युपलक्ष्यन्ते," (तथा-)

"अप् शब्देन सर्वेषां देहबीजभूतानां सूक्ष्मभूतानां ग्रहणम्"

यह सायणीय वा माधवीय शङ्करदिग्विजय के सर्ग ७ श्लोक ७ की टीका टिप्पणी में कहा गया है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ यही है कि अप् शब्द से देह के बीजभूत सब सूक्ष्म भूत समझने चाहियें ॥

ऋग्वेद १० । १२१ । ७ में जो मन्त्र है कि-

आपो ह यद्‌ बृहतीर्विश्वमायन्
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इस में अप् शब्द के विशेषण-गर्भं दधानाः, अग्निं जनयन्तीः, दक्षं दधानाः, यज्ञं जनयन्तीः आये हैं सो केवल जल साधारण से गर्भ का धारण, अग्नि का उत्पादन, बल का धारण, यज्ञ का उत्पादन नहीं संभव होता, किन्तु प्रकृति की पहली विकृति में ही घट सकता है और यही कारण संस्कृत में 'अप्' शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने का भी जान पड़ता है। पीछे 'अप्' के जल तुल्य द्रव ( रक़ीक़ ) पदार्थ होने से उस का नाम जल पड़ गया और लिङ्ग वही स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होता रहा जान पड़ता है। यही मन्त्र यजुर्वेद २७ । २५ में भी आया है, जिस का भाष्य करते हुवे महीधर ने शतपथ ११ । १ । ६ । १ का प्रमाण दिया है कि-

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ।

इस में भी जगत् की प्रथम कार्यावस्था वाले तत्त्व को ही 'अप्' तत्त्व कहा जान पड़ता है ॥

इसी यजुः २७ । २५ में—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी (आपः)="व्यापिकास्तन्मात्राः" । व्यापक=जलों की सूक्ष्म मात्रा, कहा है और यजुर्वेद ३२ । ७ में पुनः इस मन्त्र का प्रतीक आने पर भी उक्त स्वामी

जी ने ( आपः ) व्याप्ताः, ( आपः ) आकाशाः अर्थ किया है, जिस से मेरे लिखे सन्ध्या पुस्तकस्थ अर्णवः समुद्रः के अर्थ=जल भरा समुद्र=आकाश अर्थ की पुष्टि होती है। इसी को आकाशतत्त्व भी कह सकते हैं॥

वास्तव में जगत् की उत्पत्ति के प्रकरण में **आपः** शब्द योगरूढ है, जो वेदों और अन्य सब शास्त्रों में जहां सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, वाहुल्य से प्रयोग में आया है, इसी से पौराणिक समुद्र से कमलनाल में ब्रह्मा की उत्पत्ति वाली कथा घड़ी गई जान पड़ती है और इसी से ईसाइयों के उत्पत्ति प्रकरण के वाक्य कि ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, इत्यादि घड़े गये अनुमान होते हैं॥८॥ वह (बीज) चमकीला सूर्य के समान अण्डाकार बना था। उस में परमात्मा ( ब्रह्मा ) सर्वलोक का पितामह आप प्रकट हुवा ( अर्थात् प्रथम उपादान कारण का एक चमकीला गोला सा बनाया )॥ ९॥

**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणःस्मृतः॥१०॥ यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसद्रात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥११॥**

अर्थ—अप् को "नाराः" कहते हैं क्योंकि नर=परमात्मा से अप् उत्पन्न हुवा है। वह नारा प्रथम स्थान है जिस का, इस कारण परमात्मा को "नारायण" कहते हैं॥१०॥ जो सम्पूर्ण जगत् का उपादान और नेत्रादि से देखने में नहीं आता तथा नित्य और सत् असत् वस्तुओं का मूलभूत प्रधान ( प्रकृति ) है, उस सहित परमात्मा लोक में "ब्रह्मा" कहता है॥ ११॥

**तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा॥१२॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिंचनिर्ममे। मध्येव्योमदिशश्चाष्टावपांस्थानंचशाश्वतम्॥१३॥**

अर्थ—उस अण्डे में परिवत्सरसंज्ञक कालपर्यन्त स्थित होकर, उस परमात्मा ने आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे के दो ( कल्पित ) टुकड़े किये॥

(कल्प के समय का १०० वां भाग परिवत्सर जानो। जिस प्रकार १००वर्ष की सामान्य आयु वाला मनुष्य एक वर्ष के लगभग गर्भ में तैयार होता है, इसी प्रकार यह जगत् भी अपने १०० वें कालभाग तक गर्भ के सी अवस्था में रहा)

॥१२॥ उसने उन दो टुकड़ों से द्युलोक और पृथिवी, वीच में आकाश और आठ दिशा तथा जल का सनातन स्थान बनाया ॥ १३ ॥

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्। मनसश्चाप्यहंकार-मभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥ महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च। विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

अर्थ–और अपने स्वभूत (मिलकियत) प्रकृति से उस (जगत्कर्त्ता) ने सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और मन से अभिमानी सामर्थ्य वाले अहंतत्त्व को उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ महान् आत्मा=महत्तत्त्व और रजः, सत्त्व, तमः और विषयों को ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां शनैः (उत्पन्न कीं) ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्। सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥१६॥यन्मूर्त्यवयवाःसूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्यमूर्तिंमनीषिणः

अर्थ–बड़े बल वाले पूर्वोक्त छः ६ (५ इन्द्रियां और १ अहङ्कार=६) के सूक्ष्म अवयवों को अपनी २ मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) में योजना करके सब प्राणियों को बनाया ॥१६॥ क्योंकि शरीर के सूक्ष्म छः अवयव (अर्थात् अहङ्कार और पांच इन्द्रियों से पांच महाभूत=६) सब कार्य्यों के हेतुरूप होकर उस परमात्मा के आश्रय में रहते हैं, इस कारण उस ज्ञान-स्वरूप परमात्मा के रचित (मूर्त्ति) जगत् को उस का शरीर कहते हैं। (यद्यपि परमात्मा निराकार=शरीररहित है। यह वेदों का सिद्धान्त है। और पूर्व छठे श्लोक में यहां मनु जी ने भी उसे [अव्यक्त] निराकार इन्द्रियाऽतीत कहा है। परन्तु कल्पना की रीति से जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है, वैसे जगत् में परमात्मा रहता है। इस एकदेशीय दृष्टान्त से इस सारे जगत् को परमात्मा का शरीर कल्पित कर लिया जाता है। वेदों में इस प्रकार के अलङ्कार की शैली बहुत आई है ॥ १७ ॥

तदाविशन्तिभूतानि महान्ति सह कर्मभिः।मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥१८॥ तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्। सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यःसंभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९॥

अर्थ-५ महाभूत और मन जो सब का कर्त्ता और (अन्यों की अपेक्षा) अविनाशी है, ये ६ सब पूर्वोक्त जगत्‌रूपी शरीर में अपने २ कामों और सूक्ष्म अवयवों सहित प्रविष्ट होते हैं ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त सात पुरुष (जगत्‌रूप पुर में रहने वाले १ अहङ्कार, २ महत्तत्त्व और आकाशादि पांच, इस प्रकार ७ सात) जो कि बड़े सामर्थ्य वाले हैं, इन की सूक्ष्म मूर्त्तिमात्राओं (पञ्चतन्मात्राओं) से अविनाशी परमात्मा नाशवान् जगत् को उत्पन्न किया करता है ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥२०॥ सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥२१॥

अर्थ-इन (पञ्चमहाभूतों) में से पूर्व २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है (आकाश का गुण शब्द परले वायु में व्याप्त हुवा। ऐसे ही वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में, जल का रस पृथ्वी में। इसी से पृथ्वी के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ५ गुण हैं) इन में जो २ जितनी संख्या वाला है, वह २ उतने २ गुण वाला कहलाता है ॥२०॥ उस (परमात्मा) ने सृष्टि के आरम्भ में उन सब के पृथक् २ नाम और कर्म और व्यवस्था वेद शब्दों से रचीं ॥२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥२२॥ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥२३॥

अर्थ-उस प्राणियों के प्रभु ने, कर्म है स्वभाव जिन का ऐसे देवों (अग्नि वायु आदित्यादि), साध्यों के सूक्ष्म समुदाय और सनातन (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ को उत्पन्न किया ॥२२॥ (उस ने) यज्ञ के अर्थ सनातन वेद, जिस के ३ भेद=ऋग्यजुः साम हैं, इन को अग्नि वायु सूर्य से (अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद) प्रकट किया ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च ॥२४॥

अर्थ-समय, (वर्ष मास पक्ष तिथि प्रहर घटिका पल कला काष्ठादि) काल-विभाग तथा नक्षत्र ग्रह नदी समुद्र पर्वत और ऊंची नीची (भूमि उत्पन्न किये) २४

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च। सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥२५॥ कर्मणां च विवेकार्थं धर्माऽधर्मौ व्यवेचयत्। द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥२६॥

अर्थ-प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुवे ने तप, वाणी, रति ( जिस से चित्त को प्रसन्नता होती है ), काम तथा क्रोध को उत्पन्न किया ॥२५॥ कर्मों के विवेक के लिये धर्म अधर्म को जताया ( और धर्माऽधर्मानुसार ) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से प्रजा का योजन किया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥२७॥ यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः। स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥२८॥

अर्थ-सूक्ष्म जो दश की आधी विनाशिनी (पांच) तन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) कहीं हैं, उन के साथ यह संम्पूर्ण सृष्टि क्रम से उत्पन्न है ॥२७॥ उस प्रभु ने सृष्टि के आदि में जिस स्वाभाविक कर्म में जिस की योजना की उसने पुनः २ जन्म २ उत्पन्न हुवा, स्वयं वही स्वाभाविक कर्म अपने आप किया २८

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥२९॥ यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये। स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥३०॥

अर्थ-हिंस्रकर्म-अहिंस्र, मृदु (दयाप्रधान) क्रूर, धर्म धृत्यादि-अधर्म, सत्य,-असत्य, जिस का जो कुछ ( पूर्व कल्प का ) स्वयं प्रविष्ट था, वह २ उस २ को सृष्टि के समय उस ने धारण कराया ॥ २९ ॥ जैसे वसन्त आदि ऋतुवें अपने अपने समय में निज २ ऋतुचिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्यादि भी अपने २ कर्मों को पूर्वकल्प के वश कर्मानुसार प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥३१॥ द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥३२॥

अर्थ-लोकों की वृद्धि के लिये मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य, पाद शूद्र (इस क्रम से सृष्टिकर्त्ता ने) उत्पन्न किये ॥ ३१ ॥ उस प्रभु ने अपने जगत् रूपी शरीर के दो भाग किये, अर्द्धभाग से पुरुष और अर्द्धभाग से स्त्री हुई, उस स्त्री में विराट् ( सारे जगत् को एक पुरुषरूपक में ) उत्पन्न किया ॥

( यहां सब जगत् को एक पुरुष माना है। जिस में अर्द्धभाग स्त्रीपने का और अर्द्ध पुरुषपने का है । मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष और पृथिव्यादि लोक इत्यादि सब में स्त्री भाव और पुरुषभाव है ) ॥ ३२ ॥

"तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥३३॥ अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितोदश ॥ ३४ ॥"

अर्थ-हे द्विजश्रेष्ठो! उसी विराट् पुरुष ने तप करके जिस को उत्पन्न किया, वह सब का उत्पन्न करने वाला मुझे जानो ॥३३॥ मैंने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से उग्र तप करके प्रजा के पति दश १० महर्षियों को प्रथम उत्पन्न किया ३४

"मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥ एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः । देवान्देवनिकायांश्च ब्रह्मर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥"

अर्थ-(उन दश महर्षियों के नाम) मरीचि १ अत्रि २ अङ्गिरस् ३ पुलस्त्य ४ पुलह ५ क्रतु ६ प्रचेतस् ७ वसिष्ठ ८ भृगु ९ और नारद १० को ॥ ३५ ॥ इन बड़े प्रकाशवाले दश प्रजापतियों ने अन्य बड़े कान्तिवाले सात मनु तथा देवतों और उन के स्थानों और ब्रह्मर्षियों को उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥

"यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान्॥३७॥ विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च। उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ३८"

अर्थ-और यक्षरक्षः पिशाच गन्धर्व अप्सरा असुर नाग सर्प सुपर्ण और पितरों के गण (समूह) को ॥३७॥ और विद्युत (जो बिजली बादलों में चमकती है), अशनि (जो बिजली लोह आदि पर गिरती है, ) मेघ=बादल, रोहित ( जो नानावर्ण दण्डाकार आकाश में दिखाई देते हैं वर्षा ऋतु में ) इन्द्र

धनुष् ( प्रसिद्ध ), उल्का ( जो रेखाकार आकाश से गिरती है ), निर्घात= अन्तरिक्ष या पृथिवी से उत्पातशब्द, केतु (पूंछवाले तारे) और नाना प्रकार के तारे ॥ ३८ ॥

"किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहंगमान्। पशून्मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥३९॥ कृमिकीटपतङ्गांश्च यूका मक्षिकमत्कुणम्। सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ४०"

अर्थ-किन्नर, वानर, मत्स्य, नानाप्रकार के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, सर्प और जिन के ऊपर नीचे दांत होते हैं ॥३९॥ कृमि, कीट, पतङ्ग, जूका, खटमल और सम्पूर्ण ( क्षुद्र जीव ) मच्छर इत्यादि काटने वाले और स्थावर नाना प्रकार के ( वृक्ष लता बल्ली इत्यादि ) ॥ ४० ॥

"एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥"
येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त ( मरीचि आदि ) महात्माओं ने मेरी आज्ञा तथा अपने तप के प्रभाव से यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम कर्म के अनुसार रचा ॥ ४१ ॥

(३३ से ४१ तक ९ श्लोक हमारी सम्मति में अवश्य पीछे से मिलाये गये हैं॥ परमात्मा ने लोक, मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण, वेद तथा अन्य सब जगत् बनाया यहां ४ जगत्कर्ता पाये जाते हैं, १ परमात्मा, २ विराट्, ३ मनु, ४ मरीच्यादि । इन में ३६ वें श्लोक में मरीच्यादि ऋषियों से अन्य ७ मनुओं का उत्पन्न होना कहा है। सब लोग ब्रह्मा का पुत्र मनु को मानते हैं, यहां विराट् का पुत्र मनु कहा है। ३३ वें श्लोक में मनु अपने को सब जगत् का बनाने वाला बताते हैं जो इसी मनु के पूर्व श्लोकों, वेदों और पुराणों तक के विरुद्ध है। तथा १ श्लोक ४० वें के आगे और भी किन्हीं पुस्तकों में पाया जाता है, सबों में नहीं। इस से जाना जाता है कि वह तौ बहुत ही थोड़े समय से मिलाया गया है, वह यह है ॥

"यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति (यथोत्पत्ति) यथाक्रमम्" ॥१॥

"इस श्लोक का (यथोत्पत्ति*) पाठ उज्जैन नगरी के ( आठवले ) नाना साहेब के रामकृत टीकायुक्त पुस्तक में पाया जाता है। यह श्लोक सितारा के समीपवर्ती यतिेश्वर स्थान के द्रविड़ शङ्करात्मज रामचन्द्र के मूलमात्र पुस्तक में भी पाया जाता है। तथा उज्जैन के ( सोरठी बावा ) रामभाऊ शर्मा के मूल पुस्तक में भी पाया जाता है। शेष २७ प्रकार के पुराणे लिखे पुस्तकों में यह श्लोक नहीं है। हम को आश्चर्य यह है कि मेधातिथि आदि ६ टीकाकारों ने न जाने क्यों इस विरोध पर दृष्टि भी नहीं की ) ॥ ४१ ॥

इस संसार में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है उसी प्रकार हम कहेंगे तथा उन के जन्म में क्रम भी ( कहेंगे ) ॥ ४२ ॥

**पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥४३॥ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः। यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥४४**

अर्थ-[ जरायु ( गर्भ की झिल्ली ) से जो उत्पन्न हो उसे जरायुज कहते हैं ] गाय आदि पशु, हरिणादि मृग, सिंह और जिन के ऊपर नीचे दांत होते हैं वे, और राक्षस ( स्वार्थी ), पिशाच (कच्चे मांस खाने वाले), मनुष्य ये सब जरायुज हैं ॥४३॥ और पक्षी ( परंद ), सर्प, नाके, कछुवे इत्यादि इसी प्रकार के भूमि पर तथा पानी में उत्पन्न होने वाले भी सब अण्डज कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

**स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्। ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्॥४५॥ उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥४६**

अर्थ-मच्छर और काटने वाले क्षुद्र जीव जुआं मक्षिका खटमल इत्यादि और जो गरमी से उत्पन्न होते हैं। और जो इन्हीं के सदृश (चींटियां इत्यादि) स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४५ ॥ जो भूमि को फाड़ कर ऊपर निकलें, उन को उद्भिज्ज कहते हैं, वे ये हैं:-स्थावर अर्थात् वृक्षादि। इन में दो प्रकार हैं, एक बीज से उत्पन्न होने वाले, दूसरे शाखा से, ( धान यव इत्यादि ) जिन का फलपाक में अन्त होजाता है और पुष्प फल जिन में अधिक होते हैं, उन को औषधि कहते हैं ( उद्भिज्ज हैं ) ॥४६॥

अपुष्पाःफलवन्तो ये ते वनस्पतयःस्मृताः । पुष्पिण.फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः॥४७॥गुच्छं गुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्यएव च ॥४८॥

अर्थ-जिन में पुष्प नहीं किन्तु फल ही होता है उन को वनस्पति कहते हैं और जो पुष्प फल से युक्त हों उन को वृक्ष कहते हैं ॥ ४७ ॥ जिस में जड़ से ही लता का मूल हो और शाखा इत्यादि न हो उस को गुच्छ कहते हैं ( जैसे मल्लिका ) गुल्म ( जैसे इक्षुप्रभृति ) तृणजाति, नाना प्रकार के बीज शाखा से उत्पन्न होने वाले और प्रतान (जिन में सूत सा निकले जैसे कद्दू खीरा इत्यादि ) और वल्ली (जैसे गुडूच्यादि,) उद्भिज्ज हैं ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः। घोरेस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥५०॥

अर्थ-ये (वृक्ष) अधिक तमोगुण और ( दुःख देने वाले अधर्म ) कर्मों से व्याप्त हैं, इन के भीतर छुपा ज्ञान रहता है, सुख दुःख से युक्त रहते हैं* ॥४९॥ इस नाशवान्, प्राणियों को भयङ्कर और सदा चल संसार में ब्रह्मा से स्थावरपर्यन्त ये गतियें कहीं ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मांच।चिन्त्यपराक्रमः। आत्मन्यन्तर्दधेभूयः कालं कालेन पीडयन्॥५१॥यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥

अर्थ-उस अचिन्त्यपराक्रम ईश्वर ने संपूर्ण (स्थावरजङ्गमरूप) सृष्टि और मुझ मनु को ऐसे उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल से नाश करते हुवे अपने में छुपा लिया है ( अर्थात् प्राणियों के कर्मवश से पुनः पुनः सृष्टि प्रलय करता है ) ॥५१॥ जब प्रजापति जागता=( सृष्टि करने की इच्छा करता ) है उस समय यह संपूर्ण जगत् चेष्टायुक्त हो जाता है और जब निवृत्ति की इच्छा होती है तब संपूर्ण लय को प्राप्त होता है (यही उस का सोना जागना है)॥५२॥

तस्मिन् स्वपिति तु स्वस्थे कर्मात्मानःशरीरिणः।स्वकर्मभ्योनि

*जिस प्रकार जलादि के न मिलनेसे मनुष्यादि मरजाते हैं वैसे वृक्षादिभी॥

वर्त्तन्ते मनश्चग्लानिमृच्छति॥५३॥ युगपत्तुप्रलीयन्तेयदातस्मिन् महात्मनि। तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥५४॥

अर्थ–जब वह व्यापारों से रहित हो शयन करता है उस समय कर्मात्मा (जो कि शरीर के साथ तक कर्म बन्धन से नहीं छूटते हैं) प्राणी अपने २ कर्म से निवृत्त हो जाते हैं और मनस्तत्त्व भी क्षीण हो जाता है॥५३॥ एक ही समय जब वे संपूर्ण ईश्वर में प्रलय को प्राप्त होते हैं उस समय (सुख दुःखादि से रहित जीवों को सुषुप्ति का सुख प्राप्त हो, इस लिये) यह परमात्मा निवृत्त और सोता कहा जाता है॥

(कभी भी अनुभव न किया हुवा प्रलय का वर्णन लोगों की समझ में कुछ न कुछ आजावे, इस लिये प्रलय को परमात्मा की रात्रि करके वर्णन किया गया है। वस्तुतः परमात्मा चेतनस्वरूप सदा जागने वाला ही है। जिस प्रकार सूर्य वनस्पतियों के उगने और सूखने का हेतु है परन्तु किसी वृक्षादि को उगाने वा सुखाने के समय सूर्य का स्वरूप नहीं बदलता किन्तु एकसा ही रहता हुवा सूर्य उगाता और सुखाता भी है। किन्तु वे वृक्षादि अपने स्वभाव, भेद और अवस्थाभेद से सूर्य का प्रभाव अपने ऊपर अनेक प्रकार का डालते हैं। यद्यपि सूर्य का प्रभाव है एक ही प्रकार का। ऐसे ही परमात्मा के सब गुण सदा एक से ही रहते हैं, परन्तु प्रकृति कभी विकृत होती है, कभी प्रकृत और इसी से जब विकृत होती है तब परमात्मा की व्यापकता का फल उत्पत्ति और जब प्रकृत होती है तब उस की व्यापकता का फल प्रलय हो जाता है)॥५४॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥५५॥ यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च। समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥५६॥

अर्थ–जब यह जीव इन्द्रियों सहित बहुत कालपर्यन्त तम (सुषुप्ति) को आश्रय करके रहता है और अपना कर्म (श्वासप्रश्वासादि) भी नहीं करता तब शरीर से पृथक् हुवा रहता है॥५५॥ जब अणुमात्रिक होकर (अर्थात् अणु हैं मात्रायें जिस की उस अणुमात्र को पुर्यष्टक कहते हैं अर्थात् शरीर प्राप्त होने की आठ सामग्री–जीव १ इन्द्रिय २ मन ३ बुद्धि ४ वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये आठ मिल कर अणुमात्र कहलाते हैं तो प्रथम अणुमात्रिक

होकर ) अचर ( वृक्षादि ) वा चर ( मनुष्यादि ) के हेतुभूत बीजों में प्रविष्ट होता है, तब उन में मिल कर शरीर को धारण करता है ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥५७॥

अर्थ—ऐसे वह अविनाशी परमात्मा शयन और जाग्रत् से इस संपूर्ण चराचर को निरन्तर उत्पन्न और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

"इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥"

"मनु जी कहते हैं कि इस ( ब्रह्मा ) ने सृष्टि के प्रथम इस धर्मशास्त्र का निर्माण करके विधिवत् मुझ को उपदेश किया, अनन्तर मैंने मरीच्यादि मुनियों को पढ़ाया ॥ ५८ ॥"

"एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥५९॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥"

अर्थ—" यह संपूर्ण शास्त्र भृगु आप लोगों को सुनावेगा, जो मुझ से संपूर्ण पढ़ा है ॥५९॥ अनन्तर महर्षि भृगु ने मनु की आज्ञा पाकर प्रसन्नचित्त होकर उन सब ऋषियों के प्रति कहा कि सुनिये ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥
स्वारोचिषश्चौत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥६२॥"

अर्थ—इस स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न हुवे छः मनु और हैं, उन बड़े पराक्रम वाले महात्माओं ने अपनी २ सृष्टि उत्पन्न की थीं ॥६१॥ ( उन के नाम) स्वारोचिष १ औत्तम २ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ और वैवस्वत ६ ये छः बड़े कान्ति वाले हैं ॥ ६२ ॥"

"स्वायंभुवाद्याःसप्तैते मनवोभूरितेजसः ।
स्वे स्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥"

अर्थ-"स्वायंभुव आदि सात मनु बड़े तेजस्वी हुवे जिन्हों ने अपने २ अधिकार में सम्पूर्ण चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करके पालन किया ।" (५८ से ६३ तक ६ श्लोक असङ्गत जान पड़ते हैं । ५८ वें में मनु का यह कहना असङ्गत है कि मैंने यह शास्त्र परमात्मा से ग्रहण किया। यदि वेदों का तात्पर्य लेकर बनाये हुवे को भी ईश्वरीय कहें तो न्यायशास्त्रादि सब ग्रन्थ परमेश्वर से ही ऋषियों ने पढ़े मानने पड़ेंगे । और मनु का ऋषियों से यहां तक अविच्छिन्न संवाद चला आता है इस लिये यह वाक्य भृगु की ओर से नहीं माना जा सकता । और ५८ वें में यह कह कर कि मैंने परमात्मा से पढ़ा और फिर मरीच्यादि को पढ़ाया । ५९ वें में आगे यह कथन है कि "सो मेरा पढ़ाया हुवा शास्त्र भृगु तुम को सुनावेगा" इस से भी मनु का ही ऋषियों से संवाद चलता रहना पाया जाता है। किन्तु ये श्लोक, बनाने वाले ने इस ग्रन्थ की अपौरुषेयता सिद्ध करने और यह सिद्ध करने को कि मैं साक्षात् मनु से पढ़ा, बनाये हैं । आगे ६१ । ६२ । ६३ श्लोकों में यह वर्णन है कि स्वायंभुव के वंश में छः और मनु हुवे थे, जिन्होंने अपने २ समय में चराऽचर जगत् बनाये और पाले । इस से यह झलकता है कि श्लोककर्ता से पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके थे । तो छः मन्वन्तर बीतने पर इस भृगु को उपदेश करने स्वायंभुव मनु कहां से आया । इन श्लोकों का यह कहना भी असत्य है कि मनु के वंश में कोई देहधारी मनु नामक मनुष्य हुवे और उन्होंने अपनी २ प्रजा बनायीं । ७१ चतुर्युगियों का १ मन्वन्तर आगे श्लोक ७९ में कहेंगे । फिर कोई राजा इतने दिनों तक कैसे वर्त्तमान रह सकता है । पुराणों में सत्ययुग में एक लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में एक सहस्र और कलि में १०० वर्ष की आयु लिखी है। यह भृगु तो उस से भी आगे बढ़ गया । मन्वन्तर किसी पुरुष का नाम भी नहीं है किन्तु जैसे सत्ययुग आदि चार युग काल की संज्ञा हैं वैसे मन्वन्तर भी आगे ७९ वें श्लोक में कहे प्रमाण ७१ चतुर्युगियों के बराबर काल की संज्ञा हैं । काल के नाम पर राजा का नाम संभव मानें तो भी एक मनु के वंश में दूसरा मनु कैसे रहे । और इतने दीर्घकाल तक एक २ पुरुष की आयु कैसे रहे । क्योंकि ६३ वें श्लोक में ( स्वे स्वेन्तरे ) कहा है कि अपने २ काल के

अन्तर (मन्वन्तर) में उस २ मनु ने अपनी २ प्रजा रची और पाली। और मन्वन्तर का वर्णन काल के विभागों (निमेष से लेकर) को बतलाते हुवे ७९ वें श्लोक में आवेगा। फिर निमेष काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, वर्ष, युग इत्यादि के पश्चात् वर्णन करने योग्य मन्वन्तर का यहां प्रथम ही वर्णन करना असङ्गत और पुनरुक्त भी है। श्लोक ५९ में (अशेषतः) (सर्वम्) (अखिलम्) यह तीन पद एक ही अर्थ में पुराणों की शैली के से व्यर्थ भी हैं) ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ-(सृष्टि का समय जानने के लिये समय की संज्ञा निरूपण करते हैं) आंख की पलक गिरने के समय का नाम निमेष है, अठारह निमेष की १ काष्ठा होती है, तीस काष्ठा की १ कला, तीस कला का १ मुहूर्त, तीस मुहूर्त का १ दिन रात होता है ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥६५॥ पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥६६॥

अर्थ-सूर्य, मनुष्य देव सम्बन्धी रात दिन का विभाग करता है, उस में मनुष्यादि के शयन को रात्रि और कर्म करने को दिन है ॥६५॥ (मनुष्य) के एक मास का १ रात दिन पितरों का होता है, उस में कृष्णपक्ष दिन कर्म करने के लिये और शुक्लपक्ष रात्रि शयन करने के लिये है ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ ब्राह्मस्य तु क्षपाऽहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ-मनुष्यों के एक वर्ष में देवतों का रात्रिदिवस होता है, फिर उनका विभाग यह है कि उस में उत्तरायण दिन है और दक्षिणायण रात्रि है॥ (पितरों की दिनरात्रि का तात्पर्य चन्द्रलोक वालों की दिनरात्रि है। उपनिषदों में पितृगतिको चन्द्रलोक की गति और दैवगति को सूर्यलोक की गति करके कहा है। सूर्य की परिक्रमा पृथिवी एक वर्ष में करती है, इस विचार से सूर्यापेक्षा उत्तरायण प्रकाश की वृद्धि से देव दिन और दक्षिणायन प्रकाश

की घटती से दैवी रात्रि माना गया है। चन्द्रलोक पृथिवी की परिक्रमा एक मास में करता है इस से चन्द्र=पितृलोक की १५ दिन की १ रात्रि और १५ दिन का १ दिन कहा है ) ॥६७॥ अब ब्राह्मरात्रि दिवस और ( कृत त्रेता द्वापर कलि ) प्रत्येक युगों का भी परिमाण क्रम से सुनो ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥६९॥इतरेषु ससंध्येषुससंध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

अर्थ-( मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ दैव वर्ष, ऐसे ) चार हज़ार वर्ष को कृत युग कहते हैं और उसकी, सन्ध्या ( युग का पूर्वकाल ) चार सौ वर्ष का होता है और सन्ध्यांश ( युगका परकाल ) भी चार सौ वर्ष का होता है। ( सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलकर कृतयुग ४८०० दैव वर्ष का होता है ) ॥६९॥ अन्य तीन ( त्रेता द्वापर कलि ) की सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है वह क्रम से सहस्र में की और शत में की एक२ संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है ( जैसे कृतयुग ४८००=१७२८००० त्रेता ३६००=१२९६००० द्वापर २४००=८६४००० कलि १२००=४३२००० चारों १२०००=४४२०००० वर्ष १ चतुर्युगी ) ॥७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥७१॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ७२ ॥

अर्थ-यह जो प्रथम गिनाये, इन्हीं चार युगों को बारह हज़ार १२००० गुणा करके १ दैव युग कहाता है ॥७१॥ दैव सहस्र युगों का ब्रह्मा का एक दिन और सहस्र युगों की रात्रि (अर्थात् दैव दो सहस्रयुग होने से ब्रह्मा का रात्रि दिन होता है। दैव १२००० वर्ष का एक युग, इसे १००० गुणा करने से १२०००००० दैववर्ष का १ ब्राह्मदिन हुवा। इसे ३६० गुणा करने से ४३२०००००० चार अर्ब बत्तीस क्रोड़ मानुष वर्षों का ब्राह्म दिन और इतनी ही रात्रि हुई ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥७३॥ तस्यसोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुद्ध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

अर्थ-सहस्र युग से अन्त अर्थात् समाप्ति है जिस की उसे ब्रह्मा का पुण्य दिवस और उतनी ही रात्रिको वे अहोरात्रज्ञ जानते हैं ॥७३॥ पूर्वोक्त अहोरात्र के अन्त में वह (ब्रह्मा) सोते से जाग्रत् होता है और जागकर संकल्प विकल्पात्मक मन को उत्पन्न करता है ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥ आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः। बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥७६॥

अर्थ-(परमात्मा की) रचने की इच्छासे प्रेरित किया हुवा मन सृष्टि को विकृत करता है, मनस्तत्व से आकाश उत्पन्न होता है, उसके गुणको शब्द कहते हैं ॥ ७५ ॥ आकाश के विकार से सब गन्ध को ले चलने वाला पवित्र बलवान् वायु उत्पन्न होता है, वह स्पर्श गुणवाला माना है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्। ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। अद्भ्योगन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ७८

अर्थ-वायु के विकार से तम का नाश करने वाला प्रकाशित चमकीला अग्नि उत्पन्न होता है, उसका गुण रूप है ॥ ७७ ॥ अग्नि के विकार से जल उत्पन्न होता है जिसका गुण रस है और जल से पृथिवी, जिसका गुण गन्ध है। प्रथम से सृष्टि का यह क्रम है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अर्थ-पूर्व जो बारह सहस्र वर्ष का दैव युग कहा था, ऐसे एकहत्तर युग का एक मन्वन्तर होता है ॥७९॥ मन्वन्तर असंख्य हैं। सृष्टि और संहार=प्रलय भी असंख्य हैं। इन को बारबार प्रजापति क्रीडावत् (बिना श्रम) ही किया करता है ॥ ८ ॥

"चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे। नाधर्मेणागमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रतिवर्त्तते ॥ ८१ ॥ इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्वव

रोपितः । चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥"

"अर्थ–सत्ययुग में धर्म पूर्ण चतुष्पाद् और सत्य रहता है क्योंकि तब अधर्म से मनुष्यों को धन प्राप्त नहीं होता ॥ ८१ ॥ इतर (तीन=त्रेता द्वापर कलि) में वेद से प्रतिपादित धर्म क्रमशः चोरी, झूठ, माया; इन से धर्म चौथाई २ क्षीण होता है ॥ ८२ ॥"

"अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः । कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥ वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥८४॥"

"अर्थ–सत्ययुग में सब रोगरहित होते हैं और संपूर्ण मनोरथ पूरे होते हैं । आयु ४०० वर्ष की होती है । आगे त्रेतादि में इन की चौथाई २ आयु घटती है ॥ ८३ ॥ मनुष्यों की वेदानुकूल आयु, कर्मों के फल और शरीरधारियों के प्रभाव, सब युगानुकूल फलते हैं ॥ ८४ ॥

"अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे । अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते । द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥"

"अर्थ–युगों की हीनता के अनुसार मनुष्यों के धर्म सत्ययुग के और हैं, त्रेता के दूसरे हैं, द्वापर के अन्य और कलियुग के और ही है ॥ ८५ ॥ कृतयुग में तप मुख्य धर्म है, त्रेता में ज्ञान प्रधान है, द्वापर में यज्ञ कहते हैं और कलि में एक दान ही प्रधान है" ॥

(८१ से ८६ तक छः श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । क्योंकि मनु सा धर्मात्मा सत्यवादी पुरुष ऐसा असत्य लिखे, सो संभव नहीं प्रतीत होता। जैसा कि ८१ श्लोक में कहा है कि सत्ययुग में धर्म पूरा होता है, अधर्म की मनुष्यों में प्रवृत्ति नहीं होती । यह बात प्रथम तो "काल क्या वस्तु है" इस बात पर विचार करने से ज्ञात हो सकती है:–

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥
वैशेषिकदर्शन अ० २ आ० २

पहले, पीछे, एक साथ और शीघ्र; ये काल के चिन्ह हैं । इस में धर्म वा अधर्म में प्रवृत्त करना काल का काम नहीं। तथा यह इतिहासप्रमाण के

भी विरुद्ध है कि सत्ययुग में अधर्म न हुवा हो। इतिहासों के विचार से ज्ञात होता है कि सब युगों में पापी पुण्यात्मा देव असुर इत्यादि होते रहे हैं। और यह लेख मनु के ही पूर्व लेख के प्रतिकूल है । मनु में पूर्व श्लोक २६ में लिखा है कि प्रजा प्रथम धर्माऽधर्म सुख दुःख से युक्त हुई । तो सृष्टि के आरम्भ में पहले सत्ययुग होता है उस में अधर्म और दुःख कैसे उत्पन्न हुवे। श्लोक २९ में हिंसक अहिंसक, मृदु क्रूर, धर्माऽधर्म, सत्याऽसत्य थे, तो सत्ययुग में क्यों थे ? इत्यादि प्रकार से और इस कारण से भी कि इन युगों की व्याख्या श्लोक ६९। ७० में हो चुकी, मनुजी युग में धर्माऽधर्म का प्रभाव बताते तो उसी के आगे लिखते । अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । ८२ वें में त्रेता में चोरी, द्वापर में असत्य और कलि में छल होना बताना भी पूर्वोक्त कारणों से माननीय नहीं । ८३ में सत्ययुग में सब का नीरोग रहना बताना भी उक्त कारणों से अग्राह्य है। ८४। ८५ और ८६ में जो काल के प्रभाव लिखे हैं, वे भी उक्त प्रकार से शास्त्रों, इतिहासों और मनुवचनों से भी विरुद्ध हैं। श्लोक ८० का ८७ के साथ संबन्ध भी ऐसा ठीक मिलता है, जिस से बीच के ६ श्लोक अनावश्यक जान पड़ते हैं ) ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः । मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥८७॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अर्थ-उस महातेजस्वी ने इस सब सृष्टि की रक्षार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के कर्मों को पृथक् २ बताया ॥८७॥ ब्राह्मणों के षट् कर्म-पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना बताये हैं ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥८९॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ-प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में न फंसना; ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ॥ ८९ ॥ पशुवों का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती, ये वैश्य के हैं ॥९०॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां

शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥ ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः । तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

अर्थ-प्रभु ने शूद्रों का एक ही कर्म बताया कि इन ( तीनों ) वर्णों की निन्दारहित ( जिसमें कोई निन्दा नहीं ) सेवा करनी ॥९१॥ पुरुष नाभि के ऊपर पवित्रतर कहा है, इस से परमात्मा ने उसका मुख उस से भी पवित्र कहा है ॥९२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥९३॥ तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत् । हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्याऽस्य च गुप्तये ९४

अर्थ-उत्तमाङ्गोद्भव (मुखतुल्य होने) और ज्येष्ठता और वेद के धारण कराने से ब्राह्मण संपूर्ण जगत् का धर्म से प्रभु है ॥९३॥ क्योंकि ब्राह्मण को परमात्मा ने देवता और पितरों के हव्य कव्य पहुंचाने और सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये ( ज्ञानमय ) तप करके ( स्वस्वामिभाव से ) अपने मुख से उत्पन्न किया है ॥ (देवता-वायु आदि और पितर-चन्द्रकिरणादि को हव्य कव्य नामक पदार्थ अग्नि में होमे जाते हैं, उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ कराना ब्राह्मण का कर्म बताया जा चुका है । इस लिये हव्य कव्य पहुंचाने का काम ब्राह्मणों का हुवा । "परमात्मा ने अपने मुख से रचा" इस का तात्पर्य श्लोक ८८ के अनुसार यही है कि पढ़ना मुख से, पढ़ाना मुख से, यज्ञ करने कराने में वेदपाठ मुख से, दान और आदान का वाक्य उच्चारण करना, प्रायः ये सब काम मुख से ब्राह्मण करता है। परमात्मा ने वेद द्वारा जो धर्मोपदेश किया है सो भी ब्राह्मण ऋषियों के मुख द्वारा किया है। यथार्थ में परमात्मा तो [ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । श्वेता० इत्यादि प्रमाणों से] मुखादिरहित ही है ) ॥ ९४ ॥

यस्याऽऽस्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः । कव्यानि चैव पितरः किंभूतमधिकं ततः ९५ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ९६

अर्थ-हवन में जिस के मुख से (मुखोच्चारित मन्त्र के हाथ) त्रिदिवौकस् (पृथिवी अन्तरिक्ष दिव् के रहने वाले निरुक्तोक्त वायु आदि) देवता हव्यों और पितर कव्यों को पाते हैं, उस से अधिक कौन प्राणी होगा ॥९५॥ भूतों

( स्थावर जङ्गमों ) में प्राणी ( कीटादि ) श्रेष्ठ हैं, इन में भी बुद्धिजीवी (पश्वादि ), इन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण ॥९६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसोविद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती। स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥९८॥

अर्थ-ब्राह्मणों में अधिक विद्यायुक्त श्रेष्ठ हैं,विद्वानों में जिन की श्रौतोक्त कर्मों के विषय कर्त्तव्यबुद्धि हो, और उन से करने वाले और करने वालों से ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥ ९७ ॥ ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वत मूर्त्ति है, क्योंकि वह ब्राह्मण धर्मार्थ उत्पन्न हुवा है। मोक्ष का अधिकारी है ॥

( ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज कहाते हैं अर्थात् इन का जन्म एकबार माता के गर्भ से, दूसरा जन्म गायत्री माता और गुरु पिता से होता है। यह द्विज कहाने का अधिकारी यथार्थ में दूसरे जन्म से होता है। इस लिये यहां ब्राह्मण की उत्पत्ति का तात्पर्य दूसरे विद्यासम्बन्धी जन्म से है ) ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणोजायमानोहि पृथिव्यामधिजायते।ईश्वरःसर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥९९॥ सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्। श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥१००॥

अर्थ-ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथिवी में श्रेष्ठ होता है, क्योंकि संपूर्ण जीवों के धर्मरूपी ख़ज़ाने की रक्षार्थ वह प्रभु है ( अर्थात् धर्म का उपदेश ब्राह्मणद्वारा ही होता है )॥९९॥ जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं। ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण संपूर्ण को ग्रहण करने योग्य है। ( यह ब्राह्मण की प्रशंसा है कि संपूर्ण को ब्राह्मण अपने सा जाने किन्तु ब्राह्मण यह नहीं समझे कि पराये धन को चोरी आदि से ग्रहण करलूं। क्योंकि ब्राह्मणों को भी चोरी का दण्ड आगे लिखा है ) ॥१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥१०१॥
"तस्य कर्म विवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायंभुवोमनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥१०२॥"

अर्थ-( जोकि ) ब्राह्मण ( दूसरे का भी दिया अन्न ) भोजन करे या (दूसरे का दिया वस्त्र) पहिने या ( दूसरे का दिया लेकर और को ) देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है। अन्य लोग जो भोजनादि करते हैं वे केवल ब्राह्मण की कृपा से ॥ ( तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के ६ कर्मों में व्यापारादि करना, धन कमाना नहीं कहा, केवल दान और यज्ञ कराने आदि कामों में दक्षिणा लेना ही उस की जीविका है। इस पर कोई कदाचित् यह समझें कि ब्राह्मण "सेंत मेंत खावा" (मुफ़्तख़ोरे) रहे, सो नहीं किन्तु ब्राह्मण धर्मानुसार सब जगत् को चला कर जगत् का उपकार करता है और इस से अर्थ (धनादि) प्राप्त होते हैं तो एक प्रकार से धर्मोपदेष्टा होने से सब जगत् की कमाई का ब्राह्मण प्रधान सहायक होने से किसी को यह न समझना चाहिये कि ब्राह्मण व्यर्थभोजी (मुफ़्तख़ोर) है, किन्तु सब को ब्राह्मण के मुख्य कर्म धर्मोपदेश से जीविका है, यही उस की कृपा जानो, परन्तु यह प्रशंसा जन्ममात्र के ब्राह्मण ब्रुवों की नहीं । ऐसा यथार्थ ब्राह्मण बड़े तप से कभी कठिन से कोई हो पाता है ) ॥१०१॥ "उस ब्राह्मण के और शेष क्षत्रियादि के भी कर्म क्रमशः जानने के लिये बुद्धिमान् स्वायंभुव मनु ने यह धर्मशास्त्र बनाया ॥१०२॥"

"विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः। शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥ इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः । मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥१०४॥"

अर्थ-विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना और शिष्यों को पढ़ाना योग्य है, परन्तु अन्य किसी को नहीं ॥१०३॥ इस शास्त्र को पढ़ा, इस शास्त्र की आज्ञानुसार कर्म करने वाला ब्राह्मण मन वाणी और देह से उत्पन्न होने वाले पापों से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥

"पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्। पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोपि सोऽर्हति॥१०५॥इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्। इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् १०६"

अर्थ-" अपवित्र पांति को ( इस धर्मशास्त्र का जानने वाला ) पवित्र कर देता है और अपने वंश के सात पिता प्रपिता आदि और सात पुत्रादि क्रम से इन सब १४ को पवित्र कर देता है तथा इस सम्पूर्ण पृथिवी को भी

वह (लेने) योग्य है ॥१०५॥ यह शास्त्र कल्याण देने वाला और बुद्धि का बढ़ाने वाला तथा यश का देने वाला और आयु का बढ़ाने वाला है और मोक्ष का भी सहायक है" ॥ १०६ ॥

"अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥"

अर्थ-" इस (स्मृति) में सम्पूर्ण धर्म कहा है और कर्मों के गुण दोष तथा चारों वर्णों का शाश्वत (परम्परा से होता आया) आचार भी कथन किया है" ॥१०७॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः १०८॥

अर्थ-श्रुति (वेद) और स्मृति में कहा हुवा आचार परम धर्म है। इस लिये अपना कल्याण चाहने वाला द्विज सदा आचारयुक्त रहे ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥ एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अर्थ-आचार से छुटा हुवा विप्र वेद के फल को नहीं पाता और जो आचार से युक्त है, वह सम्पूर्ण के फल का भागी होगा ॥ १०९ ॥ मुनियों ने आचार से धर्म की प्राप्ति इस प्रकार से देख कर धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया था ॥ ११० ॥

"जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च। व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥१११॥ दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्। महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥११२॥"

अर्थ-जगत् की उत्पत्ति (प्रथम अध्याय में कही है) और संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रतधारण और स्नान की परमविधि ॥ १११ ॥ तथा गुरु के अभिवादन का प्रकार और उपासनादि (दूसरे अध्याय में लिखे हैं) गुरु के पास से विद्याभ्यास कर स्त्रीगमन और [ब्राह्मादि ८] विवाहों का लक्षण, महायज्ञविधि और श्राद्धकल्प जो * अनादि समय से चला आता है (तीसरे अध्याय का विषय) है ॥ (श्राद्ध को ही * अनादि

काल से सनातन करके लिखा है । इस से सूची बनाने वाले को यह शङ्का झलकती है कि कोई इसे नवीन न समझे ॥ ११२ ॥

"वृत्तीनांलक्षणंचैव स्नातकस्यव्रतानिच। भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च॥११३॥स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यास मेव च। राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥"

"अर्थ-वृत्तियों के लक्षण और स्नातक के व्रत (चतुर्थ अध्याय में) भक्ष्य अभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि ॥११३॥ स्त्रियों का धर्मोपाय (पांचवें अध्याय में) वानप्रस्थ आदि तपस्वियों का धर्म और मोक्ष तथा संन्यासधर्म (षष्ठाध्याय में) और राजा का सम्पूर्ण धर्म (सप्तमाध्याय में) और कार्यों का निर्णय (मुक़द्दमों की छानबीन) ॥ ११४ ॥

"साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि। विभागधर्मं द्यूतञ्च कण्टकानां च शोधनम्॥११५॥वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानांच सम्भवम्। आपद्धर्मञ्च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा॥११६॥"

"अर्थ-साक्षिप्रश्न [गवाहों से सवाल] (अष्टमाध्याय में) स्त्री पुरुष के धर्म और विभाग [हिस्सा] तथा जुवारी चोर इत्यादि का शोधन ॥११५॥ वैश्य शूद्रों के धर्म का अनुष्ठान प्रकार (नवमें अध्याय में) वर्णसङ्करों की उत्पत्ति और वर्णों का आपद्धर्म (दशमाध्याय में) और प्रायश्चित्तविधि (एकादश में)॥११६॥

"संसारगमनंचैवत्रिविधं कर्मसम्भवम्। निःश्रेयसं कर्मणांच गुण दोषपरीक्षणम् ॥११७॥ देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्व-तान्। पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥११८॥"

"अर्थ-देहान्तरप्राप्ति जो तीन प्रकार के कर्म (उत्तम मध्यम अधम) से होती है और मोक्ष का स्वरूप और कर्मों के गुणदोष की परीक्षा (द्वादश में) ॥११७॥ देशधर्म (जो प्रचार जिस देश में बहुत काल से चला आता है) और जो धर्म जाति में नियत है और जो कुल परम्परा से चला आता है और पाषण्ड (वेद शास्त्र में निषिद्ध कर्म) और गणधर्म इस शास्त्र में * मनु ने कहे हैं ॥११८॥"

* इस से स्पष्ट है कि ये श्लोक अन्य ने संपादित करके कभी सूचीपत्र बनाया है ॥

" यथेदमुक्तवान्शास्त्रं पुरा पृष्टोमनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥११९॥"

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

"अर्थ-जिस प्रकार मनु जी से पूर्व मैंने पूछा तब यह शास्त्र उन्होंने उपदेश किया । उसी प्रकार अब आप मुझ से सुनिये ॥"

(१०२ वां श्लोक इस पुस्तक के सम्पादक का वचन है । मनु का नहीं । यह श्लोक ही से स्पष्ट पाया जाता है ॥ १०३ में इस ग्रन्थ पर ब्राह्मणों का अधिकार जमाना पक्षपात है । अन्यत्र यह कहीं नहीं लिखा कि स्मृति पर ब्राह्मणों का ही अधिकार है। जो ग्रन्थ शूद्र को वेदाध्ययन का निषेध भी लिखते हैं वे भी शूद्र को स्मृति पढ़ने का निषेध नहीं करते और द्विज मात्र को तो वेद के अधिकार में भी कोई नवीन वा प्राचीन ग्रन्थ निषेध नहीं करता, फिर यह पक्षपात नहीं तो क्या है ॥ १०४ में इस ग्रन्थ के पढ़ने से पापों का नाश लिखा है और कर्मदोष न लगना कहा है, यह भी ग्रन्थ की अत्युक्ति करके प्रशंसा है ॥ १०५, १०६ में भी यही बात है ॥ १०७ वें श्लोक में इस ग्रन्थ के संपादक ने इस ग्रन्थ का सूचीपत्र आरम्भ किया परन्तु १०८ से ११० तक ३ श्लोकों में धर्मशास्त्र की आज्ञा है और १११ से फिर सूचीपत्र है जो ११८ तक चला गया है ॥ ११९ में पुस्तक का संपादक कहता है कि मैंने मनु से जैसे सुना वैसे मैं आप को सुनाता हूं । सो सम्पादक का मनु के समकाल होना तो असम्भावित है । हां मनु के धर्मशास्त्र से जो कि पूर्व सूत्ररूप में था इस भद्रपुरुष ने उस मूल से आशय लिया हो और यही मनु से सुनना समझा जाय तो दूसरी बात है ) ॥११९॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते मनुस्मृतिभाषानुवादे
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ओ३म्

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाभ्यनुज्ञातो योधर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥ कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्योहि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

अर्थ–वेद के जानने वाले और रागद्वेषादि से रहित महात्माओं ने जिस धर्म का सेवन किया और हृदय से जिस को अच्छे प्रकार जाना, उस धर्म को सुनो ॥१॥ न तो कामात्मा होना और न केवल निष्काम होना ही अच्छा है क्योंकि वेद की प्राप्ति और वेदोक्त कर्मानुष्ठान कामना करने के ही योग्य हैं ॥२॥

संकल्पमूलः कामोवै यज्ञाः संकल्पसंभवाः। व्रतानियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥ अकामस्य क्रियाकाचिद्दृश्यतेनेह कर्हिचित। यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अर्थ–(इस कर्म से यह इष्ट फल प्राप्त होगा, इस को संकल्प कहते हैं। फिर जब पूरा विश्वास होता है तब ) संकल्प से उस के करने की इच्छा होती है। यज्ञादि सब सङ्कल्प ही से होते हैं और व्रत, नियम, धर्म; ये सब सङ्कल्प ही से होते हैं (अर्थात् संकल्प विना कुछ भी नहीं होता) ॥३॥ लोक में भी कोई क्रिया (भोजन गमनादि) विना इच्छा कभीं देखने में नहीं आती इस कारण जो कुछ कर्म पुरुष करता है, वह संपूर्ण काम ही से करता है ॥४॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्। यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ६

अर्थ–उन शास्त्रोक्त कर्मों में अच्छे प्रकार आचरण करने वाला अमरलोकता अर्थात् अविनाशी भाव को प्राप्त होता है और जो २ यहां संकल्प करता है वह २ संपूर्ण पदार्थ भी प्राप्त होते हैं ॥५॥ संपूर्ण वेद धर्ममूल है और वेद के जानने

वालों की स्मृति तथा शील भी धर्ममूल है। इसी प्रकार साधुजनों का आचार और आत्मा का सन्तोष भी धर्ममूल है ॥ ६ ॥

"यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मोमनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितोवेदे सर्वज्ञानमयोहि सः" ॥७॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

अर्थ-"जिस वर्ण के लिये जो धर्म मनु ने कहा है, वह संपूर्ण वेद में कहा है क्योंकि वेद सब विद्याओं का भण्डार है ॥ अर्थात् संपूर्ण वेद को जान कर यह स्मृति बनाई, इस से सब स्मृतियों से इस की उत्कृष्टता दिखाई है" ॥ इस ७ वें श्लोक में ग्रन्थके सम्पादकने मनु की प्रशंसा और वेदानुकूलता पुष्ट की है) ॥ ७ ॥

(ग्रन्थकार कहता है कि) विद्वान् को चाहिये कि इस सब धर्मशास्त्र को ज्ञान की आंख से वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म में श्रद्धा करे ॥८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥ श्रुतिस्तु वेदोविज्ञेयोधर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मोहि निर्बभौ ॥१०॥

अर्थ-वेद और स्मृतियों में कहे धर्म को जो मनुष्य करता है, उस की यहां कीर्ति होती है और परलोक में अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है ॥९॥ श्रुति वेद है और (मन्वादिकों का) धर्मशास्त्र स्मृति है। ये दोनों संपूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं, क्योंकि इन से धर्म का प्रकाश हुवा है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिकोवेदनिन्दकः ॥११॥ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

अर्थ-जो द्विज कुतर्कादि से इन (धर्ममूलों) का अपमान करे, वह साधुवों को निकाल देने योग्य है क्योंकि वेदनिन्दक नास्तिक है ॥११॥ वेद=श्रुति, स्मृति (मन्वादिकों की), सदाचार शीलादि और अपना सन्तोष; यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण (मुनि लोग) कहते हैं ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मंजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥ श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

अर्थ-अर्थ और काम में जो पुरुष नहीं फंसे हैं उन को धर्मोपदेश का विधान है और जो पुरुष धर्म जानने की इच्छा रखते हैं उन को परमप्रमाण वेद है ॥१३॥ श्रुतियों के जहां दो प्रकार हों ( अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन हो) वहां वे दोनों (तुल्य बल के कारण) ही धर्म हैं, दोनों विकल्प से अनुष्ठेय हैं। यह ऋषियों ने कहा है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः१५निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः। तस्यशास्त्रेधिकारोस्मिन्ज्ञेयोनान्यस्यकस्यचित्

अर्थ-( पूर्व जो कहा कि श्रुतिभेद दोनों माननीय हैं, उस को यहां दिखाते हैं, जैसे-) उदित समय में अर्थात् सूर्य के प्रादुर्भाव के समय में, अनुदित उस के विरुद्ध और समयाध्युषित अर्थात् सूर्यनक्षत्ररहित काल में, सर्वथा यज्ञ (होम) होता है। यह वैदिकी श्रुति है अर्थात् वेदमूलक वाक्य सुनते हैं ॥ ( श्लोक १५ के आगे ३० प्रकार के पुस्तकों में से ३ में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:-

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ १ ॥
धर्मव्यतिक्रमोदृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ २ ॥ ]

हमारा तात्पर्य इन के लिखने से यह है कि लोग यह जान लेवें कि मनुस्मृति में पाठों की अधिकता अवश्य होती आई है ) ॥१५॥ गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त जिस कर्म की वेदोक्त मन्त्रों ने विधि कही हैं उस कर्म का अधिकार ( प्रकरण ) इस ( मानवधर्मशास्त्र ) में जानिये, अन्य किसी का नहीं ॥ १६ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥१७॥ तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्य

क्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

अर्थ–सरस्वती और दृषद्वती इन देवनदियों के मध्य में जो देश है, वह देवतों से बनाया गया है, उस को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥१७॥ उस देश में परंपरा से प्राप्त जो वर्णों (अर्थात ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र) और वर्णसङ्करों का आचार है, उस को सदाचार (सदा का आचार) कहते हैं ॥ ( १८ वें के आगे एक श्लोक मेधातिथि के भाष्य में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं। वह यह है–

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दिष्टकारणे ।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसंभवश्रुतिः ॥ १ ॥]

इस से हमारा सन्देह पुष्ट होता है कि मनु में कुछ पीछे की मिलावट अवश्य है, और वेदविरुद्ध स्मृतियों का होना भी इस से पाया जाता है) ॥१८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥१९॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अर्थ–कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश, पञ्चाल और शूरसैनक, यह ब्रह्मर्षि देश है जो ब्रह्मावर्त्त से समीप है ॥ १९ ॥ इन ( कुरुक्षेत्रादि ) देशों में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने २ कामों की शिक्षा पावें ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ–हिमवान् और विन्ध्याचल के बीच में जो सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में देश है उस को मध्यदेश कहते हैं ॥ २१ ॥ पूर्व समुद्र से पश्चिम के समुद्र तक और हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच में जो देश है, उस को विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥२३॥ एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः। शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥२४॥

अर्थ—कृष्णसार मृग जहां स्वभाव से विचरता है (अर्थात् बलात्कार से न छोड़ा हो) वह यज्ञिय देश है (अर्थात् यज्ञ करने योग्य देश है) इस से परे जो देश है, वह म्लेच्छ देश है॥२३॥ इस देश को द्विजाति लोग प्रयत्न के साथ आश्रय करें और शूद्र चाहे किसी देश में वृत्तिपीडित हुवा निवास करे॥

(यद्यपि धर्माऽनुष्ठान मनुष्य के अधीन है, देश के अधीन नहीं, तथापि जिस देश में धर्मात्मा लोग अधिक रहते हैं, वहां धर्माऽनुष्ठान में बाधा कम होती है और धर्मानुष्ठान के साधन सुगमता से मिलते हैं; इस लिये देश का धर्म से संबन्ध होजाता है। पूर्वजों ने स्वाभाविक (नेचुरल) रीति पर भी इस देश को अच्छा और यज्ञादि धर्मानुष्ठान के लिये उत्तम जान कर यहां ही रहना स्वीकार किया था। इसी से मनु ने १७ से २३ श्लोक तक धर्म के उपयोगी देश का वर्णन किया है और २३ वें में तो यज्ञयोग्य देश की पहचान ही बतलाई है कि "कृष्णसार" मृग, जिस का चर्म ऊपर से काला होता है, जिस देश में स्वभाव से उत्पन्न हो और विचरे, उस देश को जानों कि यह यज्ञयोग्य देश है, इस में वे बूंटी उत्पन्न होती हैं जिन से यज्ञानुष्ठान होता है)॥२४॥

**एषा धर्मस्य वोयोनिः समासेन प्रकीर्तिता। संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत॥२५॥ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥२६**

अर्थ—यह धर्म की योनि (अर्थात् जानने का कारण) और इस सब (जगत्) की उत्पत्ति तुम से संक्षेप से कही, अब वर्णधर्मों को सुनो॥२५॥ वैदिक जो पुण्य कर्म हैं उन से ब्राह्मणादि तीन वर्णों का (गर्भाधानादि) शरीरसंस्कार, जो दोनों लोक में पवित्र करने वाला है, करना चाहिये॥२६॥

**गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥२७॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥२८॥**

अर्थ—गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चूड़ाकर्म और मौञ्जीबन्धन; इन में के होमों से द्विजों के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है॥२७॥ वेदत्रयी का पढ़ना, व्रत, होम, इज्याकर्म, पुत्रोत्पादनादि तथा पञ्च महायज्ञों और यज्ञों से यह तनु ब्राह्मी होती है॥ (होम=पर्वादि समय का। इज्या=अग्निष्टोमादि। यज्ञ=पौर्णमासादि। व्रत=सत्यभाषणादि)॥२८॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥ नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥ मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ-नाभि छेदने के पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार करे और गृह्योक्त वेदमन्त्रों से सुवर्ण मधु घृत का प्राशन करावे (चटावे) ॥२९॥ दशवें या बारहवें दिन नामकरण करे अथवा जब शुद्ध तिथि मुहूर्त ( दो घड़ी ) नक्षत्र हो ॥ (इस का तात्पर्य साफ़ दिन और समय से है, जिस में मेघाच्छन्नादि दुर्दिन न हो) ॥३०॥ सुखवाचक शब्दयुक्त ब्राह्मण का नाम हो, क्षत्रिय का बलयुक्त, वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का दास्ययुक्त नाम होवे ॥३१॥ ब्राह्मण के नाम शर्मा, क्षत्रिय के वर्मादि, वैश्य के भूतियुक्त और शूद्र के दासयुक्त रक्खे ॥३२॥

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥३३॥ चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

अर्थ-और स्त्रियों का नाम सुख से उच्चारण करने योग्य हो, क्रूर न हो, जिस के अक्षर स्पष्ट होवें और प्रीति का देने वाला और मङ्गलवाची, दीर्घ स्वर जिस के अन्त में हो और आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त हो, ऐसा रक्खे (जैसे यशोदा देवी इत्यादि) ॥ ३३ ॥ चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर निकालने का संस्कार और छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करावे वा जिस प्रकार कुलाचार हो उस समय करे ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥३५॥ गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का चूड़ाकर्म धर्मानुसार प्रथम वा तीसरे वर्ष में वेद की आज्ञा से करना चाहिये ॥३५॥ गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का और गर्भ से एकादश में क्षत्रिय का और द्वादशमें वैश्य का उपनयन करे ॥३६॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥ आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३८॥

अर्थ-वेदाध्ययन के अर्थ ज्ञानादि से बढ़ा तेज ब्रह्मवर्चस कहाता है, उस की इच्छा करने वाले विप्र का पांचवें वर्ष में उपनयन करे और बलार्थी क्षत्रियका छठे वर्ष और कृष्यादिकर्म की इच्छावाले वैश्य का ८वें में उपनयन करे ॥३७॥ सोलह वर्षपर्यन्त ब्राह्मण की सावित्री नहीं जाती और क्षत्रिय की बाईस वर्ष पर्यन्त, वैश्यकी२४वर्ष पर्यन्त (अर्थात् उपनयन कालकी यह परमावधि है) ३८

अतऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते तथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्याभवन्त्यार्यविगर्हिताः॥३९॥नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपिहि कर्हिचित्। ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥४०॥

अर्थ-इस के उपरान्त ये तीनों सावित्री पतित होजाते हैं, अपने अपने कालमें उपनयन से रहित होनेसे इनकी संज्ञा 'व्रात्य' होती है और शिष्टों से निन्दित होते हैं ॥ ३९ ॥ इन अपवित्र व्रात्यों के साथ जिन का प्रायश्चित्तादि विधिपूर्वक नहीं हुवा, आपत्काल में भी ब्राह्मणादि विद्या वा योनि का सम्बन्ध न करे ॥ ४० ॥

कार्ष्णरौरववास्तानिचर्माणिब्रह्मचारिणः।वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥ मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी४२

अर्थ-कृष्णमृग, रुरुमृग, अज, इन के चर्मोंका वस्त्र ३ वर्ण के ब्रह्मचारी क्रमशः रक्खें और सन, क्षौम (अलसी) तथा ऊन का भी ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण की मेखला तिलड़ी और चिकनी सुखस्पर्शवाली मूञ्ज की और क्षत्रिय की मूर्वा तृण से धनुष् के गुण सी और वैश्य की सन के डोरे की बनावे ॥४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिःपञ्चभिरेववा ॥४३॥ कार्पासमुपवीतंस्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् । शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४॥

अर्थ-मूञ्ज के न मिलनेपर कुश, अश्मन्तक, बल्वज तृणोंकी क्रमसे तीनों वर्णोंकी मेखला तीन लर वाली, १ या, ३ या ५ ग्रन्थि लगाकर बनावे ॥ ४३ ॥ कपास का जनेऊ ब्राह्मण का ऊपर को बटा हुवा और त्रिगुण (३ लर) होवे। और सन के डोरे का क्षत्रिय का और वैश्य का भेड़ की ऊन का होवे ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैप्पलौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्तिधर्मतः॥४५॥ केशान्तिकोब्राह्मणस्य दण्डःकार्यः प्रमाणतः । ललाटसंमितोराज्ञःस्यात्तुनासान्तिकोविशः ॥४६॥

अर्थ-ब्राह्मण बेल वा पलाश के दण्ड, क्षत्रिय बट वा खदिर के तथा वैश्य पीपल वा गूलर के दण्ड, क्रमसे सब धर्मानुसार बनावें ॥ ( इस श्लोक में नन्दन टीकाकार ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों के प्रमाण देकर बिल्वादि के साथ ब्राह्मणादि की समानता दिखाई हैं। वह लिखता है कि १-असौ वा आदित्यो यतोजायत ततोबिल्व उदतिष्ठत स योन्यैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे इति श्रुतेः= अर्थात् जिस कारण की प्रधानता से सूर्य बना है, उसी से बिल्व का वृक्ष भी उपजा है, इस लिये वह जन्म से ही ब्रह्मवर्चस का प्रभाव ( असर ) धारण करता है। इस कारण ब्राह्मण बेलका दण्ड धारण करे । २-तदुक्तमैतरेयब्राह्मणे-क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः । क्षत्रं वै राजन्य इति=अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि बट वृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है। क्षत्रिय राजा है। इस लिये क्षत्रिय बड़ का दण्ड रक्खे।३-मरुतोवा एतदोजो यदश्वत्थः। मरुतोवै देवानां विशः इति श्रुतेः=अर्थात् अश्वत्थ ( पीपल ) वायु के बल से प्रधानता से युक्त है और वायु देवतों का वैश्य है, क्योंकि देवतों के हव्य पदार्थ इधर उधर ले चलता है, जैसे वैश्य लोग भोजनादि के अन्नादि एक देश से दूसरे देश में लेजाते हैं। इस लिये वैश्य पीपल का दण्ड बनावे। इस के अतिरिक्त अन्य जिन वृक्षों वा तृणों के दण्ड वा मेखला का विधान है, उन में भी उस उस वर्ण के साथ किसी स्वाभाविक समानता का अनु-

मान होता है, जो ब्राह्मणग्रन्थों के खोजने से मिल सकता है। किन्हीं पुस्तकों में "पैलवौदुम्बरौ" भी पाठ है ) ॥ ४५ ॥ ब्राह्मण का केशान्तिक अर्थात् शिर के बाल तक लम्बाई का दण्ड होवे और ललाट तक क्षत्रिय का तथा वैश्य का दण्ड नाक तक लम्बा होवे ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः। अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥ प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्। प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि॥४८॥

अर्थ-और वे सब (दण्ड) सीधे हों, कटे न हों, देखने में सुन्दर हों तथा मनुष्यों को डरावने न हों, वल्कलसहित हों और आग से जले न हों॥४७॥ यथेष्ट दण्ड को ग्रहण करके और आदित्य के सम्मुख स्थित होकर, अग्नि को प्रदक्षिणा देकर, यथा विधि भिक्षा करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः। भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्॥४९॥मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्। भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५०॥

अर्थ-उपनीत ब्राह्मण भवत् शब्द को प्रथम उच्चारण करके भिक्षा करे। क्षत्रिय भवत् शब्द को मध्य में। वैश्य अन्त में ( अर्थात् ब्राह्मण-"भवती भिक्षां ददातु" इस प्रकार उच्चारण करे। क्षत्रिय "भिक्षां भवती ददातु", वैश्य "भिक्षां ददातु भवती" इस प्रकार तीनों का क्रम है)॥४९॥ प्रथम माता से भिक्षा मांगे या मौसी या अपनी भगिनी से और जो कोई इस का अपमान न करे॥५०॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥
"आयुष्यं प्राङ्मुखोभुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखोभुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ५२"

अर्थ-वह भिक्षा लाकर निष्कपट होके गुरुको तृप्तिभर देकर आप आचमन करके पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे ॥ ५१ ॥ "आयु के हित के लिये पूर्वाभिमुख होकर, यश के अर्थ दक्षिण की ओर होकर, संपत्ति के निमित्त पश्चिम और सत्य को चाहे तो उत्तर की ओर मुख करके भोजन करे ॥"

( पूर्वादि दिशाओं का आयु आदि के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। केवल किन्हीं टीकाकारोंने इसे काम्यवचन कहा है। यदि उन का कहना मानें तो आयु आदिकी कामनावाले क्रमशः पूर्वादि नियत दिशाओं में मुखकरके भोजन किया करें। यह मानना होगा। ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में यह कोई आवश्यक भी कर्त्तव्य नहीं। इस लिये हम को यह श्लोक प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है और इस से आगे एक अन्य श्लोक है जो कि उज्जैन के ( आठवले ) नाना साहेब के रामचन्द्रकृत टीकायुक्त पुस्तक और पूना के ( जोशी ) बलवन्तराव के मूल पुस्तक में पाया जाता है। तथा प्रयाग के ( मुन्शी ) हनुमान्प्रसाद जी के मूल पुस्तक में (*श्रुतिनोदितम् ) पाठभेद है। शेष २७ पुस्तकों में नहीं पायाजाता। इससे जान पड़ता है कि थोड़े समय से ही बढ़ाया गया है। तथा रामचन्द्र टीकाकार के अतिरिक्त शेष ५ में से किसीने भी इस पर टीका नहीं की और रामचन्द्र सबसे अन्तिम समय के टीकाकार हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि मेधातिथि आदि रामचन्द्र से पुराने टीकाकारों के समय में यह श्लोक न था, जिसका पाठ इस प्रकार है:

[ सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृति (*श्रुति) नोदितम्।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥ ]

इस का अर्थ यह है कि द्विजों को (श्रुति वा, स्मृतिने सायंप्रातः दोबार भोजन की आज्ञा दी है। बीच में भोजन न करे। इसकी विधि अग्निहोत्र के समान है॥ यद्यपि हम को इस में कोई बुराई नहीं प्रतीत होती परन्तु यह श्लोक नवीन समयका है और कुछ आश्चर्य नहीं कि वह पहला श्लोक जो अब सब पुस्तकों और टीकाओं में उपस्थित है, वह भी कुछ पुराने समय में मिलाया गया हो ) ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्यद्विजोनित्यमन्नमद्यात्समाहितः। भुक्त्वाचोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥ पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्। दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ ५४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि नित्य आचमनादि करके, एकाग्र हो, भोजन करे। भोजन करनेके पश्चात् भी भले प्रकार आचमन करे और चक्षुरादिका जल से स्पर्श करे ॥५३॥ और भोजन के समय अन्न का प्रतिदिन सत्कार करे, निन्दान

करके भोजन करे और देख के हृष्ट प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे ॥५४॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति। अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥ नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा। न चैवाध्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥५६॥

अर्थ—क्योंकि संस्कृत अन्न—बलवीर्य को देता है और असंस्कृत बल सामर्थ्य इन दोनों का नाश करता है (इसलिये संस्कार करके भोजन करना चाहिये) ॥५५॥ उच्छिष्ट अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच में ठहर २ कर भोजन न करे, अधिक भोजन भी न करे और उच्छिष्ट कहीं गमन न करे ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्। अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥ ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्। कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ५८

अर्थ—अतिभोजन करना आरोग्य, आयु तथा सुख नहीं देता और पुण्य भी नहीं होता और लोगों में निन्दा होती है, इस लिये अतिभोजन न करे ॥५७॥ विप्र सर्वदा ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे अथवा प्राजापत्य वा देव तीर्थ से करे, परन्तु पित्र्य तीर्थ से न करे ॥ ५८ ॥

(हाथसे काम करने के वा आचमन करनेके वा आहुति छोड़ने के चार (तीर्थ) उतारने के स्थान हैं। उन में ब्राह्मादि उत्तरोत्तर अच्छे हैं अर्थात् सुगमता से काम कर सकने योग्य हैं। पित्र्यतीर्थ से आचमन न करने का हेतु बेढङ्गापन है क्योंकि अगले श्लोक में तर्जनी अङ्गुलि और अंगूठके नीचे के स्थान को पित्र्यतीर्थ कहा है, उससे आचमन करना अत्यन्त कठिन होने से वर्जित है। वह तीर्थ अग्निमें पित्र्य आहुति देनेके लिये सुगम पड़ता है॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते। कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥ त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्। खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

अर्थ—अङ्गुष्ठमूल के नीचे (कलाई) को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं और कनिष्ठाङ्गुलि के मूल में कायतीर्थ और उसी के अग्रभाग में देवतीर्थ और अङ्गुष्ठ तथा तर्जनीके मध्यमें पित्र्य तीर्थ है ॥ (यज्ञादि में आहुति आदि कामों के

विभागार्थ यह कल्पना की प्रतीत होती है। विशेष प्रयोजन कुछ नहीं जान पड़ता) ॥५९॥ प्रथम जल से तीन बार आचमन करे, अनन्तर दो बार मुख धोवे, पश्चात् इन्द्रियों, शिर और हृदय का जल से स्पर्श करे ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्। शौचेप्सुः सर्वदाचा-मेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥ हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः। वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

अर्थ—फेनरहित शीतल जल से पवित्र होने की इच्छा करने वाला धर्मज्ञ एकान्त में पूर्व या उत्तर को मुख करके आचमन करे ॥ ६१ ॥ ( इस पूर्वोक्त आचमन का जल ) हृदय में पहुंचने से ब्राह्मण पवित्र होता है, कण्ठ में प्राप्त होने से क्षत्रिय और मुख में पहुंचने से वैश्य, तथा स्पर्श मात्र से शूद्र पवित्र होता है ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः। सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥ मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्। अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ६४

अर्थ—दक्षिण हाथ को बाहर निकालने ( बायें के ऊपर जनेऊ कर लेने) पर द्विज "उपवीती" कहाता है। इस के विपरीत करने पर "प्राचीन आवीती" और जब जनेऊ कण्ठ से लगा हो तब "निवीती" कहाता है ॥६३॥ मेखला और मृगचर्मादि तथा दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु; इन टूटे हुवों को पानी में डालकर और नवीन को मन्त्र पढ़ कर ग्रहण करे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥६५॥
"अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में करे और क्षत्रियका २२ बाईसवें में तथा उस से २ अधिक ( २४ चौबीसवें वर्ष ) में वैश्य का ॥६५॥ "यह (जातकर्मादि) संपूर्ण कार्य, उक्त काल और क्रम से शरीर के संस्कारार्थ स्त्रियों के अमन्त्रक करे अर्थात् स्त्रियों के इन संस्कारों में वेदोक्त मन्त्र न पढ़े ॥ ६६ ॥

"वैवाहिकोविधिः स्त्रीणां संस्कारोवैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासोगृहार्थोऽग्निपरिक्रिया" ॥ ६७ ॥
एष प्रोक्तोद्विजातीनामौपनायनिकोविधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ-"स्त्रियों के विवाहसम्बन्धी जो विधि है, वही केवल वेदोक्त कही है और पतिसेवा=गुरुकुलवास, गृहकृत्यादि=सायंप्रातर्होम है ॥" ( ६६ वें श्लोक का यह कहना तो ठीक है कि स्त्रियों के भी गर्भाधान से लेकर केशान्त संस्कारपर्यन्त सब संस्कार करने चाहियें, परन्तु इस के लिये किसी पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तीनों वर्णों के जो जो संस्कार पूर्व कह आये हैं, वे २ सब कन्या और पुत्र दोनों ही के हैं। पुल्लिङ्ग निर्देश अविवक्षित है। अर्थात् वक्ता का तात्पर्य वर्णमात्र में है, चाहे कन्या हो, वा पुत्र। जैसे कोई कहे कि ( योत्राऽऽगमिष्यति स मृत्युमाप्स्यति=जो यहां आवेगा वह मर जायगा ) इस दशा में यद्यपि पुल्लिङ्ग का निर्देश है, परन्तु कहने वाले का तात्पर्य स्त्री पुरुष दोनों से है। अथवा वैदिक शास्त्र में पुल्लिङ्गकरके निर्देश करते हुवे जो सामान्य विधि निषेध किये हैं, वे सब स्त्री पुरुष दोनों को समझे जाते हैं। ऐसे ही जो साधारण संस्कार हैं, वे सब स्त्री पुरुषों के एक से और एकही विधि वाक्य से विहित समझने चाहियें और कन्याओं के विवाह संस्कार को छोड़कर अन्य संस्कारों में वेदमन्त्र पढ़ने का निषेध भी प्रक्षिप्त है। जहां तक हमने देखा और विचारा है, वहां तक वेदों में कहीं यह निषेध नहीं पाया जाता। इस लिये ६६। ६७ श्लोक स्त्री जाति के विद्वेषी अन्य मतों के संसर्ग से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । तथा ६५ वें श्लोक को ६८ वें श्लोक के साथ मिलाकर पढ़िये तो ठीक सम्बन्ध चला जाता है ) ॥६७॥ यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपनयन सम्बन्धी विधि कहा। यह विधि जन्म का जतलाने वाला और पवित्रकारक है ( अब आगे ) कर्त्तव्य को सुनो ॥ ६८ ॥

उपनीयगुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥६९॥ अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तोयथाशास्त्र-मुदङ्मुखः।ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्योलघुवासाजितेन्द्रियः॥७०॥

अर्थ-गुरु उपनयन कराकर शिष्य को प्रथम शौच, आचार, सायं प्रात-होम तथा संध्योपासन सिखावे ॥६९॥ पढ़ने वाले शिष्य को शास्त्र विधि से आचमन करके, हाथ जोड़कर, उत्तर मुख हो, हलका वस्त्र पहिर, जितेन्द्रिय होकर पढ़ना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा। संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥ व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ७२

अर्थ-वेदाध्ययन के आरम्भ और समाप्ति के समय सदा गुरु के चरण छुवे और हाथ जोड़ के पढ़े। इस को ब्रह्माञ्जलि कहते हैं ॥ ७१ ॥ अलग २ हाथ करके गुरु के पैर छुवे, दहिने से दहिना और बायें से बांया ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्व भोइति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥ ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यऽनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥७४॥

अर्थ-आलस्यरहित गुरु सर्वदा पढ़ने वाले शिष्य के प्रति प्रथम पढ़ने के समय "अधीष्व भो" अर्थात् 'हे शिष्य पढ़' ऐसे कहै। पश्चात् "विरामोऽस्त्विति" अर्थात 'अब बस करो' ऐसे कहे, तब पढ़ना बन्द करे ॥ ७३ ॥ वेद के पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव ( ओ३म् ) का उच्चारण करे और अन्त में भी। यदि आदि में और अन्त में ओ३म् का उच्चारण न करे तो उस का पढ़ा हुआ धीरे २ नष्ट होजाता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः। प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥७५॥ अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

अर्थ-पूर्वाग्र दर्भों को बिछा कर उसपर बैठे और पवित्रों से मार्जनकर पवित्र होकर, तीन वार प्राणायामों से पवित्र हो, ओङ्कारके उच्चारण करने योग्य होता है ॥ ७५ ॥ ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार उकार मकार और भूर्भुवः स्वः यह तीन व्याहृति सार निकालीं हैं ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥ एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

अर्थ—प्रजापति ब्रह्मा ने तीनों वेदों से "तत्सवितुः०" इस सावित्री ऋचा के एक एक पाद को दुहा है ॥७७॥ इस (ओङ्काररूप) अक्षर और त्रिपादयुक्त सावित्री को, तीनों व्याहृति पूर्व लगाकर, वेदका जानने वाला दोनों संध्याओं में जपता हुवा विप्र वेद पढ़ने के फल को प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः। महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥ एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥८०॥

अर्थ—और इस त्रिक (अर्थात् प्रणव, व्याहृति, त्रिपादयुक्त गायत्री) को सहस्रवार ग्रामके बाहर (नदी तीर वा अरण्य में) एक मास जपने से द्विज महापाप से भी छूटजाता है। जैसे सर्प कंचली से (यह १ प्रायश्चित्त जानो। प्रायश्चित्त से पाप छूटने का एकादशाध्याय में व्याख्यान लिखेंगे) ॥ ७९ ॥ इस गायत्री के जपसे रहित और सायंप्रातः स्वक्रिया (अग्निहोत्रादि) से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण सज्जनों में निन्दा को पाता है ॥ ८० ॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् ॥८१॥ योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतःखमूर्त्तिमान् ॥८२॥

अर्थ—ओंकार से युक्त तीन अविनाशिनी महाव्याहृति और त्रिपदागायत्री को वेद का मुख जानना (वेद के अध्ययन के पूर्व में पढ़ी जाती हैं और ब्रह्म जो परमात्मा, उसकी प्राप्तिका हेतु है) ॥ ८१ ॥ जो पुरुष प्रतिदिन आलस्य रहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायुवत् स्वतन्त्रचारी होकर खमूर्त्तिमान् शरीरबन्धन से रहित होजाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामःपरंतपः।सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥ क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-

यज्ञविक्रियाः। अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

अर्थ-ओ३म् यह एक अक्षर परब्रह्मका वाचक है और प्राणायाम बड़ा तप है और गायत्रीसे श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं, तथा मौन से सत्यभाषण श्रेष्ठ है ॥८३॥ सम्पूर्ण वेदविहित क्रिया ( यज्ञयागादि ) नाशवान् है, परन्तु कठिन से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म का प्रतिपादक ओ३म् अक्षर अविनाशी है ॥८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ८६

अर्थ-विधियज्ञ ( वैश्वदेवादिकों ) से जपयज्ञ दशगुणा अधिक है और वही यदि दूसरोंके श्रवण में न आवे, ऐसा जप शतगुण अधिक है। और ( जिह्वाके न हिलनेसे ) केवल मन से जो जप किया जावे, वह सहस्रगुण अधिक कहा है ॥८५॥ ये जो ४ पाकयज्ञ हैं ( अर्थात् वैश्वदेव १ बलिकर्म २ नित्यश्राद्ध ३ अतिथिभोजन ४ ) यज्ञ ( पौर्णमासादि ) से युक्त, ये सब, जपयज्ञ के षोडश भाग को भी नहीं पाते ( अर्थात् जप यज्ञ सब से श्रेष्ठ है ) ॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु। संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-ब्राह्मण जप करने ही से सिद्धि को प्राप्त होता है ( अर्थात् मोक्ष प्राप्त होनेके योग्य होता है ) और अन्य कुछ ( यागादि ) करे अथवा न करे वह मैत्र अर्थात् सर्वप्रिय कहा है। इस में संशय नहीं ॥८७॥ अपनी ओर खेंचने के स्वभाव वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के संयम में विद्वान् यत्न करे। जैसे सारथि घोड़ों के रोकने में यत्न करता है ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः। तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥ श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ९०

अर्थ-पूर्व मुनियों ने जो एकादश ११ इन्द्रियें कही हैं, उनको क्रमशः ठीकर अच्छेप्रकार कहता हूं कि-॥८९॥ कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पांचवीं नाक और गुदा, शिश्न, हस्त, पाद और १० वीं वाणी कही है ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः। कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥९१॥एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिन् जिते जितावेतौभवतः पञ्चकौगणौ॥९२॥

अर्थ—उन में श्रोत्रादि क्रमशः पांच बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय हैं और उन में गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ९१ ॥ एकादशवां मन अपने गुण से दोनों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) को चलाने वाला है। जिस के वश्य होने से यह दोनों पांच २ के गण वश में होजाते हैं ॥ ९२ ॥

इन्द्रियाणांप्रसङ्गेनदोषमृच्छत्यऽसंशयम्।सन्नियम्य तु तान्येव ततःसिद्धिंनियच्छति ॥९३॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ ९४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में फंसने से निःसंदेह दोष को प्राप्त होता है और उन्हीं के रोकने से फिर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥ विषय भोग की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती, जैसे घृत से अग्नि ( कभी शमन नहीं होता किन्तु ) अधिक ही बढ़ता है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥९५॥ न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया। विषयेषुप्रजुष्टानि यथाज्ञानेननित्यशः ९६

अर्थ—जो इन सब विषयों को भोगे और जो इन को केवल छोड़ देवे, ( उन दोनों में ) संपूर्ण कामनाओं को भोगने से छोड़ना बढ़ कर है ॥ ९५ ॥ ये विषयासक्त इन्द्रियें विषयों के सेवन विना भी उस प्रकार नहीं जीती जा सकतीं, जैसे कि सर्वदा ( विषयों के दोष के ) ज्ञान से ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। नविप्रदुष्टभावस्य सिद्धिंगच्छन्तिकर्हिचित् ९७ श्रुत्वास्पृष्ट्वाचदृष्ट्वाच भुक्त्वाघ्रात्वाचयोनरः। न हृष्यति ग्लायति वा सविज्ञेयो।जितेन्द्रियः९८

अर्थ—वेदाध्ययन,दान,यज्ञ, नियम और तप; ये दुष्ट भाववाले को कभी सिद्ध नहीं होते ॥९७॥ जिस पुरुष को ( निन्दा या स्तुति के ) सुनने से और ( कोमल वा कड़ी वस्तु के ) स्पर्श करने से तथा ( सुन्दर वा असुन्दर वस्तु के ) देखने

से और ( अच्छे भोजन या सामान्य ) भोजन से और ( सुगन्ध वा दुर्गन्ध ) पदार्थ के सूंघने से हर्ष विषाद न हो, उस को जितेन्द्रिय जानना ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणांतु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥९९॥ वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ—संपूर्ण इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय का विषय में झुकाव हो तो तत्वज्ञानी की बुद्धि उस से नष्ट होती है । जैसे दृति-मशक ( वा फूटे पात्र ) से ( उसका ) पानी ॥ ९९ ॥ इन्द्रियों के गणों को स्वाधीन करके और मन का भी संयम करके युक्ति से शरीर को पीड़ा न देता हुआ सम्पूर्ण अर्थों ( पुरुषार्थचतुष्टय ) को साधे ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् । पश्चिमांतु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥ पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनोव्यपोहति । पश्चिमांतुसमासीनोमलंहन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

अर्थ—प्रातःकाल की सन्ध्या को गायत्री का जप करता हुवा सूर्यदर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की संध्या को नक्षत्रदर्शन ठीक २ होने तक बैठ कर करे ॥ १०१ ॥ प्रातः संध्या के जप से रात्रि भर की और सायं संध्या से दिन भर की दुर्वासना का नाश होता है ॥ १०२ ॥

नतिष्ठतितुयःपूर्वां नोपास्तेयश्चपश्चिमाम् । स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥१०३॥ अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥१०४॥

अर्थ—जो प्रातःकाल की संध्या न करे और जो सायंकाल की भी न करे, वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्म से शूद्रवत् बहिष्कार्य है ॥ १०३ ॥ जल के समीप एकाग्रचित्त से वन ( वा एकान्त ) में जाकर ( संध्या वन्दनादि ) नित्य कर्म और गायत्री का जप भी करे ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नानुरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥ नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् । ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

अर्थ–शिक्षादि के पढ़ने और नित्य के स्वाध्याय और होममन्त्रोंमें अनध्याय के दिन भी मनाई नहीं है ॥ १०५ ॥ नित्य के कर्म में अनध्याय नहीं है क्योंकि उस को ब्रह्मयज्ञ कहा है । उस में ब्रह्माहुति का ही होम है और (उस) अनध्याय में भी वषट्कार ( समाप्तिसूचक ) शब्द किया जाता है ॥ १०६ ॥

यःस्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥१०७॥अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यांगुरोर्हितम्। आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः॥

अर्थ–जो पुरुष एक वर्षपर्यन्त विधियुक्त नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय पढ़ता है, उस के लिये वह (स्वाध्याय) दूध, दधि, घृत, मधु को वर्षाता है ॥ १०७ ॥ उपनयन किया हुआ द्विज, ब्रह्मचर्य व्रत को जब तक समावर्त्तन न हो, इस प्रकार करे–(समावर्तन उस को कहते हैं, जो गुरु से सम्पूर्ण विद्या पढ़ कर घर जाने की अवधि है ) सायंप्रातर्होम, भिक्षा, भूमि पर शयन तथा गुरु का हित किया करे ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रःशुश्रूषुर्ज्ञानदोधार्मिकः शुचिः । आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुःस्वोध्याप्या दश धर्मतः॥१०९॥नापृष्टःकस्यचिद्ब्रूयान्न चाऽन्यायेन पृच्छतः। जानन्नपिहिमेधावीजडवल्लोकआचरेत्॥

अर्थ–आचार्यपुत्र,सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, धारणाशक्तिवाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति; ये दश धर्म से पढ़ाने योग्य हैं ( अर्थात् इन को पढ़ाना फ़र्ज़ है ) ॥१०९॥ विना किसी के पूछे न बोले और अन्याय से पूछते हुवे से भी न बोले, किन्तु जानकर भी बुद्धिमान् उन लोगों में अनजान सा रहे ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति। तयोरन्यतरःप्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥१११॥धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥११२॥

अर्थ–क्योंकि जो अधर्म से उत्तर देता और जो अधर्म से पूछता है, उन दोनों में एक मर जाता वा द्वेषी हो जाता है ॥ १११ ॥ जिस ( शिष्य के पढ़ाने ) में धर्म और अर्थ न हों और वैसी गुरु में भक्ति भी न हो, उस को विद्या न पढ़ावे । जैसे अच्छा बीज ऊसर में न बोवे ( बोने से कुछ उत्पन्न नहीं होता ) ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥११३॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्। असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

अर्थ-चाहे विद्या के साथ मरना पड़े, परन्तु वेदाध्यापक घोर आपत्ति में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे॥११३॥ विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली कि मैं तेरी निधि हूं, मेरी रक्षा कर, असूयकादि दोष वाले पुरुष को मुझे मत दे। इस प्रकार करने से मैं बलवती होऊंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥११५॥ ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्। स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अर्थ जिस को पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जाने और जो मुझ निधि रूप की रक्षा करनेवाला हो, ऐसे प्रमादरहित विप्र को पढ़ावो ॥ ११५ ॥ और जो कोई अन्य पढ़ रहा हो, उस से विना उसके पढ़ाने वालेकी आज्ञा के सीख लेवे, वह विद्या की चोरी से युक्त नरक को प्राप्त होता है (इससे ऐसा न करे। जो आशय यहां मनु में श्लोक ११४। ११५ और ११६ का है, वही आशय निरुक्त २। ३-४ से भी प्रमाणित होता है। यथा-

नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयोपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥३॥ विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ॥ य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाहं ॥ अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाहं तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति, निधिः शेवधिरिति ॥ ४ ॥

भावार्थः—विद्या ने ( अध्यापक ) ब्राह्मण से कहा कि मेरी रक्षा कर, मैं तेरा (ख़ज़ाना) निधि हूं। चुगली करने वाले, क्रूर और ब्रह्मचर्यरहित को मेरा उपदेश न कर, जिससे मैं बलवती रहूं ॥ जो सत्य से दोनों कान भरता है दुःख दूर करता और अमृत पिलाता है, उसे माता पिता करके मानना चाहिये, उस से कभी द्वेष न करना चाहिये ॥ जो पढ़ लिख कर बुद्धिमान् हो, अपने गुरु का मन वचन वा कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के भोजनीय नहीं, इसी प्रकार उन का पढ़ना सुफल नहीं ॥ किन्तु हे ब्रह्मन् ! जिस को तू शुद्ध, अप्रमादी, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त समझे और जो तुझ से कभी द्वेष न करे, उस निधि के रक्षक शिष्य को मेरा दान दे )॥ ११६ ॥

**लौकिकंवैदिकंवापि तथाध्यात्मिकमेवच। आददीत यतोज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥ सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः॥नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥११८॥**

अर्थ—जिस से लौकिक विद्या वा वेदोक्त कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मविद्या पढ़े उस ( प्रतिष्ठितों के बीच बैठे हुए ) को प्रथम नमस्कार करे (पश्चात् अन्यों को ) ॥११७॥ जो गायत्रीमात्र का जानने वाला भी जितेन्द्रिय विप्र है, वह शिष्टों में मान्य है और जो तीनों वेदों को भी पढ़ा हो परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो तथा संपूर्ण वस्तुओं का विक्रय करता हो वह अजितेन्द्रिय शिष्टों में माननीय नहीं है ॥ ११८ ॥

**शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत। शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥११९॥ऊर्ध्वंप्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविरआयति।प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यांपुनस्तान्प्रतिपद्यते१२०**

अर्थ—जो शय्या वा आसन विद्यादि से अधिक वा गुरु के स्वीकार किये हुवे हों उन पर आप बराबर न बैठे और वह (गुरु) आवे तो आप शय्या वा आसन पर बैठा हुआ भी उठ कर नमस्कार करे ॥ ११९ ॥ बड़े आदमी के घर आने पर छोटे आदमी के प्राण ऊपर को उभरने लगते हैं। वे ( प्राण ) उठ कर नमस्कारादि करने से स्वस्थता को प्राप्त होते हैं ( इस से अवश्य अपने से विद्यादि में अधिकों को उठ कर नमस्कार करे ) ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥१२१॥ अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्। असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥१२२

अर्थ-जो प्रति दिन वृद्धों की सेवा करता है और नमस्कार करने के स्वभाव वाला है, उस की चार वस्तु बढ़ती हैं; आयु, विद्या, यश और बल ॥ १२१ ॥ वृद्ध को नमस्कार करता हुआ विप्र, "मैं नमस्कार करता हूं" इस अभिवादनवाक्य के अन्त में "अमुक नाम वाला हूं" ऐसे अपना नाम कहे ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते। तान्प्राज्ञोहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥ भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने। नाम्नांस्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

अर्थ-जो कोई नामधेय के उच्चारणपूर्वक नमस्कार करना नहीं जानते, उन से बुद्धिमान् ऐसा कह दे कि "मैं नमस्कार करता हूं" और संपूर्ण मान्य स्त्रियों को भी ऐसे ही कह दे ॥१२३॥ अभिवाद्य के नामों के स्वरूप में "भोः" यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है। इस से अपना नाम लेकर अन्त में "भोः" शब्द कहा करे ( अर्थात् अपने से बड़े अभिवादनीय पुरुष का नाम न ले, किन्तु उस के नाम की जगह "भोः" शब्द कहे ) ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने। अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥ यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्। नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः

अर्थ-नमस्कार करने पर "आयुष्मान् भव सौम्य" ऐसा ब्राह्मण से कहे। नमस्कार करने वाले के नाम के अन्त के व्यञ्जन ( शर्मन् इत्यादि ) से पूर्व अकार ( वा किसी स्वर ) को प्लुत करे ( इस से उसका आदर होता है ) ॥ १२५ ॥ जो ब्राह्मण नमस्कार करने पर क्या कहना चाहिये, इस को नहीं जानता, वह शूद्रतुल्य है, नमस्कार करने के योग्य नहीं है ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य

शूद्रमारोग्यमेव च॥१२७॥अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्। भोभवत्पूर्वकंत्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ १२८॥

अर्थ-( नमस्कार के अनन्तर ) मिलाप होने पर ब्राह्मण से "कुशल" पूछे, क्षत्रिय से " अनामय " वैश्य से " क्षेम " और शूद्र से " आरोग्य " ही पूछे ॥१२७॥ यदि दीक्षित कनिष्ठ (छोटा) भी हो तथापि उस का नाम लेकर न बोले । ( जो कुछ बोलना हो तो ) धर्म का जानने वाला भोः दीक्षित ! वा आप ( भवान् ) कह कर बोले ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः। तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीतिच॥१२९॥मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्। असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः॥ १३०॥

अर्थ- पर स्त्री जो योनि सम्बन्ध (रिश्ते) वाली न हो, उस को (बोलने के समय में ) कहे कि भवति ! सुभगे ! भगिनि ! ॥ १२९ ॥ मातुल, पितृव्य, श्वशुर, ऋत्विज्, गुरु; यदि ये कनिष्ट ( छोटे ) हों तौभी इन के आने पर उठ कर "असौ अहम्" ऐसा कहे ( अर्थात् अपना नाम प्रकट करे ) ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानि श्वश्रूरथ पितृष्वसा।संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥ भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः॥१३२॥

अर्थ-माता की भगिनी, मामी, सास और पितृभगिनी; ये संपूर्ण गुरुभार्या के तुल्य हैं, इस से इन का आदर सत्कार गुरुभार्यावत् करे ॥१३१॥ ( ज्येष्ठ ) भ्राता की सवर्णा भार्या से प्रतिदिन नमस्कारादि करे और ज्ञातिसम्बन्धिनी जो स्त्री हैं (मातृपक्ष की मातुलानी इत्यादि और पितृपक्ष के पितृव्यादिकों की स्त्रियें ) इन को परदेश से आने पर नमस्कार करे ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यांमातुश्च ज्यायस्यांच स्वसर्यपि।मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी॥१३३॥दशाब्दाख्यंपौरसख्यंपञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापिस्वयोनिषु १३४

अर्थ-पितृभगिनी, मातृभगिनी और अपनी ज्येष्ठा भगिनी इन का माता के समान आदर करे परन्तु माता इनसे अधिकतर है ॥१३३॥ एकपुरनिवा-

स्त्रियों का दश वर्ष बड़ा होने तक सख्य (बराबरी) होता है और यदि सङ्गीतादि कला के जानने वाले हों तौ पांचवर्ष बड़ा होने तक सख्य (बराबरी) होता है और श्रोत्रियों में तीन वर्ष की ज्येष्ठता तक और अपने ज्ञातियों में थोड़े ही दिनों में सख्य (बराबरी) होता है ॥१३४॥

**ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षंतुभूमिपम्। पितापुत्रौविजानीयात् ब्राह्मणस्तुतयोः पिता॥१३५॥ वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥**

अर्थ-दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तौ पिता पुत्र के समान जाने और ब्राह्मण उन में पिता के समान है ॥१३५॥ १ वित्त=न्यायोपार्जित द्रव्य,२ पितृव्यादि=बन्धु,३ श्रौतस्मार्तादि कर्म,४ आयु और ५ विद्या ये पांच बड़ाई के स्थान हैं। इन में उत्तरोत्तर एक से एक अधिक है ॥१३६॥

**पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च। यत्रस्युःसोऽत्रमानार्हः शूद्रोपि दशमीं गतः॥१३७॥ चक्रिणोदशमीस्थस्य रोगिणोभारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयोवरस्यच ॥ १३८ ॥**

अर्थ-तीन वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) में पूर्वोक्त पांच गुणों में से जिस में जितने अधिक हों वह उतना अधिक माननीय है और शूद्र भी सौ वर्ष का हुवा माननीय है ॥ १३७ ॥ चक्रयुक्त रथादि पर सवार हुवे और ९०-१०० वर्ष के वृद्ध, रोगी, बोझ वाले, स्त्री, स्नातक, राजा और वर=जिस का विवाह हो, इन सब को मार्ग (रास्ता) छोड़ देवे ॥ १३८ ॥

**तेषां तु समवेतानां मान्यौस्नातकपार्थिवौ। राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥१४०॥**

अर्थ-ये सब जहां इकट्ठे हों वहां राजा और स्नातक अधिक माननीय हैं। उन में भी राजा और स्नातक एक साथ मिल जावें तौ राजा स्नातक को मान (रास्ता) देवे (स्नातक उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जिस का समावर्त्तन हो चुका हो) ॥१३९॥ जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे उस को "आचार्य" कहते हैं (कल्प=यज्ञविधि। रहस्य=उपनिषद्) ॥१४०॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥१४१॥ निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१४२॥

अर्थ—वेद के एक देश वा वेद के अङ्ग (ज्योतिष व्याकरणादि) वृत्ति के लिये जो पढ़ावे, उस को "उपाध्याय" कहते हैं॥१४१॥ जो गर्भाधानादि शास्त्रोक्त कर्म कराता है और जो अन्न से पोषण करता है, उस ब्राह्मण को "गुरु" कहते हैं १४२

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानऽग्निष्टोमादिकान्मखान्। यः करोति वृतोयस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते॥१४३॥ य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥१४४॥

अर्थ—(जो आहवनीय अग्नि को उत्पन्न करके कर्म किया जाता है उस को) अग्न्याधेय (कहते हैं) और पाकयज्ञ (वैश्वदेवादि) और अग्निष्टोमादि यज्ञों को वरण लेकर जो जिसे करावे उसको इस शास्त्र में उस का "ऋत्विज्" कहते हैं ॥१४३॥ जो (गुरु) सत्यविद्या वेद से दोनों कर्णों को भरता है वह माता पिता के तुल्य जानने योग्य है, उससे कभी द्रोह न करे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥१४५॥ उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

अर्थ—दश १० उपाध्यायों के तुल्य गौरव (बड़ाई) एक आचार्य में और शत १०० आचार्यों के समान पिता में, और पिता से सहस्रगुणित माता में होता है ॥ १४५ ॥ उत्पन्न करने वाला और वेद का पढ़ाने वाला (ये दोनों पिता हैं) इन में ब्रह्म का देने वाला बड़ा है क्योंकि विप्र का ब्रह्मजन्म ही इस लोक तथा परलोक में शाश्वत ( स्थिर फल का हेतु ) है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः। संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते॥१४७॥ आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा १४८

अर्थ-माता और पिता तो कामवश होकर भी इस बालक को उत्पन्न करते हैं इस से जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उस के हस्त पादादि हो जाते हैं ॥१४७॥ परन्तु सम्पूर्ण वेद का जानने वाला आचार्य इस बालक को विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा जो जाति उत्पन्न करता है वह जाति सत्य है औरअजर अमर है (क्योंकि उसी से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है) ॥१४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोतियः।तमपीहगुरुंविद्या-च्छ्रुतोपक्रिययातया ॥१४९॥ ब्राह्मस्य जन्मनः कर्तास्व धर्मस्य च शासिता। बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

अर्थ-जो ( उपाध्याय ) जिस को अल्प वा बहुत वेदाध्ययनादि कराकर उपकार करे, उस को भी इस लोक में पढ़ाई के उपकार करने से " गुरु " जाने ॥ १४९ ॥ ब्रह्म ( वेद ) के पढ़ाने से जन्म दिया है जिसने और स्वधर्म की शिक्षा करने वाला, ऐसा ( आयु से ) बालक भी विद्वान् पुरुष, ( आ-युमात्र से ) वृद्ध ( मूर्ख ) का धर्म से पिता है ॥ १५० ॥

"अध्यापयामासपितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्यतान् ॥ १५१ ॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः । देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥"

"अर्थ-अङ्गिरस् मुनि के विद्वान् पुत्र ने अपने पितृव्यादि को पढ़ाया और अपने अधिक विद्या ज्ञान से उन को शिष्य जान कर हे-पुत्रकाः ! अर्थात् " हे लड़को ,, ऐसा कहा ॥ १५१ ॥ वे क्रोधयुक्त होकर देवताओं से "पुत्र" के शब्दार्थ को पूछने गये, देवताओं ने मिल कर उन से कहा कि उस लड़के ने तुम से ठीक कहा है ॥"

( मनु के पश्चात् अङ्गिरस् गोत्र कवि हुआ और उस को भी लिट् लकार परोक्ष भूत से बहुत पुराना करके इन श्लोकों में कहा होने से ये दोनों श्लोक नवीन ज्ञात हैं ) ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमि-त्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥ न हायनै र्न पलितै र्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः सनोमहान् ॥१५४॥

अर्थ-अज्ञानी ही बालक है और मन्त्र का देने वाला पिता है इस से अज्ञ को बालक और मन्त्रदाता को पिता कहते हैं ॥१५३॥ न बहुत आयु से, न श्वेत बालों से, न द्रव्य से, न नाते में बड़ाई से बड़ाई है, किन्तु जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्म का जानने और करने वाला है वही हम ऋषियों में बड़ा है। यह धर्मव्यवस्था ऋषियों ने की है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः १५५ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः १५६

अर्थ-ब्राह्मणों का ज्ञान की अधिकता से बड़प्पन होता है और क्षत्रियों का पराक्रम से, वैश्यों का धन धान्य की समृद्धि से और शूद्रों का जन्म से ॥ १५५ ॥ शिर के केश श्वेत होने से वृद्ध नहीं होता, यदि युवा भी लिखा पढ़ा हो तो उस को देवता 'वृद्ध' जानते हैं ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति १५७ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः १५८

अर्थ-जैसे काष्ठ का हाथी और चमड़े का मृग है वैसे बिना पढ़ा ब्राह्मण का पुत्र, ये तीनों नाममात्र को धारण करते हैं १५७ जैसा स्त्रियों में नपुंसक निष्फल और गौ में गौ, तथा अज्ञानी में दान निष्फल है, वैसे ही वेदरहित ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥ यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१६०॥

अर्थ-प्राणियों को श्रेय अर्थात् कल्याणरूपी अर्थ की शिक्षा अहिंसा (दुःख न देकर) ही से करे और वाणी मधुर और स्पष्ट कहे, धर्म की इच्छा करने वाला ( क्रूर भाषणादि न करे ) ॥ १५९ ॥ जिस के वाणी और मन शुद्ध और (क्रोध मिथ्याभाषणादिकों से) सदा सुरक्षित हों, वह वेदान्त के यथार्थ सब फल को प्राप्त होता है ( मोक्ष लाभ करता है ) ॥ १६० ॥

नारुन्तुदःस्यादार्तोपि न परद्रोहकर्मधीः। ययास्योद्विजतेवाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥ संमानाद्ब्राह्मणोनित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

अर्थ-दबाव पड़ने पर भी किसी के मर्मच्छेदन करने वाली बात न बोलें. दूसरे के साथ द्रोह करने वाली बुद्धि न करे और जिस वाणी से दूसरा डरे, लोक की अहित करने वाली, ऐसी कोई बात न बोले ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण सम्मान से सर्वदा (सुख नहीं माने) विषवत् डरे और सर्वदा अपमान की अमृतवत् इच्छा करे ( मान अपमान से उस को दुःखादि न होवे ) ॥१६२॥

सुखं ह्यवमतःशेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मि-न्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥ अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजःशनैः।गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अर्थ-दूसरे से अपमान किये जाने पर भी खेद न करता हुवा पुरुष सुख पूर्वक शयन करता है सुखपूर्वक जागता है. लोगों में सुखपूर्वक व्यवहार करता है और अपमान करने वाला ( उस पाप से ) नष्ट हो जाता है ॥१६३॥ इस क्रम से (जातकर्म से उपनयनपर्यन्त) संस्कार किया हुवा द्विज, गुरु के समीप वास करता हुवा वेद के ग्रहणार्थ तप का सञ्चय करे ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः। वेदःकृत्स्नोऽधिगन्त-व्यः सरहस्योद्विजन्मना १६५ वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते १६६

अर्थ-विधिविहित विविध तपोविशेष ( समयनियमादि ) और व्रतों (गुरुसेवादि) से सम्पूर्ण वेद उपनिषदों के सहित, द्विजन्मा-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को पढ़ना योग्य है ॥१६५॥ तप करना हो तो ब्राह्मण वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा है ॥ १६६ ॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यःस्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥ योऽनधीत्य द्विजोवेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः १६८

अर्थ—जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके ( ब्रह्मचर्य समाप्त करके भी ) प्रतिदिन यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है वह निश्चय नख शिख तक परम तप करता है ( अर्थात् इस से अधिक कोई तप नहीं है ) ॥१६७॥ जो द्विज वेद को विना पढ़े अन्य कार्य में श्रम करे, वह जीता हुवा ही वंश के सहित शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ १६८ ॥

**मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने। तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥ तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबंधनचिन्हितम्। तत्रास्य मातासावित्री पितात्वाचार्य उच्यते १७०**

अर्थ—श्रुति की आज्ञा से द्विज के, प्रथम माता से जन्म, दूसरे मौञ्जीबन्धन, तीसरे यज्ञ की दीक्षा में, ये तीन जन्म होते हैं ॥१६९॥ इन पूर्वोक्त तीनों जन्मों में वेदग्रहणार्थ उपनयन संस्काररूप जो जन्म है, उस जन्म में उस बालक की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं ॥१७०॥

**वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते। नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥ नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते। शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥**

अर्थ—वेद के प्रदान से आचार्य को पिता कहते हैं। उस बालक की मौञ्जीबन्धन से पूर्व कोई ( श्रौतस्मार्तादि ) क्रिया ठीक नहीं है ॥ १७१ ॥ ( मौञ्जीबन्धन से पूर्व ) वेद का उच्चारण न करावे, परन्तु मृतक संस्कार में वेदमन्त्रों का उच्चारण वर्जित नहीं है। जब तक वेद में जन्म नहीं हुआ तब तक शूद्र के तुल्य है ॥ १७२ ॥

**कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥ यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला। यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥**

अर्थ—इस बालक को ( सायं प्रातः होम करना और दिन में न सोना इत्यादि ) व्रत और क्रमपूर्वक विधि से वेद का अध्ययन, उपनयन हुवे को कहा है (इस लिये पूर्व न करे) ॥१७३॥ जो जिस को चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र, (उपनयन में) कहा है वही उस को व्रतों में भी जानों ॥१७४॥

सेवेतेमांस्तुनियमान्ब्रह्मचारीगुरौवसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥१७५॥ नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि पितृतर्पणम्। देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

अर्थ-ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुवा इन्द्रियों का संयम करके अपने तप की वृद्धि के लिये इन (जो आगे वर्णित हैं) नियमों का पालन करे ॥१७५॥ प्रतिदिन स्नान करके पवित्र होके, देव, ऋषि और पितृसंज्ञक पुरुषोंका जलादि से तर्पण करे और समिधों का आधान कर होम से देवतों का पूजन करे ॥१७६॥

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धंमाल्यंरसान्स्त्रियः। शुक्तानियानिसर्वाणि प्राणिनांचैव हिंसनम् ॥१७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्। कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अर्थ-इन वस्तुओं को छोड़ देवे-मधु, मांस, गन्ध, माल्य, अच्छे मधुरादि रस स्त्री (सिरका इत्यादि) जो सड़ी वस्तु हैं वे सब और प्राणियों की हिंसा ॥१७७॥ तैलादि का मर्दन, आंखों में अञ्जन, जूता पहरना, छत्र धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना और बजाना ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादंतथानृतम्। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥ एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्। कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

अर्थ-जुआ, झगड़ा, दूसरे की निन्दा, झूठ, स्त्रियों के साथ देखना वा दिल्लगी करना और दूसरे का उपघात (न करे) ॥१७९॥ सर्वदा एकाकी शयन करे और शुक्र (वीर्य) को न गिरावे क्योंकि इच्छा से शुक्र का पात करे तो अपने व्रत का नाश करता है ॥ १८० ॥

स्वप्नेसिक्त्वाब्रह्मचारीद्विजःशुक्रमकामतः। स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिःपुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥ उदकुम्भं सुमनसोगोशकृन्मृत्तिकाकुशान्। आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् १८२

अर्थ-स्वप्न में द्विज ब्रह्मचारी का विना इच्छा के शुक्र गिर जावे, तो स्नान कर परमात्मा का पूजन करके, तीन वार "पुनर्मामेत्विन्द्रियम्" इस

अथा को पढ़े ॥ १८१ ॥ पानी का घड़ा, पुष्प, गोबर, मट्टी, कुशा; इन को जितना आवश्यक हो ले आवे और प्रतिदिन भिक्षा ले आवे ॥ १८२ ॥

**वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु। ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥ गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु। अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥**

अर्थ–वेद और यज्ञ से जो हीन नहीं हैं और अपने नित्यकर्म में प्रतिष्ठित हैं, ऐसों के घरों से ब्रह्मचारी प्रतिदिन नियम से भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥ गुरु और गुरु के ज्ञाति वाले कुल और बन्धु, इन के कुल से भिक्षा न मांगे। यदि और जगह न मिले तो (इन में से) पहिले पहिलों को छोड़ देवे ॥ १८४ ॥

**सर्वंवापिचरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे। नियम्यप्रयतोवाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥ दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि। सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥**

अर्थ–पूर्वोक्तों (वेदयज्ञसहितों) से कहीं न मिले तो चाहे और सब ग्राम से भिक्षा मांगे, परन्तु बहुत न बोल कर, और उन में भी महापातकी आदि को छोड़ दे ॥ १८५ ॥ दूर से समिधा लाकर ऊंचे पर रक्खे, आलस्य छोड़ कर सायं प्रातः उन से अग्नि में होम किया करे ॥ १८६ ॥

**अकृत्वाभैक्षचरणमसमिध्य स पावकम्। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥ भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती। भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥**

अर्थ–[यदि] विना रोगादि बाधा ब्रह्मचारी सात दिन भिक्षावृत्ति और अग्नि में समिधों से सायं प्रातर्होम न करे तो [ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है] उस पर अवकीर्णिव्रत (११ अध्यायोक्त) प्रायश्चित्त करे ॥१८७॥ ब्रह्मचारी भिक्षा करके नित्य भोजन करे और एक का अन्न भोजन न करे (किन्तु बहुत घरों से भिक्षा मांग के भोजन करे) क्योंकि भिक्षा समूह से जो ब्रह्मचारी की वृत्ति है वह उपवास के तुल्य (मुनियों ने कही) है ॥

(१८८ के आगे ३० पुराने पुस्तकों में से ८ जगह के पुस्तकों की टीका में मूल के स्थान में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं। शेष २२ पुस्तकों में नहीं। वे ये हैं:–

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद्भैक्ष्येण वर्त्तयेत् ॥
भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥ ]

ये किसी ने भिक्षा की निन्दा या ग्लानि देख कर बना दिये हैं। जिन का अर्थ यह है कि "भिक्षा का अन्न न तो परपाक है, न प्रतिग्रह है, किन्तु सोमपान के तुल्य है, इस लिये भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे। भिक्षा का अन्न शास्त्र से विहित, शुद्ध, प्रोक्षित, हुत हो तो उस के जितने ग्रास खाता है उतने यज्ञों का फल खाने वाले को होता है"॥ इस से भी जाना जाता है कि समय २ पर मनु में प्रक्षेप होता रहा है )॥ १८८॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्। काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥ ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥१९०॥

अर्थ—परन्तु देवतोद्देश ( देवयज्ञसम्बन्धी ब्रह्मभोज ) में निमन्त्रित ब्रह्मचारी व्रतवत् ( एक के घर भी चाहे ) भोजन करे, तो उस का व्रत लुप्त नहीं होता। तथा जीवित पितृनिमित्तक श्राद्धादि में मुन्यन्नों के ऋषितुल्य भोजन करने से भी (व्रत नष्ट नहीं होता) ॥१८९॥ परन्तु मनीषियों ने यह कर्म ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कहा है, क्षत्रिय वैश्यों को यह कर्म ऐसा नहीं है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा। कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥ शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च। नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

अर्थ—गुरु प्रतिदिन कहे वा न कहे, पढ़ने में तथा गुरु की हित सेवा में यत्न करे ॥ १९१ ॥ शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम कर, हाथ जोड़ गुरु का मुख देखता हुआ ( सामने ) रहा करे ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः। आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥ हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४

अर्थ-निरन्तर ( ओढ़ने के वस्त्र से ) दक्षिण हाथ बाहर निकाले रहे और अच्छे आचार से युक्त "बैठो" ऐसा ( गुरु ) कहे तब गुरु के सम्मुख बैठे ॥ १९३ ॥ सदा गुरु से हीन ( घटिया ) अन्न वस्त्र वेष रख कर गुरु के पास रहे, गुरु से प्रथम जागे और गुरु के पश्चात् सोवे ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१९५॥ आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छं-स्तुतिष्ठतः । प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तुधावतः ॥१९६॥

अर्थ-सोता हुवा या आसन पर बैठा हुवा या भोजन करता हुवा या और ओर मुख करके खड़ा हुवा गुरु से आज्ञा का उत्तर या संभाषण न करे ॥१९५॥ आसन पर बैठे हुये गुरु आज्ञा देवें तो आप आसन से उठकर और गुरु खड़े हों तो आप समीप चलके और गुरु अपनी ओर आवें तो आप भी उन की ओर जाके और गुरु चलते २ बोलें तो आप उन के पीछे चलता हुवा ( संभाषणादि करे ) ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१९७॥ नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ। गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनोभवेत्१९८

अर्थ-गुरु पीछे हों तो सम्मुख होकर और दूर हों तो निकट आकर और लेटे हों तो नमस्कार करके और खड़े हों तो समीप होकर ( कहें सो सुने ) ॥ १९७ ॥ गुरु के समीप इस ( शिष्य ) का बिछौना वा आसन उन से सदा नीचा हो और गुरु के सामने मनमानी बैठक से न रहे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१९९॥ गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

अर्थ-गुरु का केवल नाम परोक्ष में भी न लेवे और गुरु के चलने बोलने वा चेष्टा की नक़ल न करे ( १९९ के पूर्वार्द्ध से आगे भी एक श्लोक मु० हनुमान्प्रसाद प्रयाग के पुस्तक में पाया जाता है कि-

[ परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिहवाऽमुत्र चैत्यधः ॥ ]

अर्थ—गुरु का नाम परोक्ष में लेना हो तो नाम से पूर्व "सत्कृपा" लगा कर नाम लेवे; प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं। गुरु का दुष्टाचारी शिष्य इस लोक और परलोक में नीचता को प्राप्त होता है। इस से भी पाया जाता है कि मनु में श्लोक प्रायः मिलाये गये हैं। क्योंकि यह श्लोक शेष २९ पुस्तकों में नहीं पाया गया)॥१९९॥ जहां पर कोई गुरु के दोष कहता हो वा निन्दा करता हो वहां पर कान बन्द कर लेवे या वहां से और जगह चला जावे ॥२००॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥२०१॥ दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः। यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

अर्थ—गुरु की निन्दा सुनने से (मर कर) गधा होता है और निन्दा करने से (दूसरे जन्म में) कुत्ता होता है और गुरु के अनुचित द्रव्य का भोक्ता शिष्य कृमि होता है और मत्सरता करने वाला कीट होता है ॥२०१॥ गुरु की दूर से पूजा न करे, क्रोधयुक्त हुवा भी न करे और जब गुरु अपनी स्त्री के साथ बैठे हों तब भी। स्वयं यान वा आसन पर बैठा हुवा इन को उतर कर नमस्कार करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह। असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्त्तयेत् ॥२०३॥ गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च। आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

अर्थ—जब सम्मुख शिष्य की ओर से गुरु की ओर वायु आवे वह प्रतिवात है ऐसी जगह गुरु के साथ न बैठे और अनुवात (जहां गुरु का वायु अपने ऊपर आता हो) वहां भी न बैठे (किन्तु दायें बायें बैठे) और गुरु जो न सुन सकें तो कुछ न कहे ॥ २०३ ॥ बैल, घोड़े, ऊंट की जोती हुई गाड़ी में और मकान की छत पर, पुराल तथा चटाई और पत्थर पर या लकड़ी की बड़ी चौकियों या नाव पर गुरु के साथ शिष्य बैठ सकता है ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्। न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत्॥२०५॥ विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु। प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

अर्थ-गुरु का गुरु समीप आवे, तो उस से भी गुरुवत् वर्त्ताव करे। गुरु के घर में रहने वाला शिष्य ( गुरु के विना कहे अपने गुरु ) माता पित्रादि को नमस्कार न करे॥२०५॥ विद्यागुरु पूर्वोक्त उपाध्यायादि और पिता आदि लोग तथा जो अधर्म से रोकने वाले और हित के उपदेश करनेवाले हैं, उन में भी यही वृत्ति रक्खे ( आचार्यवत भक्ति रक्खे और नमस्कारादि प्रतिदिन विधि के अनुकूल करे ) ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥२०७॥ बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि। अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

अर्थ-विद्या तप से अधिकों और आर्य गुरुपुत्रों तथा गुरु के बन्धुओं में नित्य गुरु के सी वृत्ति रक्खे ॥२०७॥ छोटा हो वा समान आयु वाला हो वा अपना पढ़ाया हुवा हो परन्तु यज्ञ में आकर ऋत्विज् हुआ हो तब गुरुपुत्र पढ़ाता हुवा गुरु के समान पूजा पाने के योग्य है ॥ २०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने। न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९। गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः। असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

अर्थ-शरीर मलना, न्हिलाना, उच्छिष्ट ( शेष स्वच्छ ) भोजन करना और पैर धोना, इतनी सेवा गुरुपुत्र की न करे ( अर्थात् ये गुरु ही की करनी चाहियें ) ॥ २०९ ॥ सवर्णा गुरु की स्त्रियों का गुरुवत् पूजन करे और ( अपने से ) सवर्णा न हों तो उठकर नमस्कार करके ही उन का सत्कार करे ( विशेष न करे ) ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च। गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥२११॥ गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

अर्थ-उबटना लगाना, स्नान कराना, देह दबाना, बाल फूलों से गूंथना ( ये सेवा ) गुरुपत्नी की न करे ॥ २११ ॥ पूर्ण २० वर्ष का ( शिष्य ) गुणदोष का जानने वाला युवति गुरुपत्नी को पैर छूकर नमस्कार न करे ( अर्थात दूर से भूमि पर प्रणाम करले) ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥ अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

अर्थ–यह स्त्रियों का स्वभाव है कि पुरुषों को दोष लगा देना, इस से पण्डित लोग स्त्रियों में प्रमत्त नहीं होते ( बड़े सावधान रहते हैं ) ॥२१३॥ काम क्रोध के वश हुआ पुरुष विद्वान् वा मूर्ख हो, उस को बुरे मार्ग पर ले जाने को स्त्री समर्थ है ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥ कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि। विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

अर्थ–मा या बहिन या लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे, क्योंकि अतिबलवान् इन्द्रियों का गण, विद्वान् पुरुष को भी खींच सकता है ॥२१५॥ युवती गुरुपत्नी हों और आपभी युवा हो तौ चाहे यथोक्तविधि से "अमुक शर्माहम्" यह कहकर (पैर बिना छुये) पृथिवी पर नमस्कार करले ॥२१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्। गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥ यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अर्थ–प्रवास से आकर पादस्पर्श करके और प्रतिदिन सत्पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुवा गुरुपत्नियों को (बिना पांव छुवे) नमस्कार मात्र कर ले ॥२१७॥ जैसे कोई पुरुष कुदाल ( फावड़े ) से भूमि खोदता हुवा पानी को पाता है, वैसे ही गुरु में की विद्या को सेवा करने वाला पाता है ॥२१८॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः। नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥२१९॥ तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः। निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम्

अर्थ–मुण्डित अथवा शिखा वाला वा जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से ब्रह्मचारी कोई प्रकार रक्खे। ग्राम में इस को कभी सूर्य अस्त वा उदित न हो ॥२१९॥ यदि ज्ञानपूर्वक शयन करते हुवे को सूर्य उदय वा अज्ञान से अस्त हो जावे तौ दिन भर ( गायत्री ) जप करके उपवास करे ॥ २२० ॥

सूर्येणह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्चयः। प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥ आचम्य प्रयतोनित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः। शुचौदेशे जपञ्जप्यमुपासीतयथाविधि॥२२२॥ यदिस्त्रीयद्यवरजःश्रेयःकिंचित्समाचरेत्। तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः॥२२३॥ धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च। अर्थएवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अर्थ–यदि सूर्य के उदय वा अस्त के समय सोजाय और प्रायश्चित्त न करे तौ महापाप के युक्त होता है॥२२१॥ आचमन करके प्रतिदिन एकाग्र चित्त होकर दोनों सन्ध्याओं को पवित्र देश में यथाविधि जप करता हुवा उपासना करे ॥२२२॥ जिस किसी धर्म का स्त्री वा शूद्र भी आचरण करता हो और उन में इस का चित्त लगे, उस को भी मन लगा कर करे ॥२२३॥ धर्म अर्थ ये दोनों श्रेय कहाते हैं। कोई काम को भी श्रेय मानते हैं और अन्यों का मत यह है कि अर्थ ही श्रेय है। (अपना मत मनु बताते हैं कि) तीनों (पुरुषार्थ) त्रिवर्ग श्रेय हैं ॥ २२४ ॥

आचार्योब्रह्मणोमूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः। मातापृथिव्यामूर्तिस्तुभ्रातास्वोमूर्तिरात्मनः॥२२५॥ आचार्यश्च पिताचैव माता भ्राता च पूर्वजः।नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः२२६

अर्थ–आचार्य वेद की मूर्ति है और पिता ब्रह्मा की मूर्त्ति है, माता पृथिवी की और भ्राता आत्मा की मूर्त्ति है (इस लिये किसी का अपमान न करे) ॥२२५॥ ब्राह्मण को विशेष करके चाहिये कि आचार्य पिता माता और ज्येष्ठ भ्राता, इन का अपमान स्वयं कुपित होने पर भी न करे ॥२२६॥

यंमातापितरौक्लेशं सहेतेसंभवेनृणाम्। नतस्यनिष्कृतिःशक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ २२७ ॥ तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ-मनुष्यों की उत्पत्ति और पालनादि में जो क्लेश माता पिता सहते हैं, उस क्लेश का बदला सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता ॥२२७॥ माता पिता और गुरु का सर्वकाल में नित्य प्रिय करे। इन तीनों की ही प्रसन्नता होने पर सम्पूर्ण तप पूरा होता है ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणांशुश्रूषा परमं तपउच्यते। न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥ त एव हि त्रयो लोकास्तएव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

अर्थ–इन तीनों की शुश्रूषा परम तप कहाती है और कुछ अन्य धर्म उन की आज्ञा के विना न करे ॥२२९॥ माता पिता और गुरु ही तीनों लोक हैं और वही तीनों आश्रम हैं और वही तीनों वेद हैं और वही तीनों अग्नि हैं ॥२३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥ त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही। दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥

अर्थ–(जिन में) पिता तौ गार्हपत्याग्नि और माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीयाग्नि हैं। ये तीन अग्नि प्रसिद्ध तीन अग्नियों से बड़े हैं ॥ २३१ ॥ गृहस्थ इन तीनों के विषय में प्रमाद को त्यागता हुआ (शुश्रूषा करे तौ) मानो तीनों लोकों को जीते और अपने शरीर से प्रकाशमान होकर देवताओं के समान सुख में प्रसन्न रहे ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥२३३॥ सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः॥२३४॥

अर्थ–माता की भक्ति से मानों इस लोक को जीतता है और पिता की भक्ति से मध्य (अन्तरिक्ष) लोक को और ऐसे ही गुरु की शुश्रूषा से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ॥ २३३ ॥ जिस पुरुष ने माता पिता और गुरु का सत्कार किया, उस को सम्पूर्ण धर्म फल देते हैं और जिस के इन तीनों का सत्कार नहीं होता, उस के (श्रौत स्मार्त्त) कर्म सब निष्फल होते हैं ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥ तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्। तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ–इस कारण उन की प्रीति और हित में परायण होता हुवा जब तक वे जीवें तब तक चाहे और कुछ न करे, किन्तु उन की नित्य शुश्रूषा करे ॥२३५॥ माता

पिता और गुरु की आज्ञा के अनुसार जो परलोक के निमित्त कर्म करे, सो मन, वचन और कर्म से उन ही के निवेदन करदे ॥ २३६

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एषधर्मःपरःसाक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥ श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

अर्थ-माता पिता और गुरु की शुश्रूषा से पुरुष के सम्पूर्ण कर्म पूरे होते हैं। इस कारण यही साक्षात् परम धर्म है और अन्य उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥ श्रद्धायुक्त होता हुया उत्तम विद्या शूद्र से भी ग्रहण करले और चाण्डाल से भी परम धर्म ग्रहण करले और स्त्रीरत्न अपने से नीचे कुल की हो उसे भी ( विवाह के निमित्त ) अङ्गीकार करले ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। अमित्रादपिसद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥ स्त्रियोरत्नान्यथो विद्याधर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः

अर्थ-( विष और अमृत मिले हों तो ) विष से अमृत और बालक से भी हित वचन ग्रहण करले। शत्रु से भी अच्छा कर्म और अमेध्य में से भी सुवर्णादि ग्रहण करले ॥ २३९ ॥ स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सबसे ग्रहण करले ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनंगुरोः २४१ नाऽब्राह्मणेगुरौ शिष्योवासमात्यन्तिकं वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अर्थ-आपत्तिसमय में ब्राह्मण के विना ( क्षत्रिय और वैश्य से ) भी पढ़ना कहा है और गुरु की आज्ञा में चलना और शुश्रूषा जब तक पढ़े तब तक करे ॥ २४१ ॥ ब्राह्मणगुरु न हो तो शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ब्राह्मण भी साङ्ग वेदों का पढ़ाने वाला न हो तो मोक्ष की इच्छा करता हुआ शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२४३॥ आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रू-

षते गुरुम् । स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् २४४

अर्थ-जो गुरुकुल में सदा वास की रुचि ही हो तो सावधानी से जब तक जीवे गुरु की शुश्रूषा करता रहे और (ब्रह्मचर्य में) युक्त रहे ॥ २४३ ॥ जो शरीर समाप्त होने तक गुरु की शुश्रूषा करता है वह ब्राह्मण अनायास मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीतधर्मवित् । स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥ क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् । धान्यं शाकं च वासांसि गुरवेप्रीतिमावहेत् २४६

अर्थ-धर्म का जानने वाला स्नान के अतिरिक्त कोई वस्तु गुरु से पूर्व न वर्त्ते । गुरु की आज्ञा से यथाशक्ति गुरु के लिये जलादि ला देवे ॥ २४५ ॥ पृथिवी, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छत्र, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र गुरु के निमित्त प्रीतिपूर्वक निवेदित करे ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥ एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् । प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ-गुरु के मरे पीछे गुरु का पुत्र गुणों से युक्त हो और गुरु की स्त्री हो और गुरु के सपिंड अर्थात् भ्राता आदि होवें तो उन को भी गुरु के तुल्य मानता रहे ॥२४७ ॥ और ये ( गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के पितृव्यादि ) न होवें तो स्नानादि और होमादि करता हुवा अपने शरीरको साधे ( ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य करे ) ॥२४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२४९॥
इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अर्थ-जो ब्राह्मण ऐसे अखण्डित ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और फिर पृथिवी पर जन्म नहीं लेता ॥ २४९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामि-विरचिते मनुस्मृतिभाषानुवादे
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ओ३म्

# अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥१॥ वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥२॥

अर्थ–गुरुकुल में (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तीनों वेद छत्तीस वर्ष पर्यन्त अथवा अठारह वर्ष पर्यन्त वा नव वर्ष पर्यन्त पढ़े अथवा जितने काल में पढ़ने की शक्ति होवे उतने ही काल तक पढ़े और ब्रह्मचर्य रक्खे॥१॥ क्रम से तीनों वेद वा दो वेद अथवा एक ही पढ़कर ब्रह्मचर्य खण्डित न करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्पआसीन-मर्हयेत्प्रथमं गवा ॥३॥ गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथा-विधि। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ–अपने धर्म के अनुसार पिता (आचार्य) से वेदरूपी दायभाग लाते हुवे लौटकर आये, उस माला से अलंकृत और शय्या पर स्थित हुवे को (पिता) गोदान से पूजित करे॥३॥ गुरु की आज्ञा से यथाविधि स्नान और समावर्तन करके द्विज अपने वर्ण की शुभलक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजा-तीनां दारकर्मणि मैथुने ॥५॥ महान्त्यपि समृद्धानि गोजावि-धनधान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ–जो माता की सपिण्ड (सात पीढ़ी में) न हो और पिता के गोत्र में न हो (ऐसी स्त्री) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को स्त्री कर्म=मैथुन में श्रेष्ठ है ॥५॥ यदि गौ, बकरी, भेड़, द्रव्य और अन्न से बहुत समृद्ध भी हों तो भी इन आगे कहे (दोषयुक्त) दश कुलों की कन्या से विवाह न करे ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ७ नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ८

अर्थ-( वे कुल ये हैं ) हीनक्रिय ( जातकर्मादिरहित ) १, पुरुषरहित २, वेदपाठरहित ३, बहुत बड़े बालों वाला ४, बवासीरयुक्त ५, क्षय व्याधि से युक्त ६, मन्दाग्नि ७, मिरगी ८, श्वेतकुष्ठी ९, और गलितकुष्ठी १० ( इन दश कुलों को छोड़ देवे) ॥७॥ कपिल रङ्ग वाली, अधिक अङ्ग वाली, रोगिणी, विना बालों वाली, बहुत बालों वाली, कठोर बोलने वाली और कांयरी कन्या से विवाह न करे ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥९॥ अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्॥१०॥

अर्थ-नक्षत्र, वृक्ष, नदी, अन्त्यज, पहाड़, पक्षी, सर्प, शूद्र, ( आदि ) नामों और भयङ्कर नामों वाली से भी न करे ॥९॥ सुन्दर अङ्ग वाली, अच्छे नाम वाली, हंस और गज के सदृश गमन वाली, पतले रोमाङ्गों, बालों और दांतों और कोमल शरीर वाली से विवाह करे ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

" सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः ॥१२॥"

अर्थ-जिसके भाई न हो वा (जिस के) पिता का पता न लगे, ज्ञानवान् पुरुष (जिस का प्रथम पुत्र अपने नाना की गोद धर्म से देना पड़े उस को "पुत्रिका" कहते हैं) "पुत्रिका" धर्म से डर कर उस से विवाह न करे ॥११॥ "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को स्त्री करने में प्रथम अपने वर्ण की कन्या से विवाह श्रेष्ठ है और कामाधीन विवाह करे तौ क्रम से ये नीची भी श्रेष्ठ हैं ॥ १२ ॥

" शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥ १३ ॥"

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

"अर्थ- शूद्र को शूद्र ही की कन्या से, वैश्य को वैश्य की और शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को शूद्र वैश्य और क्षत्रिय की कन्या से और ब्राह्मण को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की (कन्या से विवाह करलेना भी बुरा नहीं है) ॥" (१२ । १३ श्लोक स्वयं मनु के ही अगले १४ । १५ । १७ । १८ और १९ वें श्लोकों से विरुद्ध हैं) ॥ १३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को आपत्काल में रहतों को भी किसी भी दृष्टान्त में शूद्रा भार्या नहीं बताई गई है ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तोद्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥१५॥

"शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥"

अर्थ-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मोहवश अपने वर्ण से हीन वर्णस्थ स्त्री से विवाह करें तो सन्तानसमेत अपने कुल को शूद्रता को प्राप्त करते हैं ॥१५॥ "शूद्रा से विवाह करने से पतित होता है, यह अत्रि और उतथ्य के पुत्र का मत है । शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है, यह शौनक का मत है । और उस सन्तान के सन्तान होने से पतित हो, यह भृगु का वचन है" । ( स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु का नहीं है ) ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणोयात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते१७दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु । नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

अर्थ-शूद्रा के शय्या पर आरोपण करने से ब्राह्मण नीच गति को प्राप्त होता है और उस के सन्तान उत्पन्न करके तो ब्राह्मणत्व से ही हीन हो जाता है ॥ १७ ॥ और जिस ब्राह्मण ने शूद्रा स्त्री के प्रधानत्व से होम, श्राद्ध और अतिथिभोजन कराया चाहा है, उस का अन्न पितृसंज्ञक और देवतासंज्ञक पुरुष ग्रहण नहीं करते और वह पुरुष स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च। तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥१९॥चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान्। अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

अर्थ-शूद्रा के मुख चुम्बन करने वाले पुरुष की और उस के मुंह की भाफ़ लगने से उस पुरुष और उस से उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती ॥ १९ ॥ चारों वर्णों के परलोक और इस लोक में अच्छे बुरे आठ प्रकार के विवाहों को संक्षेप से सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥२१॥

"योयस्य धर्मोवर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणाऽगुणान् ॥ २२ ॥"

अर्थ-ब्राह्म १ दैव २ आर्ष ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गान्धर्व ६ राक्षस ७ और आठवां पैशाच ८ अतिनिन्दित है ॥ २१ ॥ "जो ( विवाह ) जिस वर्ण को योग्य है और जो गुण दोष जिस में हैं, सो तुम से कहता हूं और सन्तान के गुण दोष भी ( कहता हूं ) ॥ २२ ॥"

"षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोवरान्। विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥ चतुरोब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयोविदुः। राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥"

"अर्थ-ब्राह्मण को क्रम से ( ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व ) छः विवाह धर्म्य हैं और क्षत्रिय को (आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व) चार विवाह श्रेष्ठ हैं। वैश्य और शूद्र को भी ये ही (चारों) विवाह धर्मसम्बन्धी हैं, परन्तु किसी को भी राक्षस विवाह योग्य नहीं ॥२३॥ ब्राह्मण को (ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य) पहले चार विवाह उत्तम हैं। क्षत्रिय को राक्षस विवाह श्रेष्ठ है और वैश्य शूद्र को एक आसुर विवाह उत्तम है ॥ २४ ॥"

"पञ्चानां तु त्रयोधर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह । पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥२५॥ पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ। गान्धर्वोराक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥"

"अर्थ–पांच विवाहों में तीन धर्मसम्बन्धी और दो अधर्मसम्बन्धी हैं। पैशाच और आसुर कभी करने योग्य नहीं हैं॥ २५॥ पहले कहे हुवे न्यारे न्यारे अथवा मिले हुवे गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रियों के धर्मसम्बन्धी कहे हैं।" (२२।२३।२४।२५।२६ श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। क्योंकि प्रथम तो २१ वें में जो ८ विवाह कहे हैं, उन के लक्षण क्रम से २७ वें से वर्णन किये गये हैं। इस लिये उन से ठीक सम्बन्ध मिल जाता है। दूसरे ये श्लोक स्वयं परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि आगे ३९। ४०। ४१ वें श्लोकों में प्रथम के ब्राह्मादि विवाह उत्तम और पिछले ४ निन्दित बताये जांयगे और यही उन के लक्षणों से पाया जाता है। परन्तु उस के विरुद्ध यहां २३ वें में ब्राह्मण को छः विवाह धर्मयुक्त बताये हैं। २५ वें में पैशाच और आसुर को वर्जित किया है, २३ और २४ वें में उन्हें विहित बताया है। इत्यादि बहुत विरोध हैं, जो स्पष्ट हैं)॥ २६॥

**आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। आहूय दानं कन्याया ब्राह्मोधर्मः प्रकीर्तितः॥२७॥ यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते। अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते॥२८॥**

अर्थ–विद्यायुक्त शीलवान् वर को बुला कर वस्त्र तथा भूषणादि से सत्कृत करके कन्यादान करने को "ब्राह्म" विवाह कहते हैं॥ २७॥ (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ में अच्छे प्रकार यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् वर को भूषण पहिरा कर कन्यादान करने को "दैव" विवाह कहते हैं॥ २८॥

**एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥२९॥ सहोभौ चरतं धर्ममिति वाचानुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्योविधिः स्मृतः॥ ३०॥**

अर्थ–एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल (यज्ञादि के निमित्त अथवा कन्या को देने के निमित्त) वर से लेकर शास्त्र में कहे प्रकार से कन्यादान करने को "आर्ष" विवाह कहते हैं (आगे ५३ वें श्लोक में कहेंगे कि यह सब का मत नहीं है और बुरा है)॥२९॥ 'तुम दोनों साथ धर्म के आचरण करो, कन्यादान के समय वाणी से यह प्रार्थना करके जो सत्कारपूर्वक कन्यादान किया जाता है वह "प्राजापत्य" विवाह है॥ ३०॥

ज्ञातिभ्योद्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरोधर्म उच्यते ॥३१॥ इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥३२॥

अर्थ—वर के माता पिता आदि और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो इच्छापूर्वक कन्या देना है, वह "आसुर" विवाह कहा जाता है ॥ ३१ ॥ अपनी इच्छा से कन्या और वर का मिलाप मात्र होना, यह कामियों का मैथुन्य "गान्धर्व विवाह" जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतींगृहात्। प्रसह्यकन्याहरणं राक्षसोविधिरुच्यते॥३३॥सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहोयत्रोपगच्छति। स पापिष्ठोविवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ ३४ ॥

अर्थ—विनाश करके, हस्तपादादि पर चोट मार के, मकान आदि फोड़ के, गाली देती और रोती हुई कन्या को हट से लेजाना "राक्षस" विवाह कहाता है ॥ ३३ ॥ सोती हुई और नशा पी हुई और प्रमादिनी को जहां मनुष्य न हों, विषय करके प्राप्त होना, यह पाप का मूल विवाहों में अधम ८ वां "पैशाच" विवाह है ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

"योयस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्त्तितोगुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतोमम॥ ३६ ॥"

अर्थ—ब्राह्मणों को जल से ही कन्यादान करना श्रेष्ठ है और क्षत्रियादि वर्णों को परस्पर की इच्छामात्र से कन्यादान होता है (जल का नियम नहीं है) ॥३५॥ "इन विवाहों में जो गुण जिस विवाह का मनु ने कहा है, सो संपूर्ण हे ब्राह्मणो! मुझ से सब सुनो" (यह भृगु ने ब्राह्मणों से कहा है) ॥३६॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्। ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥ दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्। आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट् षट् कायोढजः सुतः ३८

अर्थ-ब्राह्मविवाह की कन्या का पुत्र, जो अच्छे कर्म करने वाला होवे तो दश पीढ़ी प्रथम (अपने जन्म से पहिली) और दशपीढ़ी पर (पुत्रादि) तथा अपने को, इस प्रकार इक्कीस को (अपयशरूपी) पाप से छुटाता है ॥ ३७ ॥ और दैव विवाह की स्त्री का पुत्र सात पीढ़ी पहिली और सात अगली तथा ऋषिविवाह की स्त्री का पुत्र तीन पीढ़ी पहिली और तीन अगली और प्राजापत्य विवाह की स्त्री का पुत्र छः पीढ़ी पहिली और छः अगली और अपने को (अपयश) पाप से छुटाता है ॥

(ये दो श्लोक ब्राह्मादि चार विवाहों की प्रशंसा के हैं। यथार्थ में जब किसी कुल में कोई धर्मात्मा प्रतिष्ठित पुरुष उत्पन्न होता है, तो अगले पिछलों के नाम पर कोई बट्टा भी लगा हो तो उस से दब जाता है। और उत्तम विवाह उत्तम सन्तान का हेतु है ही। इस लिये ब्राह्म आदि ४ विवाहों का न्यूनाधिक उत्तमत्व दिखाया गया है) ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥३९॥ रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तोयशस्विनः। पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥४०॥

अर्थ-ब्राह्मादि चार विवाहों में ही क्रम से ऐसे पुत्र होते हैं जो ब्रह्मतेजस्वी और श्रेष्ठ मनुष्यों के प्यारे, ॥ ३९ ॥ रूपवान्, पराक्रमी, गुणवान्, धनवान्, यश वाले, पुष्कल भोग वाले, धर्मात्मा और १०० वर्ष की आयु वाले होते हैं ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः। जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥४१॥ अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत्॥४२॥

अर्थ-शेष दुष्ट विवाहों के सन्तान निर्लज्ज, झूठ बोलने वाले, ब्रह्मधर्मद्वेषी (ब्राह्मणों व धर्मों के शत्रु) उत्पन्न होते हैं ॥४१॥ अच्छे स्त्रीविवाहों से अच्छी और बुरे विवाहों की बुरी सन्तान मनुष्यों के होती है। इस कारण निन्दित विवाहों का त्याग करे ॥ ४२ ॥

"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते। असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने" ॥ ४४ ॥

अर्थ-पाणिग्रहणसंस्कार अपने वर्ण की स्त्री के साथ कहा है और अपने वर्ण से दूसरे वर्ण की स्त्रियों में विवाह कर्म में यह विधि जाननी चाहिये:-॥४३॥उत्तम वर्ण का पुरुष हीन वर्ण की कन्या से विवाह करे तो क्षत्रिय की कन्या को वाण का एक सिरा और वैश्य की कन्या को सांटे का एक सिरा और शूद्र की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिये॥४४॥

( ४३ । ४४ श्लोकों में स्वयं ही कहते हैं कि यह पाणिग्रहण संस्कार नहीं है, जो असवर्णा के साथ हो । और असवर्णा के साथ विवाह करना पूर्व श्लोक ४ के विरुद्ध होने से त्याज्य भी है ) ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतोरतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥४६॥

अर्थ-अपनी स्त्री से ( अमावस्यादि ) पर्ववर्जित दिनों में ऋतुकाल में प्रीतिपूर्वक संभोग करे॥४५॥ स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुकाल की १६ रात्रि हैं जिन में (पहले) चार दिन अच्छे मनुष्यों से निन्दित भी सम्मिलित हैं॥४६

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥४७॥युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥४८॥

अर्थ-उन में चार प्रथम की और ११ वीं और १३ वीं ये छः रात्रि ( स्त्री भोग में ) निषिद्ध हैं और शेष दश रात्रि श्रेष्ठ हैं ॥४७॥ ( उन दशों में भी ) युग्म (छठी आठवीं इत्यादि) में पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म ( सातवीं आदि ) रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती हैं इस कारण पुत्र की इच्छा वाला युग्म तिथियों में ऋतुकाल में स्त्री से संभोग करे ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥ निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ५०

अर्थ-पुरुष का वीर्य अधिक हो तो पुत्र और स्त्री का अधिक हो तो कन्या, जो दोनों का वीर्य बराबर हो तो नपुंसक वा १ कन्या और १ पुत्र

उत्पन्न होता है। वीर्य क्षीण हो अथवा कम हो तो सन्तान नहीं होती ॥४९॥ चार रात्रि ऋतु की, ११ वीं १३ वीं और दो पर्व की इन ८ रात्रियों को त्याग कर, शेष रात्रियों में जिस किसी भी आश्रम में रहता हुवा (स्त्री संभोग करे तौ) ब्रह्मचारी ही है ॥ ५० ॥

नकन्यायापिताविद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि। गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥५१॥स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्तिबान्धवाः।नारीयानानिवस्त्रंवा ते पापायान्त्यधोगतिम्॥५२॥

अर्थ–ज्ञानवान् पिता कन्या का अल्प द्रव्य भी शुल्क=मूल्य ग्रहण न करे। यदि लोभ से मूल्य ग्रहण करे तौ वह मनुष्य सन्तान का बेचने वाला हो ॥५१॥ स्त्रीधन (स्त्री को दिया हुवा धन) वा यान वा वस्त्र को (पति के) जो बान्धव ग्रहण करते हैं, वे पापी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥५२॥

आर्षे गोमिथुनंशुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्। अल्पोऽल्प्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥ यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः। अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥५४॥

अर्थ–आर्षविवाह में गौ के जोड़े का ग्रहण करना जो कोई कहते हैं सो मिथ्या है, क्योंकि बहुत मूल्य हो चाहे थोड़ा परन्तु बेचना तो है ही है ॥५३॥ परन्तु जिन कन्याओं का द्रव्य पित्रादि न लें, वह बेचना नहीं है, किन्तु कन्याओं का पूजन और केवल दया है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥

अर्थ–अपनी बहुत भलाई चाहैं तो पिता, भाई, पति और देवर भी (वस्त्रालङ्कारादि से) इन का पूजन करें ॥ ५५ ॥ क्योंकि जिस कुल में स्त्रियें पूजी जाती हैं, वहां देवता रमते हैं और जहां इन का पूजन नहीं होता, वहां सम्पूर्ण कर्म (यज्ञादि) निरर्थक हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयोयत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्। न शोचन्ति तु

यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥ जामयोयानि गेहानि शपन्त्य-प्रतिपूजिताः। तानिकृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

अर्थ-जिस कुल में स्त्रियें (दुःखित हो) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जहां ये शोक नहीं करतीं वह (कुल) सर्वदा बढ़ता है ॥ ५७ ॥ जिन घरों को अपूजित होकर स्त्रियां शाप देती हैं वे घर कृत्या (विषप्रयोगादि) के से मारे सब ओर से नाश को प्राप्त होजाते हैं ॥५८॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः। भूतिकामैर्नरै-र्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥ सन्तुष्टोभार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ६०

अर्थ-इस लिये ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को भूषण और वस्त्र आदि से अच्छे कामों और विवाहादि में इन (स्त्रियों) का सदा सत्कार रखना उचित है ॥५९॥ जिस कुल में नित्य स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न रहती है उस कुल में निश्चय कल्याण होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसंनप्रमोदयेत्। अप्रमोदात्पुनःपुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥६१॥ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

अर्थ-यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न न कर सके और पुरुष के प्रसन्न न रहने से सन्तान नहीं चलती ॥ ६१ ॥ स्त्री (वस्त्र आभूषणादि से) शोभित हो तो सम्पूर्ण कुल की शोभा है और उस के मलिन होने से सम्पूर्ण कुल मलिन रहता है ॥ ६२ ॥

कुविवाहैःक्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतांयान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः। गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अर्थ-खोटे विवाहों से, कर्म के लोप से और वेद के न पढ़ने से कुल नीचपन को प्राप्त हो जाते हैं और ब्राह्मणों की आज्ञाभङ्ग करने से भी ॥६३॥ शिल्प और व्यवहार से, केवल शूद्र सन्तानों से, गाय, घोड़े और सवारियों से, खेती और राजा की नीची नौकरी से-॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्। कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥६५॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि। कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥६६

अर्थ–और चाण्डालादि को यज्ञ कराने तथा श्रौत स्मार्त कर्मों की अश्रद्धा से और वे कुल जो वेदपाठ से हीन हैं, इन कामों से शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ और वेदों से समृद्ध कुल, चाहे अल्प धन वाले भी हों, परन्तु बड़े कुल की गिनती में गिने जाते हैं और बड़े यश को धारण करते हैं (अर्थात् कुल की प्रतिष्ठा वेदपाठ से है–न कि नौकरी, व्यापार, सवारी और गौ आदि आडम्बर से ) ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥६७॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्॥६८

अर्थ–विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक गृह्योक्त कर्म (सायं प्रातः होमादि) करे और पञ्चयज्ञान्तर्गत बलिवैश्वदेवादि और नित्य करने का पाक भी गृहस्थ (उसी में ) करे ॥ ६७ ॥ ये पांच वस्तु गृहस्थ को हिंसा का मूल हैं–चूल्हा १ चक्की २ बुहारी ३ उलूखल, मूसल ४ जल का घड़ा ५ इन को अपने कामों में लाता हुआ (पाप से ) बन्ध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥६९॥अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७०॥

अर्थ–गृहस्थों के उन पापों के प्रायश्चित्तार्थ महर्षियों ने प्रतिदिन के पांच महायज्ञ रचे हैं॥६९॥ब्रह्मयज्ञ=पढ़ाना और पितृयज्ञ=तर्पण और देवयज्ञ=होम और भूतयज्ञ=भूतबलि और मनुष्ययज्ञ=अतिथिभोजन ( ये ५ हैं ) ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्योमहायज्ञान्न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः। न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥७२॥

अर्थ-जो इन ५ महायज्ञों को अपनी शक्ति भर न छोड़े, वह पुरुष गृह में वसता हुवा भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता ॥७१॥ देवता, अतिथि, भृत्य, माता, पिता आदि और आत्मा इन पांचों को अन्न न दे तौ जीवता हुवा भी मरे के तुल्य है ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च। ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥ जपोऽहुतोहुतोहोमः प्रहुतोभौतिको बलिः। ब्राह्मं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

अर्थ- अहुत १ हुत २ प्रहुत ३ ब्राह्महुत ४ प्राशित ५, ये पांच दूसरे नाम पञ्चमहायज्ञों के (मुनि लोग) कहते हैं ॥७३॥ अहुत=जप, हुत=होम, प्रहुत= भूतबलि, ब्राह्महुत=ब्राह्मण की पूजा, प्राशित=नित्य श्राद्ध (कहाता है) ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवेचैवेह कर्मणि। दैवेकर्मणि युक्तोहि बिभर्त्तीदं चराचरम् ॥७५॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥७६॥

अर्थ-वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सर्वदा युक्त रहे। जो देव=होमकर्म में युक्त है, वह चराचर का पोषण करता है। क्योंकि-॥ ७५ ॥ अग्नि में डाली आहुति आदित्य को पहुंचती है और सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा होती हैं। (इस से जो अग्निहोत्र करता है वह सम्पूर्ण प्रजा का पालन करता है) ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्तेसर्व जन्तवः। तथागृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्तेसर्वआश्रमाः ॥७७॥ यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणोज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृही ॥७८॥

अर्थ-जैसे सम्पूर्ण जीव (प्राणी) वायु के आश्रय से जीते हैं, वैसे गृहस्थके आश्रय (सहारे) से सब आश्रम चलते हैं ॥७७॥ जिस कारण तीनों आश्रम वालों का ज्ञान और अन्न से गृहस्थ ही प्रतिदिन धारण करता है इससे गृहाश्रमी बड़ा है ॥ ७८ ॥

स संधार्यःप्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्योदुर्बलेन्द्रियैः ॥७९॥ ऋषयः पितरोदेवा भूतान्यतिथयस्तथा। आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८०॥

अर्थ-जो दुर्बलइन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता, वह (गृहस्थाश्रम) इस लोक में सुख की इच्छा करने वाले तथा अक्षय सुख (मोक्ष) की इच्छा करने वाले को प्रयत्न से धारण करना चाहिये ॥७९॥ क्योंकि ऋषि, पितर, देव, अन्य जीव तथा अतिथि; ये सब कुटुम्बियों से आशा करते हैं, इस से इन के लिये जानते हुवे को (५ यज्ञ) करने चाहियें ॥८०॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि । पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥८१॥ कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा । पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

अर्थ-स्वाध्याय से ऋषियों, होम से देवताओं, श्राद्धों से पितरों, अन्न से मनुष्यों तथा बलिकर्म से अन्य भूतों को सत्कृत करे ॥८१॥ पितरों से प्रीति चाहने वाला अन्नाद्य, दुग्ध, मूल, फल और जल से प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥८२॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके। न चैवात्राशयेत्किञ्चिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥८३॥ वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् । आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-पञ्चमहायज्ञसम्बन्धी पितृयज्ञनिमित्त (साक्षात् पिता आदि न हो तो चाहे पितृत्वगुणयुक्त छान्दोग्य में कहे अनुसार २४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसुसंज्ञक ब्रह्मचारी जिस की २८४ वें श्लोक में वसु और पितृसंज्ञा करेंगे, उस प्रकार के) एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देवे। परन्तु इस वैश्वदेव के स्थान में किसी को भोजन न करावे ॥ ८३ ॥ गृह्य अग्नि में सिद्ध वैश्वदेव का इन देवताओं के लिये ब्राह्मणादि प्रतिदिन होम करेः-॥८४॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः । विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥ कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च । सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥८६॥

अर्थ-(वे देवता ये हैंः-) अग्नये, सोमाय, इस से पहिले होम करे, फिर दोनों का नाम मिला कर, फिर विश्वेभ्योदेवेभ्यः और धन्वन्तरये, ॥८५॥ और कुह्वै, अनुमत्यै, प्रजापतये, द्यावापृथिवीभ्याम् और अन्त में स्विष्टकृते (इन सब के साथ "स्वाहा" अन्त में लगा कर होम करे) ॥ ८६ ॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा कुर्याद्दिक्षु प्रदक्षिणम्। इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्योबलिं हरेत् ॥८७॥ मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि। वनस्पतिभ्यइत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥८८॥

अर्थ-उक्त प्रकार अच्छी विधि से होम करके, चारों दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से सानुग इन्द्र, यम, वरुण और सोम, इन के लिये बलि दे ॥८७॥ मरुद्भ्यः ऐसा कह कर द्वार, अद्भ्यः ऐसा कह कर जल, वनस्पतिभ्यः ऐसा कह कर उलूखल मुसल निमित्त बलि दे ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियैकुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः। ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥ विश्वेभ्यश्चैवदेवेभ्योबलिमाकाश उत्क्षिपेत्। दिवाचरेभ्योभूतेभ्योनक्तंचारिभ्यएव च ॥ ९० ॥

अर्थ-वास्तु के शिरः प्रदेश छत में श्री के लिये, मकान के पैर=भूमि में भद्रकाली के लिये, ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये घर के बीच में ॥ ८९ ॥ विश्वदेवों के लिये आकाश में, दिवाचर प्राणी तथा रात्रिचरों के लिये भी आकाश में ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्योबलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतोहरेत् ॥ ९१ ॥

अर्थ-मकान के पीछे सर्वात्मभूति के लिये और शेष बलि पितरों को दक्षिण में देवे ॥९१॥ (८७ से ९१ तक ५ श्लोकों में वैश्वदेव बलि का विधान या रीति है। वैश्वदेव शब्द विश्वदेवाः से बना है, जिस का अर्थ यह है कि सब देवों वा प्राणी अप्राणीरूप जगत् के पदार्थों को अपने भोजन से भाग देना। क्योंकि श्लोक ८१ में इस का नाम भूतबलि कह आये हैं और श्लोक ६८ में गृहस्थ को ५ हिंसा लगना कह आये हैं कि चूल्हा चक्की आदि से काम लेते हुवे गृहस्थ पुरुष कुछ न कुछ जगत् की हानि भी करता ही है, उसी के प्रायश्चित्तार्थ उस को सब जगत् के उपकाररूप वैश्वदेव बलि का विधान है। ८४। ८५। ८६ वें श्लोकों में आहुतियों का वर्णन है, वे आहुति उस २ देवता=दिव्यपदार्थ के उपकारार्थ दी जाती हैं। उस २ देवता (अग्नि, सोम आदि में जो २ दिव्य सामर्थ्य है, वह २ दिव्य सामर्थ्य परमात्मा में सर्वोपरि है। इस लिये कोई आचार्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिये इस होम को मानते हैं। और भिन्न

भिन्न देवताके पक्षमें १ अग्नि । २ सोम । ३ अग्नीषोम । ४ विश्वेदेवाः=सब देवता । ५ धन्वन्तरि=रोगनिवारक । ६ कुहू=अमावस्या में चन्द्रोदय होने से विशेष दिनमें विशेष । ७ अनुमति=पौर्णिमा में भी उक्त रीति से । ८ प्रजापति=काम । ९ द्युलोक और भूमिलोक । १० स्विष्टकृत् अग्निः, ये सब पदार्थ वायु के समान सर्वत्र फैले हुवे हैं और मनुष्यादि के शरीर भी इन्हीं से बने हैं और बाह्य जगत् में जब हवन से इनकी उत्तम अवस्था रहती है तब शरीरस्थ देवता, जो सूक्ष्मतत्त्व वा अंश हैं, वे भी भलेप्रकार आप्यायित रहते हैं। जैसे बाहर का वायु शुद्ध पवित्र हो तो शरीरस्थ प्राणादि भी स्वस्थ रहते हैं, वैसे ही बाह्य जगत् के व्याप्त द्रव्य अच्छे रहैं, तभी मनुष्य के भीतरी तत्त्व भी परिष्कृत रह सकते हैं। इस लिये इन मन्त्रों से होम का तात्पर्य उन २ द्रव्यों की तृप्ति पुष्टि शुद्धि आदि से है। और आगे जो बलि लिखी हैं उन २ को भी उस २ देवता=तत्त्व वा द्रव्य की तृप्ति पुष्टि और शुद्धि को निमित्त मानकर (निमित्तार्थ में ही इन श्लोकों की सप्तमी विभक्ति है, न कि अधिकरण में, इस लिये) द्वार आदि स्थानों में भाग रखना आवश्यक नहीं किन्तु पत्तल पर रखकर पीछे श्लोक ९४ के अनुसार गृह्य अग्नि चूल्हे से निकाल कर उस में चढ़ादे। अब यह जानना शेष रहा कि इन २ इन्द्रादि का उस २ पूर्व दिशा आदि से क्या सम्बन्ध है? यद्यपि अपनी बुद्धि के अनुसार हम लिखते हैं और हम से पूर्वले टीकाकारों ने भी अपनी २ समझ के अनुसार लिखा है, परन्तु जितना हम लिखते हैं वा अन्योंने लिखा है, उससे पूरा २ सन्तोष न तो हम को है और न हम यह आशा करते हैं कि अन्यों को होगा परन्तु हम इस सम्बन्ध को यह निश्चय विश्वास करते हैं कि यह आधुनिक कल्पना नहीं है किन्तु बहुत कुछ यह सम्बन्ध वेदों में भी देखा जाता है, उदाहरण के लिये सन्ध्या में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों को देखिये, जिन में से पूर्वादि दिशाओं के साथ विशेष नाम एक प्रकार के क्रम से आये हैं, जो वेदों के अन्य मन्त्रों में भी उस क्रम से प्रायः पाये जाते हैं। इस लिये हम अनुमान करते हैं कि इन्द्र का पूर्व दिशा से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, सोम का उत्तरसे, वायु का ( द्वार में होकर आने से ) द्वारसे, जल का जल से साक्षात्, वनस्पति का ( काष्ठमय वृक्षजन्य ) मूसल उलूखल से, ऊपर का लक्ष्मीसे, पृथ्वी का भद्रकाली-पृथ्वी से, वेदवेत्ता पुरोहितादि और गृहपति का गृहमध्य से और सब सामान्य देवताओं और दिन में तथा रात्रि में

विचरने वाले प्राणियों का आकाश से कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध है। सर्वात्मभूतिका पृष्ठसे तथा पितरोंका दक्षिण से भी ॥ जैसे इन्द्र वरुण यमादि तत्त्वों के विशेष नाम हैं, वैसेही यहां बलिवैश्वदेव में पितरः पदका भी एक प्रकारके आकाशगत तत्त्वोंसेही अभिप्राय है। माता पिता आदि गुरुजनों का तो पृथक् पितृयज्ञ विहित ही है ॥ "वायुकोणमें जल भरा घड़ा रखना, वहीं स्नानगृह और मोरी रखना, अग्निकोणमें वनस्पति शाकादि ऊखली मूसल आदिरखना, ईशानकोण में लक्ष्मी=धन, नैर्ऋत्य में स्त्रीपुरोहितादि वेदपाठियों वा वेदपाठ और गृहपति का, मुख्यतः बीचमें यज्ञशाला, विश्वे देवाः से विशेषतः अग्नि वायु सूर्य का प्रायः आकाश, दिवाचर मक्खी आदि और रात्रिचर दंश मशकादि, जो निकृष्ट मलिन कारण से उत्पन्न होते हैं, उन का अपने विरुद्ध धूम से ऊपर को उड़ने से आकाश, सब प्रकार के अन्नाद्य रखने का मकान के पृष्ठ भाग से सम्बन्ध रखना झलकता है" इत्यादि विचार भी चिन्तनीय हैं। निदान यह, सर्वभूत बलिका तात्पर्य मात्र तो (अहरहर्बलिमित्ते०) इत्यादि अथर्व १९।७।७ और (पुनन्तु विश्वाभूतानि०) इत्यादि यजुः १९।३९ वेदमन्त्रों में भी पाया जाता है कि प्रतिदिन सब भूतों को बलि दे। परन्तु पूर्वादि दिशों के साथ का भेद और (सानुगायेन्द्रायनमः) इत्यादि मन्त्र, वेदमन्त्र नहीं हैं, किन्तु गृह्यसूत्रों और स्मृतिके हैं। इस लिये यह कर्म स्मार्त्त वा गृह्य कहाता है और गृहस्थ का ही कर्त्तव्य है॥हम लोग बहुत काल तक वेद शास्त्रादि में श्रद्धा रखते हुवे यदि यही तप करते चले जायंगे तो आशा है कि भविष्यत में इन सबका पूरा २ भेद जान पड़ेगा। और सब देवता कहानेवाले दिव्य पदार्थों में जो २ ऐसा गुण है, जिससे वह २ पदार्थ (देवो दानाद्वा०) इत्यादि निरुक्त के अनुसार देवता कहाता है, वह २ गुण परमात्मा में अवश्य अनन्तभाव से वर्त्तमान है। इसलिये उस २ देवतावाचक शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना तो निर्विवाद ही है) ॥९१॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥९२॥

कुत्ते, पतित, चण्डाल, पापरोगी, कव्वे, तथा कीड़े; इन को धीरे से भूमि पर भाग डाले (जिस से मिट्टी न लगे) ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं

तेजोमूर्त्तिः पथर्जुना ॥९३॥ कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् । भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो ब्राह्मणादि नित्य सब प्राणियों का सत्कार करता है वह सीधे मार्ग से ज्योतीरूप परमधाम को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥ उक्त प्रकार से बलि कर्म करके अतिथि को प्रथम भोजन करावे और विधिवत् भिक्षा वाले ब्रह्मचारी को भिक्षा देवे ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गांदत्वाविधिवद्गुरोः । तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षांदत्वाद्विजोगृही॥९५॥भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥९६॥

अर्थ–जिस पुण्य का फल, गुरु को गोदान करने से ( शिष्य ) पाता है वही फल ( ब्रह्मचारी को ) भिक्षा देने से द्विज गृहस्थ पाता है ॥ ९५ ॥ भिक्षा वा जलपात्र मात्र ही विधिपूर्वक वेदतत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को सत्कार करके देवे ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥९७॥ विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥९८॥

अर्थ–जो भस्मीभूत (जैसे अङ्गार में से अग्नि निकल कर निस्तेज भस्म रह जाता है, ऐसे ही ब्रह्मवर्चसादिहीन भस्मरूप कथनमात्र के जो ब्राह्मण हैं उन ) ब्राह्मणों को जो दाता लोग अज्ञान से दान करते हैं; उन के दिये हव्य कव्य सब नष्ट हो जाते हैं ॥९७॥ विद्या और तप से समृद्ध विप्रों के मुखरूप अग्नि में हवन करना कठिनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥ शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपिजुह्वतः । सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितोवसन् ॥१००॥

अर्थ–आये हुवे अतिथि के लिये यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक देवे ॥ ९९ ॥ नित्य शिल ( खेत में पीछे से रहे हुवे अनाज के दानों) को बीन कर जीवन करने वाले और (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण,

श्रौत, आवसथ्य) पांच अग्नि में होम करने वाले के भी उपार्जित सब पुण्यों को विना पूजन किया हुवा ब्राह्मण (अतिथि) ले जाता है ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥ एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

अर्थ-( अन्न न हो तौ ) तृणासन, विश्राम के लिये स्थान, जल और चौथे अच्छा बोलना; ये चार बातें तौ सत्पुरुषों के कभी कम रहती ही नहीं ॥ १०१ ॥ एक रात्रि रहने वाला ब्राह्मण अतिथि होता है, क्योंकि नित्य नहीं रहता, इसी से अतिथि कहाता है ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा। उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥१०३॥ उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः। तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१०४॥

अर्थ-(उसी) एक ग्राम में रहने वाले, सहाध्यायी और भार्या तथा अग्नि से युक्त गृहस्थ में रहने वाले ( वैश्वदेव काल में ) उपस्थित विप्र को अतिथि न जाने ॥१०३॥ जो निर्बुद्धि गृहस्थ (भोजन के लालच से) दूसरे के अन्न का सहारा देखते हैं, उस से वे मरने पर अन्नादि देने वाले के पशु बनते हैं ॥१०४॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना। काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥१०५॥ न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्। धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥१०६॥

अर्थ-सायङ्काल के सूर्य छिपने पर भोजन के समय अतिथि प्राप्त हो वा बेसमय (जब कि भोजन हो चुका हो) प्राप्त हो तौ भी उस को भूखा घर में न भेजे ( अर्थात् गृहस्थ यह न कहे कि चले जावो ) ॥ १०५ ॥ जो वस्तु अतिथि को भोजनार्थ न दे, उसे आप भी भोजन न करे। यह अतिथि पूजन धन्य=धनहितार्थ, यश, आयु तथा स्वर्ग का देने वाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्। उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥ वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽति-

थिरावजेत्।तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥१०८॥

अर्थ–आसन और जगह तथा शय्या और अनुव्रज्या ( विदाई ) तथा उपासना ( अरदली ) ये सब, उत्तमों को उत्तम और हीनों को हीन और समों को समानता से करे ॥ १०७ ॥ वैश्वदेव के हो चुकने पर यदि दूसरा अतिथि आजावे, तौ उस को भी यथाशक्ति अन्न देवे, बलिहरण=पूरीपत्तल ( चाहे ) न करे ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्। भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः॥१०९॥न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयोगुरुरेव च ॥११०॥

अर्थ–भोजन के लिये विप्र अपना कुलगोत्र न कहे और जो भोजन के लिये उन्हें कहे तौ उस को विद्वान् लोग वान्ताशी=उगलन खाने वाला कहते हैं ( क्योंकि वह टुकड़ों के लिये बड़ों का सहारा लेता है ) ॥ १०९ ॥ ब्राह्मण के घर क्षत्रिय अतिथि नहीं होता और वैश्य, शूद्र, सखा तथा गुरु भी अतिथि नहीं समझने चाहियें ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियोगृहमाव्रजेत्।भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्॥१११॥वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ । भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्॥११२॥

अर्थ–यदि अतिथिधर्म से क्षत्रिय भी उक्त ब्राह्मणों के भोजन करते हुवे गृह पर आजावे तो उस को भी चाहे भोजन करा देवे ॥ १११॥ और यदि वैश्य शूद्र भी अतिथि होकर प्राप्त होवें तो कुटुम्ब में भृत्यों के सहित उन पर कृपा करता हुआ भोजन करा देवे ॥ ११२ ॥

इतरानपिसख्यादीन्संप्रीत्य।गृहमागतान्।सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सहभार्यया॥११३॥सुवासिनीः कुमारीश्चरोगिणोगर्भिणीःस्त्रियः। अतिथिभ्योऽग्रएवैतान्भोजयेदविचारयन्११४

अर्थ–क्षत्रियादि के अतिरिक्त मित्रादि प्रीति करके घर आजावें तो उनको भी यथाशक्ति सत्कार करके भार्या के सहित भोजन करावे॥११३॥सुवासिनी (जिन का अभी विवाह हुआ हो), कुमारी, रोगी लोग तथा गर्भवती स्त्री, इन को अतिथि के पहिले ही विना विचार भोजन करा देवे ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः। स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः॥११५॥ भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि। भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥११६॥

अर्थ-जो मूर्ख इन को विना दिये पहिले भोजन करता है वह नहीं जानता है कि कुत्ते और गीधों से अपना भक्षण (मरण के अनन्तर) होगा॥११५॥ ब्राह्मण और पोष्यवर्ग ये सब भोजन कर चुकें, तत्पश्चात् बचे को (गृहस्थ) आप और स्त्री भोजन करें॥११६॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः। पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥११७॥ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥११८॥

अर्थ-देव, ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह्योक्त विश्वेदेवाः, इन सब को सत्कृत करके पश्चात् गृहस्थ शेष अन्न का भोजन करने वाला हो॥११७॥ जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है, वह निरा पाप खाता है और जो यज्ञादि से शेष भोजन है, वह सज्जनों का भोजन है॥११८॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान्। अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः॥११९॥ राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ। मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः॥१२०॥

अर्थ-राजा, ऋत्विज्, स्नातक, गुरु, मित्र, श्वशुर, मामा, एक वर्ष के ऊपर फिर आवें तो फिर भी इन का मधुपर्क से पूजन करे॥११९॥ राजा और स्नातक यज्ञकर्म में प्राप्त हों तो मधुपर्क से पूज्य हैं, विना यज्ञ के नहीं॥१२०॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते॥१२१॥

अर्थ-सायंकाल में रसोई होने पर स्त्री विना मन्त्र बलि करे। क्योंकि वैश्वदेव नाम कृत्य का गृहस्थ को सायं प्रातः विधान किया है॥१२१॥

"पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥१२२॥"

" अर्थ—अग्निहोत्री अमावस्या में पितृयज्ञ करके " पिण्डान्वाहार्यक" श्राद्ध प्रतिमास किया करे " ॥

(यहां श्लोक १२२ से श्लोक १६९ तक "मृतकश्राद्ध" का वर्णन है। हमारी सम्मति में यह सभी प्रकरण प्रक्षिप्त है। १७० में उत्तम व्रती ब्राह्मणादि की प्रशंसा और विरुद्धों की निन्दा का प्रकरण कहेंगे, जो मृतपितरों से सम्बद्ध नहीं है। इस लिये उस से १२१ वें श्लोक का ठीक सम्बन्ध मिल जाता है। इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानने के हेतु ये भी हैं—१—इन श्लोकों के संस्कृत की शैली मनु के सी नहीं, किन्तु पुराणों के सी है। २—यह मासिक श्राद्ध का ( जो अमावस्या में है ) विधान है। जब नित्य श्राद्ध कह चुके तब अमावस्या भी आगई, इस लिये व्यर्थ है। ३—श्लोक १२३ में आमिष=मांस से इस का विधान है, जो देव ऋषि पितरों का भोजन नहीं, किन्तु "यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् " (मनु ११। ९५) मद्यमांसादि यक्ष राक्षसादि का भोजन है। कोई लोग "आमिष" पद से "भोज्य वस्तु" का ग्रहण करते हैं और जीवतों का ही श्राद्ध वर्णित कहते हैं, परन्तु मेधातिथि आदि ६ टीकाकार आमिष=मांस ही लिखते हैं। ४—और रामचन्द्र टीकाकार ने इस के आगे एक यह श्लोक और लिख कर व्याख्या की है कि—

[ न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृकोद्विजः ।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥ ]

अर्थात् जिस द्विज के माता पिता मर गये हों और प्रतिमास अमावस्या को श्राद्ध न करे वह प्रायश्चित्ती होता है॥ इस से यह झलकता है कि यह प्रकरण मृतक श्राद्ध का ही है। यह श्लोक अन्य ५ टीकाकारों ने नहीं लिखा, न ३० पुस्तकों में से एक पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में है। इस से पाया जाता है कि रामचन्द्र सब से पिछले टीकाकार हैं, उन्हीं के समय में यह मिला हुआ था, पूर्व ५ टीकाकारों के समय में नहीं था। १२४ वें श्लोक का फिर यह कहना कि जिन अन्नों से जैसे और जितने ब्राह्मण भोजन कराने हैं, उन्हें कहेंगे, व्यर्थ है क्योंकि ११३ में मांस से जिमाना कह चुके हैं। ५—पितृ निमित्त में ब्राह्मणों की गिनती का विधान भी मृतकश्राद्ध का ही सूचक है। ६—१२७ वें में स्पष्ट ही इसे प्रेतकृत्या लिखा है। ७—१३६ वें में पण्डित के

पुत्र मूर्ख ब्राह्मण की उत्तमता और मूर्ख के पुत्र विद्वान् की भी निन्दा अन्याय और पक्षपातपूर्ण है । ८-१४६ वें में एक ब्राह्मण के भोजन से ७ पुरुषाओं की असंभव तृप्ति वर्णित है । ९-१४९ वें में दैव कर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करना अन्याय है । १०-१५० वां श्लोक स्पष्ट मनु का नहीं, अन्यकृत है । ११-१५२ वें में मांस बेचने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराना कहा है । इस से जाना जाता है कि उस श्लोक के बनते समय ब्राह्मण मांस खाना क्या बेचने का भी पेशा करने लगे थे । १२-१५३ से १६७ तक जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध में वर्जित किया है उन में बहुतों के ऐसे कर्म कहे हैं जो श्राद्ध में ही क्या किसी भी कार्य में सत्कारयोग्य नहीं, किन्तु राजदण्ड के योग्य हैं)॥१२२॥

" पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः । तच्चामिषेण कर्त्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥ तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः । यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा । भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥ सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः । पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये । तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्येव लौकिकी ॥ १२७ ॥ श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः । अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् । पुष्कलं फलमाप्नोति नाऽमन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥ दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥"

अर्थ-पितरों के मासिक श्राद्ध को पण्डित अन्वाहार्य जानते हैं । उस को श्राद्धविहित सर्वथा अच्छे मांस से करे॥१२३॥ उस श्राद्ध में जो भोजन योग्य ब्राह्मण हैं और जो त्याज्य हैं और जितने और जिस अन्नसे जिमाने चाहियें यह सम्पूर्ण मैं आगे कहूंगा ॥१२४॥ देवश्राद्ध में दो और पितृश्राद्ध में तीन ब्राह्मण वा देवश्राद्ध में और पितृश्राद्ध में एक २ को भोजन करावे । अच्छा समृद्ध (यजमान) भी विस्तार न करे ॥१२५॥ अच्छी पूजा, देश, काल, पवित्रता और श्राद्धोक्त गुण वाले ब्राह्मण; इन पांचों को विस्तार नष्ट करता है, इस

से विस्तार न करे ॥ १२६ ॥ यह जो पितृकर्म है, सो प्रेतकत्या विख्यात है। अमावस्या के दिन उसमें युक्त होने वाला पुरुष नित्य के लौकिक श्राद्धों के फल को प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ देने वाले लोग श्रोत्रिय को ही हव्य और कव्य देवें और अधिक पूज्य को देवें तो बड़ा फल है ॥१२८॥ देवकर्म (यज्ञादि) में और पितृकर्म (श्राद्ध) में एक ही एक ब्राह्मण को भोजन करावे तो भी बहुत फल को प्राप्त होता है और बहुत मूर्ख ब्राह्मणों के जिमाने से नहीं ॥ १२९ ॥ प्रथम ही से एक संपूर्ण वेद की शाखाओं के पढ़ने वाले ब्राह्मण की परीक्षा करले, वह हव्य कव्यों का पात्र है, देने में अतिथि कहा है ॥ १३० ॥"

"सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते । एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥ ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च । न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ १३२ ॥ यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् । तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलानयोगुडान् ॥ १३३ ॥ ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठास्तथापरे । तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथा परे ॥ १३४ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥ अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः । अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥ ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता । मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥ न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः । नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८ ॥ यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च । तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविष्षु च ॥ १३९ ॥ यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः । स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥ संभोजनीयाभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः । इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥ यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् । तथाऽनृचे हविर्दत्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥ दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फल-

भागिनः । विदुषे दक्षिणां दत्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥ कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् । द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् । १४४ । यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् । शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥ एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः । पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥ "

"अर्थ-जिस श्राद्ध में वेद के न जानने वाले दश लक्ष ब्राह्मण भोजन करते हों, वेद का जानने वाला सन्तुष्ट हो तो वह एक उन सब के बराबर फल देता है॥ १३१ ॥ विद्या से उत्कृष्ट को हव्य और कव्य देना चाहिये। क्योंकि रक्त से भरे हुवे हाथ रक्त ही से शुद्ध नहीं होते ॥१३२॥ वेद का न जानने वाला जितने ग्रास हव्य कव्य के खाता है उतने ही मरने पर जलते हुवे शूल और लोह के गोले खाता है * ॥१३३॥ कोई द्विज आत्मज्ञानपरायण होते हैं और

( * यह भी ज्ञात हो कि श्लोक १३३ के भाष्य में मेधातिथि जो अन्य पांच भाष्यकारों से प्राचीन हैं, लिखते हैं किः—

व्यासदर्शनात्तु भोजयितुरयं दोषः, न भोक्तुः, न पितॄणां; न तावन्मृतानामन्यकृतेन प्रतिषेधातिक्रमेण दोषसम्बन्धो युक्तः । अकृताभ्यागमादिदोषापत्तेः । यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः कोऽपराधो मृतानाम्? ननु चोपकारोऽपि पुत्रकृतः पितॄणामनेन न्यायेन न प्राप्नोति? न प्राप्नुयाद्यदि तादर्थ्येन श्राद्धादि नोदितं स्यात्। इह तु नास्ति चोदना॥ इत्यादि )

अर्थात् व्यासस्मृति से तो भोजन कराने वाले को यह दोष है, न भोजन करने वाले और न पितरों को। क्योंकि मरों को अन्य के किये अपराध का फल युक्त नहीं है। ऐसा हो तो अकृताभ्यागम=विना कर्म किये फल भोगादि दोष प्राप्त होगा। क्योंकि पुत्र ने ऐसे ब्राह्मण को भोजन कराया, इस में मरे पितरों का क्या अपराध है? तो फिर ऐसे न्याय से तो पुत्र का किया श्राद्धरूप उपकार भी पितरों को न मिलना चाहिये ? हां, जो मरों के लिये विधान किया हो तो नहीं मिल सकता। परन्तु यहां तो मरों के लिये विधि नहीं है ॥ ( इत्यादि)

दूसरे तपस्तत्पर होते हैं और कोई तप अध्ययनरत होते हैं और कोई यज्ञादि कर्म में तत्पर होते हैं १३४ इन में ज्ञाननिष्ठ को श्राद्धों में यत्नपूर्वक भोजन देवे, अन्य यज्ञों में क्रम से चारों को भी भोजन देदे १३५ जिस का पिता वेद न पढ़ा हो और पुत्र पढ़ा हो या जिसका पुत्र न पढ़ा हो और पिता वेद जाननेवाला हो—॥१३६॥ इन में श्रेष्ठ उसको जानो, जिस का पिता श्रोत्रिय हो। परन्तु वेद पूजन को दूसरा योग्य है ॥१३७॥ श्राद्ध में मित्र को भोजन न करावे, धन से इस का सत्कार करे और जिस को न तो मित्र जाने, न शत्रु, ऐसे द्विज को श्राद्ध में भोजन करावे ॥१३८॥ जिस के श्राद्ध और हवि मुख्यतः मित्र खाते हैं उस को पारलौकिक फल न श्राद्धों का है, न यज्ञों का॥ १३९ ॥ जो मनुष्य अज्ञानवश श्राद्धद्वारा मित्रता करता है वह अधम श्राद्ध मित्र द्विज स्वर्गलोक से पतित होता है ॥ १४० ॥ वह दानप्रक्रिया द्विजों ने पैशाची कही है कि जिस किसी के आप ने भोजन किया है, उसी को परस्पर जिमाना, यह इसी लोक में फल देने वाली है, जैसे अन्धी गौ एक ही घर में खड़ी रहती है (दूसरी जगह नहीं जाती) ॥ १४१ ॥ जैसे ऊसर भूमि में बीज बोने से बोने वाला फल नहीं पाता, वैसे विना वेद पढ़े को हवि देकर देने वाला फल नहीं पाता ॥१४२॥ वेद जानने वाले ब्राह्मण को यथाशास्त्र दिया हुवा दान, दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को इस लोक और परलोक में फल का भागी करता है ॥१४३॥ श्राद्ध में मित्र को चाहे बैठा देवे, परन्तु शत्रु विद्वान् हो तो भी उसे न बैठावे, क्योंकि जो द्वेषभाव से भक्षण किया हवि है, वह परलोक में निष्फल होता है ॥ १४४ ॥ पूर्ण ऋग्वेदी को श्राद्ध में भोजन करावे, उसी प्रकार सशाख यजुर्वेदी और जो सम्पूर्ण सामवेद पढ़ा है और जिसने वेद समाप्त किया है, ऐसे ब्राह्मण को यत्नपूर्वक भोजन करावे ॥१४५॥ इन में से कोई ब्राह्मण अच्छे प्रकार पूजित किया हुवा जिस के श्राद्ध में भोजन करता है, उस के पितरों की निरन्तर सात पुरुष तक तृप्ति होती है ॥ १४६ ॥"

"एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः॥१४७॥मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् । दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥१४८॥ न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् । पित्र्ये कर्मणि तु

श्राद्धे परीक्षेत प्रयत्नतः ॥१४९॥ ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः । तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥ जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा । याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥ चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा । विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥ प्रेष्योग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥ यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः। ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥ कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च । पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥ भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा । शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥ "

" अर्थ-हव्य और कव्य के देने में यह मुख्य कल्प कहा और इस के अभाव में आगे जो कहते हैं उस को अनुकल्प जाने। वह साधुओं से सर्वदा अनुष्ठान किया गया है ॥ १४७ ॥ इन १० मातामहादि को भोजन करावे नाना १ मामा २ भानजा ३ ससुर ४ गुरु ५ धेवता ६ जंवाई ७ मौसी का लड़का ८ ऋत्विज् ९ तथा याज्य अर्थात् यज्ञ कराने योग्य १० ॥१४८॥ चाहे धर्म का जानने वाला यज्ञ में भोजन के लिये ब्राह्मण की परीक्षा न करे, परन्तु श्राद्ध में यत्नपूर्वक परीक्षा करे ॥१४९॥ जो चोर महापातकी नपुंसक और नास्तिक वृत्ति वाले हैं, ये विप्र मनु ने हव्य कव्य के अयोग्य कहे हैं ॥१५०॥ जटाधारी परन्तु वेपढ़ा, दुर्बल, जुवारी और वहुत उद्यादन कराने वाला, इन सब को श्राद्ध में भोजन न करावे ॥१५१॥ वैद्य, पुजारी, मांस का बेचने वाला और वाणिज्य से जीने वाला, ये सब हव्य और कव्य में निषिद्ध हैं ॥१५२॥ ग्राम और राजा का हलकारा, कुनखी, काले दांत वाला, गुरु के प्रतिकूल चलने वाला, अग्निहोत्र का छोड़ने वाला, व्याजजीवी, ॥ १५३ ॥ क्षयरोगी, वृत्ति के लिये गाय, भैंस, बकरी इत्यादि का पालने वाला, परिवेत्ता, नित्यकर्मानुष्ठान से रहित, ब्राह्मण का द्वेष करने वाला, परिवित्ति ( देखो १७१ ) समुदाय के द्रव्य से अपना जीवन करने वाला, ॥१५४॥ कथा

की वृत्ति करने वाला, जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हुवा हो, शूद्रा से विवाह करने वाला, पुनर्विवाह का लड़का, जिस की स्त्री का जार हो, ॥ १५५ ॥ वेतन लेकर पढ़ाने वाला और उसी प्रकार पढ़ने वाला, जिस गुरु का शूद्र शिष्य हो, कटु बोलने वाला, कुण्ड, गोलक ( देखो १७४ ) ॥ १५६ ॥ "

" अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा । ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥१५७॥ अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी । समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः १५८ पित्रा विवदमानश्च कितवोमद्यपस्तथा । पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥१५९॥ धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः । मित्रध्रुग्द्यूत वृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥१६०॥ भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा । उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥१६१॥ हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥ स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः । गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥ श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च । हिंस्रो वृषल-वृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥ आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा । कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च १६५ औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा । प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥ एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् । द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥ ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति । तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥ अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः । दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥१६९"

"अर्थ—बिना कारण माता पिता गुरु का त्यागने वाला, पतितों से अध्ययन और कन्यादानादि सम्बन्ध वाला, ॥ १५७ ॥ घर का जलाने वाला, विष देने वाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, सोम बेचने वाला, समुद्र पार

जाने वाला, राजा की स्तुति करने वाला, तेली और झूठा साक्षी, ॥१५८॥ पिता से लड़ने वाला, धूर्त्त, मद्य पीने वाला, कुष्ठी, कलङ्की, दम्भी, रस बेचने वाला, ॥ १५९ ॥ धनुष बाण का बनाने वाला, (बड़ी बहिन से पहिले जिस छोटी का विवाह होता है वह अग्रेदिधिषू कहाती है) अग्रेदिधिषू का पति, मित्र से द्रोह करने वाला, जूवे का रोज़गार करने वाला, पुत्र से पढ़ा हुवा, ॥१६०॥ मिरगी वाला, गण्डमाली, श्वेत कोढ़ वाला, चुगलख़ोर, उन्माद रोग वाला, और अन्धा, ये वर्जित हैं। और वेद की निन्दा करने वाला, ॥ १६१ ॥ हाथी बैल घोड़ा और ऊंट को सीधा चलना सिखाने वाला, ज्योतिषी, पक्षियों का पालने वाला, युद्ध विद्या सिखाने वाला, ॥ १६२ ॥ नहर आदि को तोड़ने वाला, उस का बन्द करने वाला, गृह-वास्तु विद्या से जीविका करने वाला, दूत, वृक्षों का उगाने वाला, ॥१६३॥ कुत्तों से खेलने वाला, बाज़ खरीदने बेचने वाला, कन्या से गमन करने वाला, हिंसा करने वाला, शूद्रवृत्ति वाला, (विनायकादि) गणों की पूजा कराने वाला, ॥१६४॥ आचार से हीन, नपुंसक, नित्य भीख मांगने वाला, खेती करने वाला, पीलिया रोग वाला और जो सत्पुरुषों से निन्दित हो, ॥१६५। मेंढ़ा और भैंस से जीने वाला, द्वितीया विवाहिता का पति, प्रेत का धन लेने वाला, ये (ब्राह्मण) यत्नपूर्वक (श्राद्ध में) वर्जनीय हैं ॥ १६६ ॥ इन निन्दित आचार वाले और पङ्क्तिबाह्य अधमों को द्विजों में श्रेष्ठ विद्वान्, देव और पितृकर्मों में त्याग देवे ॥१६७॥ विना पढ़ा ब्राह्मण फूंस की अग्नि के समान ठण्डा होजाता है। इस से उस ब्राह्मण को हवि न देवे, क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता ॥१६८॥ पङ्क्तिबाह्य ब्राह्मणों को देवताओं के हव्य और पितरों के कव्य देने में दाता को जो देने के ऊपर फल होता है, वह सम्पूर्ण मैं आगे कहूंगा ॥ १६९ ॥"

अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥१७०॥

अर्थ-वेदव्रतरहित ब्राह्मण और (वक्ष्यमाण) परिवेत्ता आदि वा और कोई (चोर इत्यादि) पङ्क्तिबाह्यों ने जो भोजन किया, उस को राक्षस भोजन कहते हैं ॥ १७० ॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परीवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥१७१॥ परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥१७२॥

अर्थ-जो कनिष्ठ, ज्येष्ठ भ्राता के रहते उस से प्रथम विवाह और अग्निहोत्र करे, उस को "परिवेत्ता" और ज्येष्ठ को "परिवित्ति" जानो ॥ १७१ ॥ परिवित्ति और परिवेत्ता और वह कन्या तथा कन्या का देने वाला और याजक=विवाह का आचार्य, ये पांचों सब नरक को जाते हैं ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥१७३॥ परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः१७४

अर्थ-मरे भाई की भार्या से धर्मानुसार नियोग भी किया हो परन्तु उससे जो कामवश होकर प्रीति करे, उसे दिधिषूपति जानो ॥१७३॥ पर स्त्री से उत्पन्न हुये दो पुत्रों को कुण्ड और गोलक कहते हैं । पति के जीवते जो हो वह कुण्ड और मरने पर हो वह गोलक है (१६० से यहां तक भी चिन्त्य हैं) ॥ १७४ ॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च । दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥ आपङ्क्त्योयावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति । तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥ वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥ यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः । तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥१७८॥ वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् । विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥ सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् । नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥"

"अर्थ-देने वाले के हव्य और कव्यों को इस लोक और परलोक में वे जो दूसरे के क्षेत्र में उत्पन्न हुवे हैं, नष्ट करते हैं ॥"

( श्लोक १७५ से फिर असम्बद्ध परस्पर विरुद्ध मृतकश्राद्ध के श्लोक चलते हैं। १७६-१८२ तक में पङ्क्तिबाह्यों के भोजन कराने का फल नष्ट कह कर १८३-१८६ तक पङ्क्तिपावन ब्राह्मण गिनाये हैं। जब कि पङ्क्तिपावन पङ्क्ति को पवित्र कर देता है तो श्लोक १७७ का यह कहना वृथा है कि अन्धा ब्राह्मण अपनी दृष्टि से ९० वेदपाठियों के जिमाने के फल को नष्ट करता है, काणा ६० के, श्वेतकुष्ठी १०० के, और पापरोगी १००० के फल को नष्ट करता है। फिर भला पङ्क्तिपावनता क्या रही? अन्धे आदि ही बलवान् रहे और अन्धा देख भी नहीं सकता, इस लिये भी १७६ वां श्लोक असम्भव दोषयुक्त है। १७९ में कहा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण भी पङ्क्तिबाह्य के साथ लोभ से प्रतिग्रह ले तो नष्ट होजाता है और वेदज्ञ को १८४ वें में पङ्क्तिपावन कहा है। यह परस्पर विरोध है। १८७ वें में १, २ वा ३ ब्राह्मण श्राद्ध में लिखे हैं और पूर्व भी विस्तार को वर्जित किया है तो फिर ६०। ९०। १००। १००० जब श्राद्ध में जिमाये ही नहीं जाते तब फलनाश किन का होगा। १८८ वें में श्राद्ध जिमाने और जीमने वाले को उस दिन वेद पढ़ने का निषेध भी चिन्तनीय है। १९४ में विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि, उन के पुत्र पितर लिखे हैं। फिर मनुष्यों के मृत माता पिता आदि का उद्देश्य कहां रहा। १९५ से १९७ तक भिन्न जातियों के सोमसदादि भिन्न २ पितर कहे हैं, तब मनुष्यजाति का सबका श्राद्ध व्यर्थ है। २०१ से २८३ तक मृतकश्राद्ध की विधि और उन मांसों का वर्णन है जिन से इन कल्पित पितरों की तृप्ति की कल्पना की गई है। जब मृतकश्राद्ध ही वेदविहित नहीं तब उस के विधानादि स्मृत्युक्त सभी निष्फल और दुष्फल है और तृतीयाध्याय के अन्तिम श्लोक २८६ में कहा है कि यह "पञ्चमहायज्ञ का विधान वर्णन किया गया" इस से भी पाया जाता है कि बीच के २८३ तक कहे मृतक पितरों के मासिकादि श्राद्ध प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि पञ्चमहायज्ञ तो गृहस्थ का नैत्यिक कर्म है, नैमित्तिक नहीं ) ॥ १७५ ॥

" पङ्क्ति के अयोग्य पुरुष अपाङ्क्त्य पूर्वोक्त चोरादि, जितने भोजन करते हुवे श्रोत्रियादि को श्राद्ध में देखते हैं, उतनों का फल भोजन कराने वाला मूर्ख नहीं पाता ॥ १७६ ॥ अन्धा देखकर दाता के ९० श्रोत्रियादि ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है और काणा ६० का, श्वेत कोढ़ वाला १०० का और पापरोगी १००० ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है ॥१७७॥ शूद्र का यज्ञ कराने वाला, अङ्गों से जितने श्राद्ध में भोजन करने वालों को

हुवे, उतनों का पूर्तसम्बन्धी श्राद्ध का फल दाता को न होगा ॥१७८॥ वेद का जानने वाला भी विप्र, शूद्रयाजक के साथ लोभ से प्रतिग्रह लेकर शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे कच्चा बरतन पानी में नष्ट हो जाता है ॥१७९॥ सोमविक्रयी को जो हव्य कव्य देवे तो विष्ठा होती है और वैद्य को देवे तो पीव रक्त और पुजारी को देने से नष्ट होता है, तथा व्याजवृत्ति को देवे तो अप्रतिष्ठित होता है ॥ १८० ॥"

"यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् । भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥ इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥१८२॥ अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः । तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥ अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च । श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥ त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् । ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥१८५॥ वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः । शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८६ ॥ पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥ निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा । न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद् भवेत् ॥ १८८ ॥ निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् । वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥ केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः । कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥ आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते। दातुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥१९१॥ अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः । न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥ यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषा-

मप्यशेषतः । ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः । तेषामृषीणां सर्वेषां

पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥"

अर्थ–बनिये की वृत्ति करने वाले ब्राह्मण को देवे तौ यहां तथा परलोक में कुछ फल नहीं, जैसे राख में घी जलाना वैसे पुनर्विवाह के लड़के को देवे तो राख के होमवत् व्यर्थ है ॥ १८१ ॥ और इतर अपाङ्क्तयों को देने में मेद रक्त मांस मज्जा हड्डी होती हैं। ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥१८२॥ असाधुओं से भ्रष्ट पङ्क्ति जिन द्विजोत्तमों से पवित्र होती है, उन पङ्क्तियों के पवित्र करने वाले सब द्विजश्रेष्ठों को सुनों ॥१८३॥ जो चारों वेदों के जानने वाले और वेदके संपूर्ण अङ्गों को जानने वाले, श्रोत्रिय, परंपरा से वेदाध्ययन जिन के होता है उन को पङ्क्तिपावन जाने ॥१८४॥ कठोनिषद् में कहे व्रत को त्रिणाचिकेत कहते हैं, उसको करने वाला भी त्रिणाचिकेत कहलाता है और पूर्वोक्त पञ्चाग्नि वाला, वैसे ही ऋग्वेद के ब्राह्मणोक्त व्रत करने वाला त्रिसुपर्ण कहलाताहै और छःअङ्गों का जाननेवाला और ब्राह्मविवाहित स्त्री से उत्पन्न हुआ और साम के आरण्यक (गान विशेष) का गाने वाला, इन को पङ्क्ति पावन जाने ॥ १८५ ॥ वेद के अर्थ को जानने वाला और उसी का पढ़ाने वाला और ब्रह्मचारी और सहस्र गोदान करने वाला और सौ वर्ष, का इन को भी पङ्क्ति के पवित्र करने वाले जाने ॥ १८६ ॥ श्राद्ध के प्रथम दिन वा उसी दिन यथोक्त गुण वाले ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक तीन वा न्यून को निमन्त्रण देवे ॥ १८७ ॥ श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण श्राद्ध के दिन नियम वाला होवे और वेदाध्ययन न करे। ऐसे ही श्राद्ध करने वाला भी ॥१८८॥ पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायुतुल्य उन के पीछे चलते हैं और बैठों के पास बैठे रहते हैं ॥ १८९ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मण हव्य कव्य में यथाशास्त्र निमन्त्रित किया हुआ निमन्त्रण स्वीकार करके फिर किसी प्रकार भोजन न करे तौ उस पाप से जन्मान्तर मेंसूकर होवेगा ॥१९०॥ जो ब्राह्मण श्राद्ध में निमन्त्रित हुआ शूद्रा स्त्री के साथ मैथुन करे वह श्राद्ध करने वाले के संपूर्ण पाप को पाता है ॥१९१॥ क्रोधरहीत, भीतर बाहर से पवित्र, निरन्तर जितेन्द्रिय, हथियार छोड़े हुवे और दयादि गुणों से युक्त पूर्व देवता पितर हैं ॥१९२॥ इन सब पितरों की जिस से उत्पत्ति है और जो पितर जिन नियमों

से पूजित होते हैं, उन नियमों को सम्पूर्णतया सुनो ॥१९३॥ स्वायम्भुव मनु के पुत्र मरीच्यादि हैं और उन के पुत्रों को पितृगण कहा है ॥ १९४ ॥ ”

“ विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः । अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥ दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः । वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥१९७॥ सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरस्सुताः । पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥ अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥ य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्त्तिताः । तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥ ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः । देवेभ्यस्तु जगत् सर्वं चरस्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥ राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः । वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२॥ देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३॥ तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् । रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्॥२०४॥ दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् । पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥ शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् । दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥ अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि । विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥ आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक् । उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥ उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् । गन्धमाल्यैः सुरभि-

भिरर्चयेद्दैवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥ तेषामुदकमानीय सुपवित्रांस्तिलानपि । अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणोब्राह्मणैः सह ॥२१०॥"

"अर्थ–विराट् के पुत्र सोमसद् नामवाले साध्यों के पितर हैं । मरीचि के पुत्र लोकविख्यात अग्निष्वात्त देवों के पितर हैं ॥ १९५ ॥ बर्हिषद् नाम अत्रि के पुत्र, दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं ॥१९६॥ सोमपा नाम ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के हविर्भुज तथा वैश्यों के आज्यपा नाम और शूद्रों के सुकालिन् पितर कहे हैं ॥ १९७ ॥ भृगु के पुत्र सोमपा और अङ्गिरा के पुत्र हविष्मन्त और पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा और वसिष्ठ के सुकालिन्, ये पितर इन ऋषियों से उत्पन्न हुवे ॥१९८॥ अग्निदग्ध अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त तथा सौम्यों को ब्राह्मणों के पितर कहा है ॥ १९९ ॥ ये इतने तो पितरों के गण मुख्य कहे हैं, परन्तु इस जगत् में उन के पुत्र पौत्र अनन्त जानने ॥२००॥ ऋषियों से पितर हुवे और पितरों से देवता तथा मनुष्य हुवे और देवतों से ये सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम क्रम से हुवे ॥ २०१ ॥ चांदी के पात्रों से या चांदी लगे पात्रों से पितरों को श्रद्धा करके दिया पानी भी अक्षय सुख का हेतु होता है ॥२०२॥ ( इन श्लोकों में पाया जाता है कि मरे हुवे पिता आदि पितर नहीं है ) द्विजातियों को देवकार्य से पितृकार्य अधिक कहा है । क्योंकि देवकार्य पितृकार्य का पूर्वाङ्ग तर्पण सुना है ॥ २०३ ॥ पितरों के रक्षा करने वाले देवताओं का श्राद्ध में प्रथम स्थापन करे, क्योंकि रक्षक रहित श्राद्ध को राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४ ॥ श्राद्ध में प्रारम्भ और समाप्ति दोनों देवता पूर्वक करे, पित्रादि पूर्वक न करे । पित्रादिपूर्वक करने वाला शीघ्र वंशसहित नष्ट हो जाता है ॥२०५॥ एकान्त और पवित्र देश को गोबर से लीपे और दक्षिण की ओर को नीची वेदी प्रयत्न से बनावे ॥ २०६ ॥ खुली जगह और पवित्र देश वा नदी के तीर पर या निर्जन देश में श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं ॥२०७॥ उस देश में कुशसहित अच्छे प्रकार अलग२ बिछाये हुवे आसनों पर स्नान आचमन किये हुवे अनिन्दित [illegible] को बैठावे ॥२०८॥ अनिन्दित ब्राह्मणों को आसन पर [illegible] सुगन्धित गन्धमाल्यों से देवपूर्वक पूजे ( अर्थात् प्रथम देवस्थान [illegible] को पूज करपश्चात् पितृस्थानीय ब्राह्मणों की पूजा करे ) ॥ २०९ ॥

उन ब्राह्मणों का पवित्री और तिलों से युक्त अर्घ्योदक लाकर ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण अग्नि में होम करे ॥ २१० ॥

"अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविर्दानेन विधिवत्पश्चात् संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥ अग्न्यऽभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । योह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥ अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातनान् । लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥ अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् । अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥ त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥ न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥ आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् । षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥ उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः । अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥ पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः । तेनैव विप्रानासीनान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥ ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥ पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः । पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥२२१॥ पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः । कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥ तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकं । तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥२२३॥ पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् । विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥ उभयोर्हस्त

योर्भुक्तं यदन्नमुदनायते । तद्धिप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥२२५॥ गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयोदधि घृतं मधु । विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥"

"अर्थ–प्रथम यथाविधि होम करके अग्नि सोम यम का पर्युक्षणपूर्वक तर्पण करके पश्चात् पितरों को तृप्त करे ॥ २११ ॥ अग्नि के अभाव में होम न करे तौ ब्राह्मण के हाथ पर (उक्त तीन) आहुति देदेवे क्योंकि जो अग्नि है वही ब्राह्मण है, ऐसा मन्त्र के जानने वाले कहते हैं ॥२१२॥ क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त वाले और वृद्ध तथा लोगों की वृद्धि में उद्योग करने वाले द्विजोत्तमों को श्राद्धपात्र कहते हैं ॥ २१३ ॥ अपसव्य से अग्नौकरणादि होम और अनुष्ठानक्रम करके पश्चात् दक्षिण हाथ से भूमि पर पानी डाले ॥२१४॥ उस होमद्रव्य के शेष से तीन पिण्ड बनाके जल वाली विधि से दक्षिणमुख होकर स्वस्थचित्त से (कुशों पर) चढ़ावे ॥२१५॥ विधिपूर्वक उन पिण्डों को (दर्भों पर) स्थापन करके इन दर्भों के ऊपर लेपभागी पितरों की तृप्ति के लिये हाथ पूंछ डाले ॥ २१६ ॥ अनन्तर उत्तरमुख होकर आचमन और ३ प्राणायाम शनैः२ करके मन्त्र का जानने वाला षट्ऋतुओं और पितरों को भी नमस्कार करे ॥२१७॥ एकाग्रचित्त वाला पिण्डदान के पात्र में जो शेष पानी बचा हो, उस को पिण्डों के समीप धीरे२ छोड़े । सावधान हुवा जिस क्रम से पिण्डों को रक्खा था उसी क्रम से सूंघे ॥२१८॥ क्रम के साथ प्रत्येक पिण्ड से थोड़ा२ भाग लेकर विधि के साथ उन्हीं अल्प भागों को भोजन के समय ब्राह्मणों को प्रथम खिलावे ॥२१९॥ पिता जीता हो तौ बाबा आदि का ही श्राद्ध करे वा पिता के स्थान में अपने (जीवते) पिता को भोजन करा देवे ॥२२०॥ पिता जिस का मरगया हो और बाबा जीता हो, तौ पिता का नाम उच्चारण करके, प्रपितामह का उच्चारण (श्राद्ध में) करे ॥ २२१ ॥ वा उस श्राद्ध में जीते पितामह को भोजन करावे, ऐसा मनु कहते हैं वा पितामह की आज्ञा पाकर जैसा चाहे वैसा करे ॥२२२॥ उन (ब्राह्मणों) के हाथ में सपवित्र तिलोदक देकर पितृ पितामह प्रपितामह के साथ "स्वधा अस्तु" ऐसा उच्चारण करता हुवा क्रम से वह पिण्ड का अल्प भाग देवे ॥२२३॥ परिपक्व अन्नों के पात्रों को अपने हाथों से "वृद्धिरस्तु" कह कर पितरों का स्मरण करता हुवा ब्राह्मणों के समीप धीरे २ रक्खे ॥२२४॥ (ब्राह्मणों को)

दोनों हाथों से न लाये हुवे अन्न को अकस्मात् दुष्ट बुद्धि वाले असुर छीन खाते हैं, ( इससे एक हाथ से लाकर न रक्खे ) ॥२२५॥ चटनी दाल तरकारी इत्यादि नाना प्रकार के व्यञ्जन दूध दही घृत और मधु को पवित्र होकर तथा स्वस्थचित्त से प्रथम ( पात्र सहित ) भूमि पर रक्खे ॥ २२६ ॥

"भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च । हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥२२७॥ उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः । परिवेषयेत प्रयतोगुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥ नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् । न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥२२९॥ अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीनऽनृतं सुनः । पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥२३०॥ यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्द्याद्मत्सरः । ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥२३१॥ स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ॥२३२॥ हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः । अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥२३३॥ व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् । कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥२३४॥ त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः । त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥२३५॥ अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥२३६॥ यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥२३७॥ यद्वेष्टितशिराभुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः । सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥२३८॥ चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च । रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥२३९॥ होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते । दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥२४०॥ घ्राणेन सूकरो हन्ति

पक्षवातेन कुक्कुटः। श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनाऽवरवर्णजः ॥२४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्। हीनातिरिक्त-

गात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥"

"अर्थ–नाना प्रकार के भक्ष्य भोजन, मूल, फल और हृदय के मांस और सुगन्धियुक्त पीने के द्रव्य ॥२२७॥ ये सम्पूर्ण अन्न धीरे से ब्राह्मणों के समीप लाकर पवित्रता और स्वस्थचित्त से सब के गुण कहता हुआ परोसे ॥२२८॥ ( श्राद्ध के समय में ) रोदन और क्रोध न करे तथा झूंठ न बोले और अन्न में पैर न लगावे और अन्न को न फेंके ॥२२९॥ रोने से वह अन्न प्रेतों को मिलता है और क्रोध करने से शत्रुओं को प्राप्त होता है और असत्य भाषण से कुत्तों को पहुंचता है तथा पैर लगाने से राक्षस खाते हैं और फेंका हुआ पापी पाते हैं ॥२३०॥ और जो २ अन्न ब्राह्मणों को अच्छा लगे वह २ देवे। मत्सरतारहित होकर ईश्वरसम्बन्धी बात करे क्योंकि पितरों को यही इष्ट है ॥२३१॥ वेद धर्मशास्त्र और आख्यान तथा इतिहास पुराण इत्यादि श्राद्ध में सुनवावे ॥२३२॥ प्रसन्नचित्त हुआ आप ब्राह्मणों को प्रसन्न करे और अन्न से जल्दी न करता हुआ भोजन करावे और मिष्टान्न के गुणों से ब्राह्मणों को प्रेरणा करे ॥२३३॥ श्राद्ध में दौहित्र ( नाती ) ब्रह्मचारी हो तो भी यत्न से भोजन करावे। बैठने को नेपाली कम्बल देवे और श्राद्धभूमि में तिल डाले ॥३४॥ श्राद्ध में तीन पवित्र हैं–नाती, कम्बल और तिल। और तीन प्रशंसा के योग्य हैं–१ क्रोध का न करना, २ पवित्रता तथा ३ जल्दी न करना ॥२३५॥ बोलना बन्द करके ब्राह्मण भोजन करें। भोजन योग्य जो पदार्थ हैं वे सब उष्ण ( गरम ) होने चाहियें और श्राद्ध करने वाला भोजनों का गुण पूछे तो भी विप्र न बोलें ॥ २३६ ॥ जब तक अन्न उष्ण है और जब तक मौन-युक्त भोजन करते हैं और जब तक भोजन के गुण नहीं कहे जाते तब तक पितर भोजन करते हैं ॥२३७॥ सिर बांधे हुवे जो भोजन करता है और दक्षिणमुख जो भोजन करता है तथा जूता पहरे जो खाता है, वे सब राक्षस भोजन करते हैं ( पितर नहीं ) ॥ २३८ ॥ चाण्डाल, सूकर, मुरगा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक, ये सब भोजन करते हुवे ब्राह्मणों को न देखें, ॥ २३९ ॥ अग्निहोत्र, दान, ब्रह्मभोज, देवकर्म वा पितृकर्म में जो ये देखें तौ

यह सब निष्फल हो जाता है ॥ २४० ॥ सूकर ( उस अन्न को ) सूंघने से (कर्म को) निष्फल करता है। परों की हवा से मुरगा और देखने से कुत्ता और छूने से शूद्र निष्फल कर देता है ॥२४१॥ जिस का पैर मारा गया हो या काणा वा दाता का दास हो वा न्यून या अधिक अङ्ग वाला हो, उसको भी ( श्राद्ध के स्थान से ) हटा देवे ॥ २४२ ॥ ”

"ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् । ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥ सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा। समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥२४४॥ असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् । उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥ उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च। दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥२४६॥ आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७॥ सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः। अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥२४८॥ श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति । स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥ श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति। तस्याः पुरीषे तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥२५०॥पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः।आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥२५१॥ स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्। स्वधाकारः परं ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥२५२॥ ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्। यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥२५३॥ पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्। संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥ अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः।सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥२५५॥ दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च

सर्वशः । पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥२५६॥ मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् । अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥ विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः । दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान् पितॄन् ॥ २५८ ॥ ”

“अर्थ—भिक्षुक वा ब्राह्मण उस काल में भोजनार्थ प्राप्त हो तो उस का भी ब्राह्मण की आज्ञा पाकर यथाशक्ति पूजन करे (भोजन करावे या भिक्षा देवे ) ॥ २४३ ॥ सर्व प्रकार के अन्नादि को एकत्र करके पानी से छिड़क कर भोजन किये हुवे ब्राह्मणों के आगे दर्भ पर बखेरता हुआ रक्खे ॥ २४४ ॥ संस्कार के अयोग्य मरे बालकों तथा त्यागियों और कुलस्त्रियों का उच्छिष्ट कुश पर का भाग विकिर (२४४ में कहा) है ॥२४५॥ जो कि भूमि पर गिरा श्राद्ध में उच्छिष्ट है वह दासों के समुदाय का भाग है । ऐसा मनु कहते हैं। परन्तु वह दाससमुदाय सीधा हो और कुटिल न हो ॥२४६॥ मरे द्विजों को सपिण्डी तक वैश्वदेवरहित श्राद्धान्न (ब्राह्मण को) जिमावे और एक पिण्ड देवे ॥ २४७ ॥ परन्तु धर्म से सपिण्डी होजाने पर पुत्रों को उक्त प्रकार से पिण्डप्रदान करना चाहिये ॥ २४८ ॥ जो श्राद्धोच्छिष्ट को भोजन करके शूद्र को देता है वह मूर्ख कालसूत्र नाम नरक को जाता है, जिस का नीचे को शिर और ऊपर को पैर होते हैं ॥२४९॥ जो श्राद्धान्न को भोजन करके उस दिन वेश्याप्रसङ्ग करता है उस के पितर उस वेश्या के विष्ठा में उस महीने तक लेटते हैं ॥२५०॥ तृप्त ब्राह्मण को “अच्छे भोजन हुआ” ऐसा पूछकर आचमन करावे, पश्चात् आचमन कियों को “आराम कीजिये” ऐसा कहे ॥ २५१ ॥ इस कहने के अनन्तर ब्राह्मण श्राद्धकर्त्ता के प्रति “स्वधा अस्तु” ऐसा कहें । क्योंकि सब श्राद्धकर्म में स्वधा शब्द का उच्चारण परम आशीर्वाद है ॥ २५२ ॥ स्वधा शब्द के उच्चारणाऽनन्तर निवेदन करे कि “ यह शेष अन्न है” । तब ब्राह्मण इस को जैसा कहें वैसा करे ॥२५३॥ पितृश्राद्ध में “स्वदितम्”=खूब भोजन किया, ऐसा कहे और गोष्ठ श्राद्ध में “ सुश्रुतम् ” ऐसा कहे और अभ्युदय श्राद्ध में “संपन्नम्” इस प्रकार कहे और दैवश्राद्ध में “रुचितम्” ऐसा कहे ॥२५४॥ दोपहर का समय, दर्भ और गोबर से लेपन, तिल और

उदारता से अन्नादि का देना और अन्न का संस्कार और पूर्वोक्त पङ्क्तिपावन ब्राह्मण, ये श्राद्ध की सम्पत्ति हैं ॥२५५॥ दर्भ और पवित्र और पहला पहर और सब मुनियों के अन्न और जो पूर्वोक्त पवित्र, ये हव्य की सम्पत्ति जानो ॥२५६॥ मुनियों के अन्न, दूध, सोमलता का रस, मांस जो पकाया नहीं गया और सैन्धव नमक को स्वभाव से हवि कहते हैं ॥२५७॥ उन ब्राह्मणों को विसर्जन करके एकाग्रचित्त और पवित्र, मौनी, दक्षिण दिशा में देखता हुआ, पितरों से अपने अभिलषित ये वर मांगे कि— ॥ २५८ ॥

"दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धा च नो माऽव्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥ [ * अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि। याचितारश्च न सन्तु मा स्म याचिष्म कञ्चन ॥ १ ॥ श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्यो द्विजाऽधमः। प्रयाति सूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ॥ २ ॥ ] एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्। गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥ पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते। वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥ पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥ आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्। धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥ प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्। ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥२६४॥ उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः। ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते। पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥ तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा। दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥ द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान्हारिणेन तु। औरभ्रेणाथ चतुरः

शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥ षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥ दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः । शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥ "

" अर्थ–हमारे कुल में देने वाले, वेद और पुत्र पौत्रादि बढ़ें और श्रद्धा हमारे कुल से न हटे और धनादि बहुत होवें ॥

[ * हमारे अन्न बहुत होवे, हम अतिथियों को भी पावें, हमसे मांगने वाले हों और हम किसी से न मांगें ॥ जो ब्राह्मणाऽधम श्राद्ध भोजन करके उस दिन दूसरी वार भोजन करता है वह सूकर वा कीड़े की योनि पाता है। इस में संशय नहीं ॥ ] ( ये दो श्लोक तौ बहुत ही थोड़े दिनों से मिलाये गये हैं क्योंकि इन में पहला श्लोक पुराने लिखे ३० में से ७ पुस्तकों में है २३ में नहीं तथा राघवानन्द और रामचन्द्र इन दो ने ही इस पर टीका किया है, औरों ने नहीं और दूसरा श्लोक ३० में केवल १ लिखित पुस्तक में ही मिलता है, शेष २९ में नहीं। इस पर टीका भी किसी ने नहीं की) ॥२५९। उक्त प्रकार से पिण्डदान करके उन पिण्डों को गाय, ब्राह्मण, बकरा वा अग्नि को खिलावे वा पानी में डाल देवे ॥२६०॥ कोई ब्राह्मण भोजन के अनन्तर पिण्डदान करते हैं और कोई पक्षियों को पिण्ड खिलाते हैं और दूसरे अग्नि वा पानी में डालते हैं ॥२६१॥ सजातीय विवाहिता, पतिव्रत धर्म की करने वाली, श्राद्ध में श्रद्धा रखने वाली, लड़के की इच्छा करने वाली स्त्री उन ३ में से विधियुक्त वीच के पिण्ड का भक्षण करे ॥२६२॥ ( उस पिण्डभक्षण से ) दीर्घायु, कीर्ति और यश धारण करने वाला, भाग्यवान्, सन्तति वाला, सत्वगुणी, धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न करती है ॥२६३॥ हाथों को धोकर आचमन करके, जाति वालों को भोजन करावे। सत्कारपूर्वक जाति वालों को अन्न देकर, भाइयों को भी भोजन करावे ॥२६४॥ वह ब्राह्मणों का उच्छिष्ट अन्न, ब्राह्मणों के विसर्जन तक रहे, उस के अनन्तर वैश्वदेव करे। यह धर्म की व्यवस्था है ॥ २६५ ॥ जो हवि पितरों को यथाविधि दिया हुवा बहुत कालपर्यन्त और अनन्त तृप्ति देता है वह सम्पूर्ण आगे कहते हैं:–॥२६६॥ तिल, धान्य, यव, उड़द, जल, मूल और फल विधिवत् देने से मनुष्यों के पितर एक मास पर्यन्त तृप्त होते हैं ॥२६७॥

मछली के मांस से दो महीने तक और हरिण के मांस से तीन महीने, मेढ़ा के मांस से चार महीने, पक्षियों के मांस से पांच महीने (तृप्त रहते हैं। क्या अब भी मृतकश्राद्ध को मांसप्रिय न मानियेगा?) ॥२६८॥ और बकरे के मांस से छः महीने, चित्र मृग के मांस से सात महीने, एण मृग के मांस से आठ महीने और रुरु मृग के मांस से नौ महीने ॥२६९॥ सूकर और भैंसे के मांस से दश महीने तृप्त रहते हैं और शशा तथा कछवे के मांस से ग्यारह महीने (तृप्ति रहती है) ॥२७०॥"

"संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च। वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥ कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु । आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥ यत्किंचिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् । तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥ अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् । पायसं मधु सर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥ यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक्श्राद्धसमन्वितः । तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥२७५॥ कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥ युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते । अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥ यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥ प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥ रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा । सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥२८०॥ अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥२८१॥ न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते । न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः" २८२.

"अर्थ-गाय के दूध वा उस की खीर से १ वर्ष पर्यन्त और वाध्रीणस (लम्बे कान वाले बकरे ) के मांस से बारह वर्ष तृप्ति रहती है ॥ २७१ ॥ कालशाक, महाशल्क ( मछलियों के भेद हैं ) और गैंडा, लाल बकरा, मधु और संपूर्ण मुनियों के अन्न अनन्त तृप्ति देते हैं । २७२ ॥ वर्षा काल की मघायुक्त त्रयोदशी में श्राद्धनिमित्त ( ब्राह्मण को ) जो कुछ मधुयुक्त देवे, उस से अक्षय तृप्ति होती है ॥ २७३ ॥ इस प्रकार का कोई हमारे कुल में हो, जो हम को चतुर्दशी में दूध मधु घृत से युक्त भोजन देवे या हस्ती की पूर्व दिशा की छाया में देवे (यह पितर आशा करते हैं) ॥२७४॥ अच्छे श्राद्धयुक्त जो कुछ विधिपूर्वक पितरों को देता है वह परलोक में पितरों की अक्षय तृप्ति के लिये होता है ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर चतुर्दशी छोड़कर ये तिथि श्राद्ध में जैसी प्रशस्त हैं वैसी और नहीं ॥ २७६ ॥ युग्मतिथि और युग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला संपूर्ण इष्ट पदार्थों को प्राप्त होता है । अयुग्म तिथि और अयुग्म नक्षत्रों में श्राद्ध करने वाला पुत्रादि सन्तति को पाता है ॥ २७७ ॥ जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष श्राद्धादि करने में अधिक फल का देने वाला है, वैसे ही पहिले पहर से दूसरे पहर में अधिक फल होता है ॥२७८॥ दहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत करके, आलस्यरहित हो, कुशा हाथ में लेकर, अपसव्य हो, शास्त्रानुसार सब पितृसम्बन्धी कर्म मृत्युपर्यन्त करे ॥२७९॥ रात्रि में श्राद्ध न करे । उस (रात्रि) को राक्षसी कहा है और दोनों संध्याओं तथा सूर्योदय से (छः घड़ी वा) थोड़ा दिन चढ़े तक समय में भी श्राद्ध न करे॥२८०॥ इस विधि से एक वर्ष में तीन वार-हेमन्त ग्रीष्म वर्षा में श्राद्ध करे । और पञ्चयज्ञान्तर्गत श्राद्ध को प्रतिदिन करे ॥२८१॥ श्राद्धसम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं कहा है और आहिताग्नि ब्राह्मणादि को अमावास्या से अतिरिक्त तिथि में श्राद्ध नहीं कहा है ॥ २८२ ॥"

"यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥२८३॥"

"अर्थ-जो द्विज स्नान करके जल से ही पितृतर्पण करता है, उसी से संपूर्ण नित्यश्राद्ध का फल पाता है ॥ २८३ ॥"

**वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान् ।**
**प्रपितामहांश्चादित्यान्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥**

पितर=वसुवों और पितामह=रुद्रों और प्रपितामह=आदित्यों को कहते हैं। यह सनातन से सुनते हैं॥ ( इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् ३।१२ में भी लिखा है जो देखने योग्य है-

पुरुषोत्रात्र यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिर्वर्षाणि तत् प्रातः सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातः सवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः, प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति१ अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः, प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति३ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती, जागतं तृतीयसवनं, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः, प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह है कि मनुष्य भी एक यज्ञ है। जैसे यज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन वा तृतीयसवन, ये ३ सवन होते हैं, ऐसे ही मनुष्यदेहयात्रा रूप यज्ञ के २४। ४४। ४८ वर्ष ३ सवन हैं। गायत्री के २४ अक्षर हैं। प्रातःसवन का भी गायत्री छन्द है, उस में इस के प्राण वसु-संज्ञक होते हैं। ४४ अक्षर का त्रिष्टुप्छन्द है और माध्यन्दिन सवन का भी त्रिष्टुप्छन्द है। उस में इस के प्राण रुद्र संज्ञक होते हैं। और ४८ अक्षर का जगती छन्द है और तृतीयसवन का भी जगती छन्द है। उस में इस के प्राण आदित्यसंज्ञक होते हैं ( निदान २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रतधारी के प्राण वसु, ४४ वर्ष वाले के रुद्र और ४८ वाले के आदित्य कहाते हैं। ये ब्रह्मचारी यज्ञस्वरूप हैं और क्रम से पिता पितामह और प्रपितामह के समान सत्करणीय हैं ) ॥ २८४॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः। विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥२८५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्। द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥

अर्थ–सर्वदा विघस भोजन करने वाला वा अमृत भोजन करने वाला होवे। ( ब्राह्मणादिकों के ) भोजन के शेष को विघस कहते हैं और यज्ञशेष को अमृत कहते हैं ॥ २८५ ॥ यह पञ्चयज्ञानुष्ठान की सब विधि तुम से कही। अब द्विजों में मुख्य ( ब्राह्मण ) की वृत्तियों का विधान सुनो ॥ २८६ ॥

## इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां ) तृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ओ३म्

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाऽऽद्यंगुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ—आयु के प्रथम चौथाई भाग ( १०० वर्ष प्रमाण से चौथाई पच्चीस वर्ष ) द्विज गुरुकुल में निवास करके आयु के द्वितीय भाग में गृस्थाश्रम को धारण करे ॥ १ ॥ जिस वृत्ति में जीवों को पीड़ा न हो वा अल्प पीड़ा हो, ऐसी वृत्ति को धारण करके आपत्ति रहित काल में विप्र निर्वाह करे ॥ २॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः। अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥३॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राणरक्षण, शास्त्रानुसार कुटुम्बपोषण और नित्यकर्मानुष्ठान मात्र के लिये अपने अनिन्दित कर्मों से तथा शरीर में क्लेश न करके धनसञ्चय करे ॥ ३ ॥ ऋत—अमृत वा मृत—प्रमृत से वा सत्य—अनृत से जीवन करे परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी नहीं ॥ ४ ॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्। मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥ सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते। सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—उञ्छ और शिल को ऋत, न मांगने की वृत्ति को अमृत और मांगी हुई भिक्षा को मृत तथा कृषि को प्रमृत जानना चाहिये ॥५॥ इन से या सत्यानृत=वाणिज्यवृत्ति से जीवे। और सेवा कुत्ते की वृत्ति कही है इस से उसे वर्जित करे ॥ ६ ॥

कुशूलधान्यकोवा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिकोवाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥७॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्। ज्यायान्परः परोज्ञेयो धर्मतोलोकजित्तमः ॥८॥

अर्थ–कोठार में धान्य का सञ्चय करने वाला हो, वा घड़े भर अन्न सञ्चय वाला हो, या दिनत्रय के निर्वाहमात्र का सञ्चय करने वाला हो, या कल को भी न रखने वाला हो ॥ ( ७ वें के आगे ३० में से केवल एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है–

सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससञ्चयिकोऽपि वा ।

षण्माससनिचयोवापि समानिचय एव वा ॥ १ ॥

अर्थात्–तुरन्त हाथ धो डालने वाला, वा एक मास वा छः मास वा १ वर्ष के लिये धान्यादि सञ्चय करने वाला होवे ॥ १ ॥

यथार्थ में मनु के लेखानुसार गुण कर्म स्वभावयुक्त ब्राह्मण हों और तदनुसार ही उन की जीविका का भार क्षत्रिय वैश्यों पर रहे तो संचय की ब्राह्मणों को कुछ आवश्यकता नहीं है ) ॥ ७ ॥ उन चार गृहस्थ द्विजों में एक से दूसरा, फिर तीसरा, इस क्रम से श्रेष्ठ ( अर्थात् जितना जिस के कम संग्रह हो उतना वह श्रेष्ठ है ) धर्म से लोक का अत्यन्त जीतने वाला समझना चाहिये ॥ ८ ॥

**षट्कर्मैकोभवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते। द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥ वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः । इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवलानिर्वपेत्सदा॥१०॥**

अर्थ–इन में कोई गृहस्थ षट्कर्मों से जीता है (ऋत, अयाचित, भिक्षा, कृषि, वाणिज्य और कुसीद से ) और कोई तीन कर्मों से जीता है (याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ) और कोई दो ( याजन और अध्यापन ) से और कोई एक ( पढ़ाने ) ही से ॥ ९ ॥ शिलोञ्छों से जीवन करता हुआ केवल सदा अग्निहोत्र और पर्व तथा अयन के अन्त में इष्टि=यज्ञ करे ॥ १० ॥

**न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोःकथञ्चन। अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥ संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥**

अर्थ–जीविका के लिये लोकवृत्त (नाटकादि) कभी न करे किन्तु असत्य और दम्भादि से रहित पवित्र जीविका, जो कि ब्राह्मण को कही है, करे ॥ ११ ॥ सुखार्थी सन्तोष से रहकर स्वस्थचित्त रहे, क्योंकि सन्तोष ही सुख का कारण है और तृष्णा दुःख का हेतु है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः। स्वर्ग्यायुष्य यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥ वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यंकुर्यादतन्द्रितः। तद्धिकुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोतिपरमांगतिम्

अर्थ-इन में कोई सी वृत्ति से निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज, स्वर्ग आयु और यश देने वाले इन व्रतों का धारण करे-॥ १३ ॥ अपना वेदोक्त कर्म नित्य आलस्यरहित होकर यथाशक्ति करे क्योंकि उस को करता हुआ निश्चय परम गति ( मोक्ष ) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः। अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-गाने बजाने आदि से शास्त्रविरुद्ध किसी कर्म से द्रव्योपार्जन न करे। द्रव्य होने पर भी न करे और कष्ट में भी इधर उधर से ( पतितों ) द्रव्यों का उपार्जन न करे ॥ ( ९ प्राचीन लिखित पुस्तकों में उत्तरार्ध इस प्रकार है कि-न कल्प्यमानेष्वर्थेषु नान्त्यादपि यतस्ततः ) ॥ १५ ॥ संपूर्ण इन्द्रियों के अर्थों ( शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ) में इच्छा से न फंसे। इन की बहुत आसक्ति को मन से हटा देवे ( मेधातिथि के भाष्य में-सन्निवर्त्तयेत्= सन्निवेशयेत्। पाठ है ) ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्यविरोधिनः। यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च। वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह॥१८॥

अर्थ-वेदाध्ययन के विरोधी जितने अर्थ हैं, सब को छोड़ देवे। जैसे बने वैसे वेदाध्ययन से निर्वाह करे, यही उस की कृतकृत्यता है ॥१७॥ आयु क्रिया, धन, विद्या और कुल, इन के अनुरूप वेष वाणी और समझ आचरण करता हुआ इस जगत् में रहे ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥१९॥ यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथातथाविजानाति विज्ञानं चास्यरोचते२०

अर्थ—शीघ्र बुद्धि के बढ़ाने वाले, धन के सञ्चय कराने वाले और शरीर को सुख देने वाले, शास्त्रों को और वेद के अर्थ जताने वाले शास्त्रों को भी नित्य देखे ॥ १९ ॥ जैसे २ मनुष्य अच्छे प्रकार शास्त्र का अभ्यास करता है, वैसे २ शास्त्र को जानता जाता है और इस की विज्ञान रुचता जाता है ॥

( ३० में से १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है कि—

शास्त्रस्य पारङ्गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।
तच्छास्त्रं शवलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः॥ १ ॥

अर्थात् शास्त्र के पार को प्राप्त होकर भी वार२अभ्यास करता रहे। उस शास्त्र को उज्वल करे, न कि पढ़ कर फिर छोड़ दे ) ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः । अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥२२॥

अर्थ—स्वाध्यायादि पञ्चयज्ञों को यथाशक्ति कभी न छोड़े ॥ २१ ॥ कोई यज्ञशास्त्र के जानने वाले पुरुष इन पञ्चमहायज्ञों को (ब्रह्मयज्ञ के अभ्यास से) बाह्य चेष्टा से निरन्तर रहित हुए पञ्चज्ञानेन्द्रियों में ही संयम करते हैं ॥ २२॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तोयज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥२३॥ ज्ञानेनैवापरेविप्रायजन्त्येतैर्मखैःसदा। ज्ञानमूलांक्रियामेषां पश्यन्तोज्ञानचक्षुषा ॥२४॥

अर्थ—कोई वाणी का प्राण में और प्राण का वाणी में हवन करते हैं और इन्हीं में यज्ञ की अक्षय फलसिद्धि देखते हैं (अर्थात् प्राणायाम और मौन धारण करते हैं ) ॥ २३ ॥ ज्ञानचक्षु से इन क्रियाओं को ज्ञानमूलक जानने वाले दूसरे विप्र इन यज्ञों को ज्ञान से ही करते हैं ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥२५॥

"सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥"

अर्थ–दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्धमास के अन्तमें आमावास्या और पूर्णिमा में क्रमशः दर्शेष्टि और पौर्णमास यजन करे ॥२५॥ नवीन अन्न की उत्पत्ति में नवीन धान्य से नवसस्येष्टि करे, ऋतुओं के अन्त में अध्वर याग करे और अयन के आदि में पशु से याग करे और वर्ष के अन्त में सोमयाग करे॥ मेधातिथि के भाष्य में पाठभेद भी है–पशुना त्वयनस्यादौ। इस से भी यह नवीन प्रक्षेप संशयित होता है ) ॥२६॥

" नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः। नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनाऽनर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः। प्राणानेवाऽत्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २८ ॥ "

"अर्थ–अग्निहोत्री ब्राह्मणादि दीर्घ आयु की इच्छा करनेवाला नवीन अन्न से इष्टि किये विना नवान्नभक्षण न करे और पशुयाग किये विना मांस भक्षण न करे॥२७॥ नवीन अन्न और पशु से यजन किये विना अग्नि इनके प्राणों को खाने की इच्छा करते हैं, क्योंकि अग्नि नवीन अन्न और मांस के अत्यन्त अभिलाष वाले हैं॥" ( इस प्रसङ्ग में पशुयाग का अर्थ पशु के घृतादि से यज्ञार्थ लेकर कोई लोग २६ वें का समाधान करते हैं, परन्तु आगे २७ वें के अर्थवाद में मांस का वर्णन आने से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह लीला हिंसकों की है। यज्ञदेवकार्य है और मनु एकादशध्याय में मांस को दैवभोजन नहीं, किन्तु राक्षसी वा पैशाच भोजन कहेंगे। इस लिये यह श्लोक हमारी सम्मति में मनु के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं) ॥२८॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा। नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥२९॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्। हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥३०॥

अर्थ–आसन भोजन शय्या जल मूल वा फल से यथाशक्ति विना पूजन किया कोई अतिथि इस ( गृहस्थ ) के घर में न रहे ॥२९॥ परन्तु पाखण्डी और निषिद्ध कर्म करने वालों, बिडालव्रत वालों, शठों, वेद में श्रद्धा न रखने वालों और बकवृत्ति वालों को वाणीमात्र से भी न पूजे ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान्गृहमेधिनः। पूजयेद्धव्यकव्येन

विपरीतांश्च वर्जयेत्॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना। संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥३२॥

अर्थ-वेदविद्या की समाप्ति करने वाले और व्रत को सम्पूर्ण करने वाले तथा श्रोत्रिय गृहस्थों को हव्य कव्य से पूजित करे और इन से विपरीतों को नहीं ॥३१॥ गृहस्थ यथाशक्ति पाक न करने वाले ( संन्यासी वा ब्रह्मचारी ) को भिक्षा देवे और सम्पूर्ण जीवों को विना रुकावट के जलादि भाग देवे ॥३२॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा। याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यतइति स्थितिः ॥३३॥ न सीदेत्स्नातकोविप्रः क्षुधाऽशक्तः कथंचन। न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति॥३४॥

अर्थ-क्षुधा से पीडित स्नातक राजा से और यजमान वा शिष्य से द्रव्य की इच्छा करे, अन्य से न मांगे। इस प्रकार की शास्त्र मर्यादा है ॥ ३३ ॥ स्नातक ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित कभी न रहे और धन पास होने पर पुराना मैला वस्त्र न रक्खे ॥ ३४ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥३५॥ वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥३६॥

अर्थ-केश, नख, दाढ़ी मुंडाये हुवे ( ऐसी हजामत बनवाया करे ) और इन्द्रियों का दमन करने वाला, श्वेतवस्त्रधारी और पवित्र रहे और नित्य वेद पाठ तथा आत्मा का हित किया करे ॥ (यह प्राचीनकालीन रहन सहन (एटीकेट) है, जो मनु ने अपने समय में नियमबद्ध किया था। इस में से जो २ बातें धर्माऽधर्म में कारण हैं, वे वे ग्राह्य अग्राह्य हैं। शेष देशकाल की रीति नीति मात्र थी जो बहुत सी अब आवश्यक नहीं रहीं ) ॥ ३५॥ बांस की छड़ी, जल भरा लोटा, यज्ञोपवीत, वेदपुस्तक और अच्छे सोने के दो कुण्डल धारण करे ॥ ३३ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम्॥३७॥ न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति। न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥३८॥

अर्थ-उदय और अस्त होते हुवे सूर्य को कभी न देखे, ग्रहों से मिलने पर और जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब और बीच आकाश में भी सूर्य को न देखे ( इस से दृष्टि की हानि होती है )॥ ३७ ॥ और बछड़े के बंधे होते उस के रस्से को न लांघे, पानी वर्षते में न दौड़े, अपना स्वरूप पानी में न देखे ऐसा नियम है ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने। समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

अर्थ-मिट्टी के टीलों, गौवों, यज्ञशालाओं, ब्राह्मणों, घृत और मधु के समूहों, चौराहों, और बड़े प्रसिद्ध २ वनस्पतियों को दक्षिण ओर करके जावे ॥ ३९ ॥ कामार्त्त पुरुष भी रजस्वला स्त्री के पास न जावे और उसके साथ बराबर विछौने पर भी न सोवे ॥ ४० ॥

रजसाभिलुप्तां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्। प्रज्ञा तेजोबलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ-रजस्वला स्त्री के पास जाने वाले पुरुष की प्रज्ञा तेज, बल, आंख, तथा आयु नष्ट होती है ॥ ४१ ॥ उसी ( रजस्वला ) के पास न जाने वाले की प्रज्ञा, तेज, बल, आंख की दृष्टि और आयु बढ़ती है ( ४ पुस्तकों में-प्रज्ञा लक्ष्मीर्यशश्चक्षुः पाठ है ) ॥ ४२ ॥

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। क्षुवतीं जृम्भमाणां वा नचासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे नचाभ्यक्तामनावृताम्। नपश्येत्प्रसवन्तींच तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

अर्थ-तेज चाहने वाला भार्या के साथ भोजन न करे, इस को भोजन करते हुए भी न देखे तथा छींकती, जंभाई लेती हुई और आराम से बैठी हुई को भी न देखे ( इस से लज्जाभङ्ग का भय है ) ॥ ४३ ॥ अपने नेत्रों में अञ्जन करती हुई, बिना कपड़ों नङ्गी तैलादि लगाती हुई, बच्चा जन्मती हुई को तेज की इच्छा करने वाला ब्राह्मणादि न देखे ॥ ( चार पुस्तकों

और रामचन्द्र के टीके में ४४ से आगे यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् ।
सरहस्यं च सम्वादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥

अर्थात् स्नातक विद्वान् पराई नग्न स्त्री के समीप न जावे और न देखे और पर स्त्रियों में एकान्त संवाद वर्जित करे ) ॥ ४४ ॥

नाश्नीयादेकवासा न नग्न स्नानमाचरेत्। न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥४५॥ न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥४६॥

अर्थ-एक वस्त्र पहनकर भोजन न करे, नङ्गा स्नान न करे, मार्ग में, गौ के खरक में, ॥ ४५ ॥ खेत तथा जल में, चिता और पर्वत में, पुराने टूटे देव स्थान-यज्ञशाला में और बमी में कभी मूत्र न करे ॥ ४६ ॥

न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥४७॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥४८॥

अर्थ-रहते हुवे जानवरों के बिलों में, चलते हुवे, खड़े हुवे, नदी के किनारे, पर्वत की चोटी पर, ॥ ४७ ॥ वायु, अग्नि, विप्र, सूर्य, जल और गौवों को देखता हुआ कभी मल मूत्र त्याग न करे ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना। नियम्य प्रयतोवाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखोरात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥५०॥

अर्थ-लकड़ी, ढेला, पत्ता, घास आदि से छिपकर दिशा फिरे, बोले नहीं, शरीर पर कपड़ा ओढ़ लेवे और गंठकर बैठे ।४९। दिन और दोनों संध्याओं में उत्तर की ओर मुख करके और रातको दक्षिण मुख होकर मलमूत्र त्याग किया करे। ५०॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः। यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥५१॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्। प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—छाया, अन्धकार, रात्रि वा दिन में (जिस में दिशा का ज्ञान न हो) वा (व्याघ्रादिकों से) प्राण के भय में जैसे चाहे वैसे मुख करके मल मूत्र त्यागले ॥५१॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, ब्राह्मणादि, गौ और वायु इन के सम्मुख मूत्र करने वाले की बुद्धि नष्ट होती है ॥ ५२ ॥

(जैसे स्वच्छ वस्त्र पर थोड़ी भी मलिनता बहुत प्रतीत होती है, वा अतिस्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले थोड़ा भी छींटा पड़ जाने से वस्त्र को मलिन और न पहरने योग्य समझते हैं, परन्तु साधारण लोग उतने मैले वस्त्रादि को मैला ही नहीं समझते। इसी प्रकार धर्मशास्त्र के अनुसार चलने वाले लोगों को ही उस के विपरीत चलने की हानि वा ग्लानि प्रतीत हो सक्ती हैं, सब को नहीं। और जो लोग जिस प्रकार से सदा रहन सहन करते हैं उस से नई वा विरुद्ध वा भिन्न रीति से करने में उन्हें ही कष्ट होता है। अन्यों को नहीं। जैसे अंग्रेज़ी पाट (पाख़ाने) में इस देश वालों को कष्ट होता है। मल मूत्रादि करने में जहां २ किसी की कोई भी हानि हो वहां २ न करे, जो २ स्थान वा ढङ्ग धर्मशास्त्र में यहां बतलाये हैं, वे उपलक्षणमात्र हैं। इस से अन्यत्र भी हानि देखे तो न करे। और इन स्थानों में भी करने से लाभ और न करने से हानि हो तौ, इस मर्यादा को चाहे न माने। यही विचार ५१ वें श्लोक का मुख्य करके है। ब्राह्मणादि के सामने मूत्रादि करने से उन का अपमान और अपने में धृष्टतादि दोषोत्पत्ति, तथा वायु आदि की परीक्षा करते, एक काल में दो कामों के करने से विघ्न और शौच का ठीक २ न होना, बवासीर और मूत्रकृच्छ्रादि रोगों की वृद्धि संभव है। इत्यादि स्वयं विचारते रहना चाहिये) ॥ ५२ ॥

**नाग्निंमुखेनोपधमेन्नग्नांनेक्षेतचस्त्रियम्। नामेध्यंप्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत्॥ ५३ ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्। न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥५४॥**

अर्थ—आग को मुख से न फूंके और नङ्गी स्त्री को न देखे, मल मूत्र आग में न डाले और पैरों को आग पर न तपावे ॥५३॥ (चारपाई आदि के) नीचे आग न धरे और इस (आग) को न लांघे और पैरों को आग पर न रक्खे और जीवों को पीडा होने वाला कर्म न करे ॥ ५४ ॥

**नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापिसंविशेत्। नचैवप्रलिखेद्**

भूमिंनात्मनोपहरेत्स्रजम्॥५५॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्। अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥

अर्थ-संध्याकाल में भोजन, शयन, यात्रा न करे और न भूमि पर लकीर खींचे और पहनी हुई माला को न निकाले ॥५५॥ मूत्र, मल, थूक वा मल-मूत्रयुक्त वस्तु, रक्त और विष भी जल में न डाले ॥ ५६ ॥

नैकःस्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसंनप्रबोधयेत्। नोदक्ययाभिभाषेत्त यज्ञंगच्छेन्नचाऽवृतः ॥५७॥ अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ। स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥५८॥

अर्थ-सूने मकान में अकेला न सोवे, अपने से बड़े को ( सोते हुवे ) न जगावे, रजस्वला से न बोले और विना वरण किये यज्ञ में न जावे ॥

( ५७ वें के आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेकोन चिन्तयेत् ।
एकोन गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥१॥

अर्थात् अकेला स्वादुपदार्थ न खावे, न अकेला स्वार्थकी चिन्ताकरे। अकेला दीर्घयात्रा न करे, सब के सोते हुवे अकेला न जागे ॥५७॥ यज्ञशाला गोशाला तथा ब्राह्मणों के समीप, वेद के पढ़ने और भोजन में दहिना हाथ उठावे॥५८॥

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्। न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥५९॥ नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्। नैकःप्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत्॥६०॥

अर्थ-( जल ) पीती गाय को न हांके और न दूसरे को बतावे, आकाश में इन्द्रधनुष् देख कर किसी को न दिखावे ( आंख की हानि है ) ॥ ५९ ॥ अधर्मी ग्राम और जहां बहुत बीमारी हो वहां न रहे, अकेला मार्ग न चले और पर्वत पर बहुत काल निवास न करे ॥ ६० ॥

नशूद्रराज्येनिवसेन्नाधार्मिकजनावृते। न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः॥६१॥नभुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्। नातिप्रगे नातिसायं न सायंप्रातराशितः ॥६२॥

अर्थ—शूद्रों के राज्य में निवास न करे, अधार्मिक पुरुषों से घेरे हुवे और पाषण्डियों के वास किये हुवे तथा चाण्डालों से भरे हुवे देश में भी न बसे॥६१॥जिस की चिकनाई निकाल ली हो उसको न खावे (जैसे खल)। अतितृप्ति न करे, उदय तथा अस्तकाल के समीप भोजन न करे, प्रातःकाल अतितृप्त हुआ सायंकाल में भोजन न करे ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिनापिबेत्।नोत्सङ्गेभक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥६३॥न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् । नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तोविरावयेत् ॥६४॥

अर्थ—निष्फल कर्म न करे, अञ्जली से पानी न पीवे । ( मोदकादि ) भक्ष्य को गोद में रख कर भोजन न करे और कभी व्यर्थ बातें न करे॥६३॥ न नाचे, न गान करे,बाजों को न बजावे,ताली न बजावे और तुतला कर न बोले और बहुत प्रसन्न होकर (गधे का सा) कुशब्द न करे ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने।न भिन्नभाण्डेभुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते॥६५॥उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् । उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ—कांसे के बर्तन में कभी पैर न धुवावे, फूटे बर्तन में भोजन न करे और विरोध वाले के घर भोजन न करे ॥ ६५ ॥ जूता, कपड़ा, यज्ञोपवीत, अलङ्कार, पुष्पमाला और कमण्डलु दूसरे के ओढ़े पहरे वर्त्ते हुवे धारण न करे ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्नचक्षुद्व्याधिपीडितैः।नभिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः । वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—अशिक्षित, क्षुधा व्याधि से पीड़ित, तथा सींग आंख और खुर से खण्डित घोड़ों वा बैलों की सवारी न करे । लांडे बैलों से यात्रा न करे ॥६७॥ किन्तु शिक्षित तथा अच्छे प्रकार शीघ्र चलने वाले शुभ लक्षण युक्त, वर्णरूप सहित (अश्वादि से) प्रतोद ( कोड़े ) से निरन्तर न चुभाता हुआ यात्रा करे ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम्। न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६९॥ न मृल्लोष्टं च मृद्गीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम्। न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥

अर्थ-उदयकाल का घाम और जलते मुर्दे का धुआं और टूटा आसन त्याज्य हैं और रोम वा नखोंको न उखाड़े तथा दांतोंसे नखों को न उपाड़े (दो पुस्तकों में ६९ वें के बीच में यह अर्ध श्लोक अधिक पाया जाता है:-

( श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृण्मये चैव भोजनम्। )

अर्थात् शोभा का इच्छुक मिट्टी के पात्र में न खाया करे) ॥६९॥ मिट्टी के ढेले को न मसला करे और नखों से तृणों को न काटा करे और व्यर्थ काम न करे और आगामी काल में दुःख का देने वाला काम न करे ॥ ७० ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः। स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥७१॥ न विगर्ह्य कथां कुर्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत्। गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

अर्थ-ढेले का मसलने वाला, तृण का छेदने वाला और नखों के चबाने के अभ्यास वाला मनुष्य शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और चुगलखोर तथा अपवित्र भी ॥ ७१ ॥ उद्दण्डता से बात न करे, माला को बाहर धारण न करे और बैल की पीठ पर सवारी न करे, यह सर्वथा ही निन्दित है ॥७२॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम्। रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥७३॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयंनोपानहौ हरेत्। शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥७४॥

अर्थ-घिरे हुवे नगर या मकान में विना दरवाज़े के न जावे ( अर्थात् दरवाज़े से जावे, दीवार कूद कर न जावे ) और रात को वृक्ष के नीचे न रहे ॥ ७३ ॥ कभी जुवा न खेले, अपने जूतों को हाथ से उठा कर न चले, शय्या पर वा हाथ में लेकर वा आसन पर रख कर न ( किन्तु पात्र में रख कर ) खावे ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ। न च नग्नः शयीतेह

नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥७५॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्। आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—सूर्य के अस्त होने पर तिलयुक्त सब पदार्थों का भोजन न करे और नंगा न सोवे और झूंठे मुंह कहीं न जावे ॥ ७५ ॥ गीले पैर भोजन करे किन्तु गीले पैर सोवे नहीं। क्योंकि गीले पैर भोजन करने वाला दीर्घायु पाता है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्। न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥ अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थि कपालिकाः। न कर्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ७८

अर्थ—आंखों से जो दुर्ग नहीं देखा वहां कभी न जावे और मलमुत्र को न देखे और बाहु से नदी को न तिरे।७७।बहुत दिन जीने की इच्छा वाला केश भस्म हड्डी खपरों के टुकड़े कपास की मींग और भूसे पर न बैठे।७८।

न संवसेच्च पतितैर्न चण्डालैर्न पुष्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७९॥

अर्थ—पतितों के साथ न रहे। चाण्डालों के साथ तथा निषाद से शूद्रा में उत्पन्न हुवे पुष्कसों के साथ भी न वसे और मूर्ख तथा धनगर्वित और अन्त्यज और निषादस्त्री में चण्डाल से उत्पन्न हुवों के साथ भी न वसे ॥ ( ७९ वें से आगे यह श्लोक १ पुस्तक में अधिक पाया जाता है कि—

[ न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नाऽमित्रैश्च कदाचन ॥ ]

अर्थात् कृतघ्न, आलसी, उद्योगहीन, महापातकी, दस्यु, अपवित्र और शत्रुओं के साथ कभी वास न करे ) ॥ ७९ ॥

"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥"

"शूद्र को बुद्धि और उच्छिष्ट और हविष्कृत अर्थात होमशेष का भाग न दे। और उस को धर्म उपदेश न करे और व्रत भी न बतावे ॥ ( एक पुस्तक में अर्ध श्लोक अधिक है कि—

[ अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ।

अर्थात् शूद्र को प्रायश्चित्त बताना हो तो ब्राह्मण को बीच में करले) ॥८०॥

"यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।

सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥"

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।

न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टोन च स्नायाद्विना ततः ॥८२॥

"अर्थ—जो इस ( शूद्र ) को धर्मोपदेश और प्रायश्चित्त का उपदेश करे वह उस शूद्र के साथ "असंवृताख्य" बड़े अन्धकार वाले नरक में गिरता है ॥" ( दशमाध्याय १२६ । १२७ में शूद्र के विषय में ( न धर्मात्प्रतिषेधनम् । धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ) कहा है, जिस से शूद्रों का भी धर्मात्मा धर्मज्ञ सदाचारी होना पाया जाता है । और विना उपदेश धर्म ज्ञान असम्भव है । इस लिये ये ८० । ८१ श्लोक किसी शूद्रद्वेषी के मिलाये प्रतीत होते हैं, जो कि उक्त दशमाध्याय से विरुद्ध हैं और आगे २१ नरक श्लोक ८८ । ८९ । ९० में गिनाये हैं, उन में "असंवृत" नाम का कोई नरक भी नहीं है और इसी के समीप उक्त १॥ श्लोक सब पुस्तकों में नहीं है । इस से भी प्रक्षिप्तताका संशय होता है ) ॥८१॥ दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजावे और झूंटे हाथों सिर को न छुवे और विना शिर पर पानी डाले स्नान न करे ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् । शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥८३॥ न राज्ञःप्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥ दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमोध्वजः । दशध्वजसमोवेषो दशवेषसमो नृपः ॥ ८५ ॥ दशसूनासहस्राणि योवाहयति सौनिकः । तेन तुल्यः स्मृतोराजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥८६॥ योराज्ञःप्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः । स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्धतामिस्रं

महारौरवरौरवौ । नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥८८॥ संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् । संघातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥ ८९ ॥ लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥९०॥ एतद्विदन्तोविद्वांसोब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञःप्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

अर्थ—केश का पकड़ना और मारना, ये दो काम शिर में न करे। शिर में तेल लगाकर अन्य किसी अङ्ग को न छुवे ॥८३॥ विना क्षत्रिय से उत्पन्न राजा से दान न लेवे। सूना (जीवों के मारने की जगह), गाड़ी आदि, तथा कलालपन से वृत्ति करने वालों और बहुरूपियों के भी (धन को ग्रहण न करे) ॥८४॥ दश सूना वाले के बराबर एक गाड़ी वाला है और इन दस के बराबर एक कलाल, और दश कलालों के समान एक वेषधारी, दश वेष वालों के बराबर एक उक्त अधर्मी राजा (अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक निषिद्ध) हैं ॥ ८५ ॥ दस हज़ार जीवों को मारने का अधिष्ठाता सौनिक कहाता है, उक्त राजा उस के बराबर कहा है। इस लिये इस का प्रतिग्रह घोर है (अतएव न ले) ॥८६॥ जो कृपण और शास्त्र का उल्लङ्घन करने वाले राजा का प्रतिग्रह लेता है, वह क्रम से इन इक्कीस नरकों को जाता है ॥८७॥ तामिस्र १ अन्धतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥८८॥ सञ्जीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संघात १२ सकाकोल १३ कुड्मल १४ प्रतिमूर्त्तिक १५ ॥८९॥ लोहशङ्कु १६ ऋजीष १७ पन्थान १८ शाल्मली नदी १९ असिपत्रवन २० और लोहदारक २१ (इन इक्कीस नरकों=स्थानविशेषों वा देशविशेषों को पाता है) ॥९०॥ यह प्रतिग्रह नाना प्रकार के नरकों का हेतु है, ऐसा जानने वाले विद्वान् वेद के जाननेवाले और परलोक में कल्याण की इच्छा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मण ऐसे राजा का प्रतिग्रह नहीं लेते ॥

(८४ से ९१ तक ८ श्लोक भी प्रक्षिप्त से जान पड़ते हैं। एक तो इन की संस्कृत शैली मनु के सी नहीं। दूसरे ८५ वें श्लोक का पाठ २४ पुस्तकों में तो यही मिलता है जैसा मूल में छपा है परन्तु ६ पुस्तकों में—(दशध्वजसमा वेश्या दशवेश्यासमोनृपः) पाठभेद है, तीसरे राजा और पहियोंदार गाड़ी

से जीविका करने वाले वैश्य, इन को खटीकों और कलालों तथा वेश्याओं के समान समझना और इस से भी नीच समझना चिन्त्य है। और ८९ वें श्लोक के "प्रतिमूर्त्तिक" नरक का नाम ८ पुराने लिखे पुस्तकों में "पूतिमृत्तिक" पाया जाता है। जिस से भिन्न २ पुस्तकों में भिन्न २ पाठ भी संशय का हेतु हैं। इन तथा अन्य हेतुवों से हमने पहले तीन वार के एडीशनों (छापों) में प्रक्षिप्त लिखा था परन्तु अब चौथी वार इस लिये प्रक्षिप्त नहीं रक्खा कि स्वामी दयानन्द सर० जी ने भी संस्कारविधि गृहाश्रम प्र० में श्लोक ८५ माना है और नरकयोनियों के नाम प्रायः मनु के माननीय श्लोकों में भी आये हैं, अतः हमने अब मान लिया है परन्तु ऊपर लिखे कारणों से संदेहयुक्त अब भी हैं) ॥९१॥

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत।
कायक्लेशांश्च मन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥९२॥

अर्थ-प्रातः दो घड़ी रात से उठे और धर्म अर्थ का चिन्तन करे। उन के उपार्जन के शरीरक्लेशों को समझे और वेदतत्वार्थ को भी सोचे॥ ९२॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः। पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्॥९३॥ ऋषयो दीर्घसंध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥९४॥

अर्थ-फिर उठ कर दिशा जङ्गल होकर पवित्र हो एकाग्रचित्त से प्रातः सन्ध्या में बहुत काल पर्यन्त जप करता रहे और सायं सन्ध्या को भी अपने काल में देर तक करे॥९३॥ क्योंकि ऋषिलोग दीर्घ सन्ध्या के अनुष्ठान से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति तथा ब्रह्मतेज को भी पा सकते हैं॥ ९४॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान्॥९५॥ पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः। माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि॥९६॥

अर्थ-ब्राह्मणादि श्रावणी वा भाद्रपदी पौर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़ेचार मास में उद्यत होकर वेदाध्ययन करे॥ ९५॥ पुष्यनक्षत्र वाली पौर्णिमा (पौषी) में या माघ शुक्ला के प्रथम दिन के पूर्वाह्ण में वेद का "उत्सर्जन" कर्म (ग्राम के) बाहर जाकर करे॥ ९६॥

यथाशास्त्रं तुकृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः। विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥९७॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्। वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ—शास्त्र के अनुसार ( ग्राम के ) बाहर वेदों का उत्सर्जन कर्म करके दो दिन और १ बीच की रात्रि भर अनध्याय करे वा उसी दिन और रात्रि का अनध्याय करे ॥ ९७ ॥ उत्सर्जन अनध्याय के उपरान्त शुक्लपक्ष में नियम पूर्वक वेद और कृष्णपक्ष में वेदों के सम्पूर्ण अङ्गों को पढ़ा करे ॥ ९८ ॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ। न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्॥९९॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्। ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजोयुक्तोह्यनापदि ॥१००॥

अर्थ—अस्पष्ट न पढ़े और शूद्रों के पास बैठ कर न पढ़ा करे और प्रभात काल पढ़ कर थका हुवा फिर शयन न करे ॥ ९९ ॥ यथोक्त विधि से नित्य गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मन्त्र पढ़े और द्विजमात्र अनापत्तिकाल में साधारण वेदपाठ और छन्दोयुक्त मन्त्र नियमपूर्वक पढ़ा करे ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानोविवर्जयेत्। अध्यापनं चकुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने। एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥१०२॥

अर्थ—इन आगे कहे अनध्यायों को सर्वदा यथोक्तविधि से पढ़ने वाला और शिष्यों को पढ़ाने वाला ( गुरु ) छोड़ देवे ॥ १०१ ॥ रात्रि में कान में शब्द करने वाले वायु के चलते हुवे और दिन में गर्द उड़ाने वाले वायु के चलते हुवे, ये वर्षाऋतु में दो अनध्याय स्वाध्यायज्ञ (मुनि) कहते हैं ॥१०२॥

"विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥१०३॥"
एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥१०४॥

अर्थ–बिजुली गरजते हुवे वर्षा में और उल्काओं के गिरने में अनध्याय उस समय तक करे जिस समय तक ये उत्पात वा वर्षा होते रहें। ऐसा मनु कहते हैं॥ (यह श्लोक भी स्पष्ट मनुप्रोक्त नहीं है तथा १०५–१०६ से पुनरुक्त भी है) ॥१०३॥ " इन विद्युदादि को अग्निहोत्र के होम समय उत्पन्न होते जाने तो न पढ़े और उसी समय में विना वर्षाऋतु के बादल दीखें तौ भी अनध्याय करे ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने। एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि॥१०५॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने। सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

अर्थ–अन्तरिक्ष में उत्पादतशब्द होने और भूकम्प और सूर्यादिकों के उपद्रव में जिन ऋतुओं में भूकम्पादि हुवा करते हों उन में भी जब तक उपद्रव रहे तब तक अनध्याय करे ॥१०५॥ होमार्थ अग्नि प्रकट होने के समय बादल में बिजुली का शब्द हुवे तौ दिनभर का अनध्याय करे और शेष समयों वा रात्रि में पूर्वोक्त दिन के समान " आकालिक " अनध्याय करे ॥१०६॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च। धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥१०७॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ। अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८॥

अर्थ–धर्म की अतिशय इच्छा वालों को ग्राम वा नगर में सर्वदा अनध्याय (किन्तु एकान्त जङ्गल में पढ़ना उत्तम है) और दुर्गन्ध में कभी पढ़ना नहीं चाहिये ॥१०७॥ जिस में मुर्दा पड़ा हो ऐसे छोटे ग्राम में और अधर्मी के पास और रोने तथा भीड़ में न पढ़े ॥ १०८ ॥

"उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने। उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्। त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ११०"

अर्थ–"जल और मध्यरात्रि में और मलमूत्र करने के समय और भोजनादि करके झूंठे मुंह और श्राद्ध में भोजन करके वेद को मन से भी याद न करे॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्टश्राद्ध का निमन्त्रण ग्रहण करके तीन

दिन वेद का अध्ययन न करे और राजा के (पुत्रजन्मादि के) सूतक तथा राहु के सूतक में तीन दिन अनध्याय करे ॥ ११० ॥

"यावदेकानुदिष्टस्य गन्धोलेपश्च तिष्ठति। विप्रस्य विदुषोदेहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत्॥१११॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्। नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च॥११२"

अर्थ-" जब तक एकोद्दिष्ट का देह में गन्ध और लेप रहता है, विद्वान् ब्राह्मण तब तक वेद न पढ़े ॥ १११ ॥ लेटा हुवा और पैरों को ऊंचा किये बैठने में दोनों पैरों को भीतर की ओर मोड़े हुवे, मांस तथा सूतकियों का अन्न भोजन करके भी न पढ़े ॥ ११२ ॥"

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥
"अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माऽष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥११४॥

अर्थ-कुहर में और बाणों के शब्द में तथा दोनों संध्याओं में, अमावास्या तथा चतुर्दशी और पूर्णमासी और हेमन्तशिशिर की कृष्णा अष्टमी में न पढ़े ॥११३॥ "क्योंकि अमावास्या (को पढ़ने में) गुरु को नष्ट करती है और चतुर्दशी शिष्य को और वेद को अष्टमी पौर्णमासी नष्ट करती हैं ॥११४॥"

पांसुवर्षे दिशादाहे गोमायुविरुते तथा । श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः ॥ ११५ ॥
नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
"वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥११६॥

अर्थ-धूल वर्षने और दिशाओं के जलने और सियारों के चिल्लाने और कुत्ता, ऊंट, गधे के शब्द करने और पङ्क्तियों में द्विज वेद न पढ़ा करे ॥११५॥ श्मशान और ग्राम के समीप तथा गोशाला में न पढ़े "और मैथुन समय के वस्त्रों को पहन कर और श्राद्धान्न को भोजन करके न पढ़े ॥ ११६ ॥"

"प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

अर्थ–"श्राद्धसम्बन्धी पशु वा शाकादि को हाथ से काट कर बनार कर न पढ़े। क्योंकि ब्राह्मण "पाण्यास्य" (अर्थात् हाथ ही हैं मुख जिस का) कहा है ॥११७॥ " चोरों के उपद्रव में, ग्राम में और मकान इत्यादि जलते समय में पूर्वोक्त आकालिक अनध्याय जाने और संपूर्ण अद्भुत कर्मों के होने में भी ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्। अष्टकासु त्वहोरात्र मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥१२०॥

अर्थ–उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन रात्रि अनध्याय कहा है अष्टकाओं में एक दिन रात्रि और ऋतु के अन्त की १ रात्रि में अनध्याय करे ॥११९॥ घोड़े पर बैठा हुवा और वृक्ष पर चढ़ा हुवा न पढ़े और हाथी, नाव, गधा, ऊंट और ऊपर भूमि और गाड़ी आदि पर भी बैठ कर न पढ़े ॥ १२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे। न भुक्तमात्रेनाजीर्णे न वमित्वा न सूतके॥१२१॥ अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वापि वा भृशम्। रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥१२२॥

अर्थ–विवाद में, झगड़े में, सेना में, लड़ाई में, तत्काल भोजन करके, अजीर्ण में, वमन करके और सूतक में न पढ़े ॥ १२१ ॥ अतिथि की आज्ञा विना वा वायु के बहुत प्रचण्ड चलने और शस्त्र से वा फोड़े से शरीर का रक्त निकलते ( न पढ़े ) ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥
"ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याऽशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

अर्थ-साम की ध्वनि में ऋग्वेद और यजुर्वेद कभी न पढ़े और वेदान्त वा वेद के आरण्यक को पढ़ कर (तत्काल) वेद न पढ़े ॥ १२३ ॥ " ऋग्वेद

देवताओं का है, यजुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी और पितृसम्बन्धी साम है। इस कारण उस की ध्वनि अशुचि है॥ [ ऋग्यजुसाम के पाठ से पढ़ने वाला जान सकता है कि उन में देव मनुष्य और पितरों का इस क्रम से वर्णन नहीं है जैसा इस श्लोक में बताया जाता है इस लिये यह वेद विरुद्ध है ] ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्। क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥१२५॥ पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः। अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

अर्थ–इस प्रकार जानने वाले विद्वान् प्रतिदिन गायत्री, ओ३म् और व्याहृति; इस वेद के सार को क्रमपूर्वक प्रथम जप कर पश्चात् वेद को पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ बैल इत्यादि पशु मेंडक, बिल्ली, कुत्ता, सांप, नेवला, चूहा, ये पढ़ते समय ( गुरु शिष्य के ) बीच में होकर निकल जावें तो दिन रात्रि अनध्याय करे ॥ ( पशु आदि सदा मनुष्यों से डरते और बैठे मनुष्यों के बीच में को नहीं निकलते हैं और जब निकलते हैं तो कुछ उपद्रव और अपवित्रता हो जाती है इत्यादि कारण हैं। और अगले श्लोक में मनु जी ने सब अनध्यायों को दो बातों के अन्तर्गत कर दिया है अर्थात् एक तो जब २ पढ़ने के स्थान में कोई बाह्य विघ्न हो, दूसरे जब २ आत्मा में व्यग्रता आजावे ) ॥ १२६ ॥

द्वावेववर्जयेन्नित्यमनध्यायौप्रयत्नतः।स्वाध्यायभूमिं च शुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥१२७॥अमावास्यामष्टमीं च पौणमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातकोद्विजः १२८

अर्थ ( वस्तुतः ) दो ही अनध्याय सर्वदा यत्नपूर्वक छोड़े। एक पढ़ने की अशुद्ध जगह और दूसरे आप पढ़ने वाला द्विज अपवित्र हो, तब (अर्थात् अच्छे स्थान में और आप पवित्र होकर पढ़े ) [ अनध्याय प्रकरण समाप्त हुआ ] ॥ १२७ ॥ अमावस्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी इन तिथियों में पूर्वोक्त स्नातक द्विज, ऋतुकाल में भी भार्या के पास न जावें ॥ १२८ ॥

नस्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरोनमहानिशि।नवासोभिःसहाजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये॥१२९॥देवतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा। नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रणो दीक्षितस्य च॥१३०॥

अर्थ-भोजन करके, रोग में, मध्यरात्र में, कपड़ों के साथ, और जहां पानी गहरा हो और विदित न हो ऐसे जलाशय में स्नान न करे ॥१२९॥ देव=प्रसिद्ध २ विद्वानों और गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल, दीक्षित, इन को छाया इच्छा से न लांघें (इस से इन का अनादर होता है) ॥१३०॥

"मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चत्र न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥
उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

"अर्थ-दोपहर दिन, आधी रात्री और श्राद्ध में समांस भोजन करके और दोनों सन्ध्याओं में चौराहे पर अधिक काल तक न रहे ॥"

( १०९ । ११० । १११ । ११२ । ११३ । ११४ । आधा ११६ । ११७ । १२४ । १३१ वें श्लोक प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि जल में पढ़ना किसी को इष्ट ही नहीं । मध्यरात्रि शयनार्थ है ही । विष्ठा मूत्र के त्याग समय सभी काम पूर्व निषिद्ध कर आये फिर भला वेदपाठ का निषेध कहां रह गया ? झूंठे मुंह कहीं जाना तक निषिद्ध है, फिर वेदाध्ययन कैसा ? मांस और मृतकश्राद्ध निषिद्ध और वेदबाह्य है, ये सर्वदा ही निन्दित हैं, स्वाध्याय में क्या ? मांसभक्षण ब्रह्मचारी को विशेषतः और सामान्यतः सब ही को प्रथम निषिद्ध कर आये हैं और करेंगे, फिर मांस खाकर वेद न पढ़े, यह कथन कैसा निरंकुश है । अमावास्यादि का पाठ पर्व होने से ही वर्जित है । परन्तु गुरु शिष्य वा विद्या की हानि और नाश लिखना अनर्गल है । ब्रह्मचारी को मैथुन ही अप्राप्त है, फिर मैथुन के वस्त्र धारे हुवे वेदपाठ निषेध की क्या आवश्यकता है । प्राणिवध वर्जित है, तब वेदपाठी को उस की आशङ्का ही क्या है १२४ वें में ऋग्वेद को देव, यजुः को मानुष साम को पित्र्य बताना सकल वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है । न ३ वेदों में इन ३ को कोई विशेषता पाई जाती है । १३१ वें में मांस और श्राद्धभोजी का अनध्याय प्रक्षेपक से भी पुनरुक्त है । १११ में नन्दन टीकाकार ने (गन्धोलेपश्च=स्नेहोगन्धश्च) व्याख्यात किया है । यह पाठभेद भी प्रक्षिप्तता के संशय को दृढ़ करता है ) ॥ १३१ ॥ उबटन के मैल की पीठी, स्नान का पानी, मल, मूत्र, रक्त, कफ, पीक और वमन; इन के ऊपर जान कर खड़ा न होवे ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥१३४॥

अर्थ-शत्रु और उस के सहायक से और अधर्मी, चोर तथा पराई स्त्री से मेल न रक्खे ॥१३३॥ इस प्रकार का आयुक्षय करने वाला संसार में कोई कर्म नहीं है, जैसा ( मनुष्य की आयु घटाने वाला ) दूसरे की स्त्री का सेवन है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥१३५॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

अर्थ-( धर्मादि से ) वृद्धि चाहने वाला क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत ब्राह्मण दुबले भी हों तो भी इन का अपमान न करे ॥ १३५ ॥ ये तीन अपमान करने से अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं, इस से बुद्धिमान् इन का अपमान न करे ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥१३७॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातन॥१३८॥

अर्थ यत्न करने से द्रव्य न मिले तो भी अपने को अभागी कहकर अपना अपमान न करे, किन्तु मरने तक सम्पत्ति के लिये यत्न करे, इस को दुर्लभ न जाने ॥ १३७ ॥ सच बोले, प्रिय बोले और जो प्रिय न हो ऐसा सच न बोले (मौन रहे) और असत्य प्रिय भी न बोले; यह सनातनधर्म है ॥१३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह॥१३९॥नातिकल्पं नातिसायं नातिमध्यं दिने स्थिते । नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैःसह॥१४०॥

अर्थ-भद्र भद्र ( अच्छा बहुत अच्छा ) कहे या केवल "अच्छा" ही कहे, किन्तु निष्प्रयोजन वैर वा झगड़ा किसी से न करे ॥१३९॥ सवेरे उषः काल और प्रदोष समय में तथा दोपहर दिन को और अनजान के साथ तथा अकेला और शूद्रों के साथ मार्ग न चले ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान्। रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्चनाक्षिपेत्॥१४१॥ न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान्। न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि

अर्थ–अङ्गहीन, अधिक अङ्ग वाले, मूर्ख, वृद्ध, कुरूप तथा द्रव्यहीन और जाति से हीन को ताना न दे ॥१४१॥ भोजन करके झूंठे हाथ से इन्द्रियों, ब्राह्मणों और अग्नि का स्पर्श न करे । व्याधिरहित पुरुष अपवित्र हुवा आकाश में सूर्यादि को न देखे ॥ १४२ ॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्। गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु॥१४३॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः। रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्॥१४४॥

अर्थ–यदि अपवित्र हुवा पुरुष भूल से इन इन्द्रियादि का स्पर्श करले तो आचमन कर हाथ से जल लेकर चक्षुरादि का स्पर्श करे और सम्पूर्णगात्र तथा नाभि को स्पर्श ( करना रूप प्रायश्चित ) करे ॥ १४३ ॥ स्वस्थ मनुष्य अपने इन्द्रियों और सब गुप्त बालों को विना निमित्त न छुवे ॥ १५४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः। जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्। जपतां जुहूतां चैव विनिपातो न विद्यते॥१४६॥

अर्थ–शुभाचारयुक्त, शुचि तथा जितेन्द्रिय रहे । सर्वदा आलस्यरहित हो कर जप और अग्निहोत्र करे॥१४५॥ शुभ आचारयुक्त और सर्वदा पवित्र रहने वाले और जप तथा होम करने वालों को उपद्रव ( रोगादि ) नहीं होता ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते १४७ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥

अर्थ–सर्वदा आलस्यरहित होकर यथावसर वेद ही को पढ़े क्योंकि यह इस का परमधर्म कहा है और दूसरा धर्म इस से नीचे है ॥ १४७ ॥ निरन्तर वेदाभ्यास करने, शुचि रहने, तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने से ( अपने ) पूर्व जन्म को जान जाता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।ब्रह्माभ्यासेन चाजस्र मनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात पर्वसु नित्यशः। पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च॥१५०

अर्थ–पूर्व जन्म को स्मरण करता हुवा पुनः नित्य वेद ही का अभ्यास करता है, उस वेदाभ्यास से अनन्त सुख ( मोक्ष ) को भोगता है ॥ १४९ ॥ सविता देवता के मन्त्रों और शान्तिपाठ से सर्वदा अमावास्या तथा पौर्णमासी आदि पर्वों में होम करे और हेमन्त शिशिर ऋतु की कृष्णा अष्टमी और नवमियों में यथाविधि पितरों का (विशेष) पूजन करे। (नन्दन टीकाकार) ने "सावित्रान्=सावित्र्या" पाठ की व्याख्या की है। जिस प्रकार नित्य भी गुरु का सत्कार करते ही हैं, परन्तु आषाढ़ी गुरुपूर्णिमा में विशेष गुरुपूजन की रीति है, इसी प्रकार माता पिता आदि के नित्य सत्कार के अतिरिक्त हेमन्त और शिशिर की कृष्णपक्ष की ४ अष्टमी और ४ नवमियों में पितृपूजा का विशेष उत्सव जानो ॥ १५० ॥

दूराद्रावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥१५१॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्। पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥१५२॥

अर्थ–गृह से मल मूत्र और पैर धोना और जूठन का त्याग भी दूर ही करे ॥ १५१ ॥ मल का त्याग, शरीरशुद्धि, स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवतों के लिये होम, ये कर्म प्रथम प्रहर में करे ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥१५३॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१५४॥

अर्थ–यज्ञशालाओं, धार्मिक ब्राह्मणों और गुरुओं के मिलने वा ईश्वर की उपासना को अपनी रक्षा के लिये पर्वों में जावे ॥ १५३ ॥ (घर में आये) वृद्धों को नमस्कार करे और बैठने के लिये अपना आसन देवे और हाथ जोड़कर उन के पास रहे और चलते हुवों के पीछे २ (थोड़ी दूर) चले ॥१५४॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु। धर्ममूलं निषेवेत

सदाचारमतन्द्रितः॥१५५॥आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः। आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥

अर्थ-वेद और स्मृति में कहा हुवा और अपने कर्मों में नियम से बांधा हुवा और धर्म का मूल जो सदाचार है, उस को आलस्यरहित होकर सेवन करे ॥१५५॥ आचार से आयु, इच्छित (पुत्र पौत्रादि) सन्तति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है और आचार अशुभ लक्षण को नष्ट करता है ॥१५६॥

दुराचारोहि पुरुषोलोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥१५७॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥ १५८ ॥

अर्थ-दुष्ट आचरण करने वाला पुरुष लोक में निन्दित, दुःख का भागी, निरन्तर रोगी रहता तथा अल्पायु भी होता है ॥१५७॥ साधुओं के आचार करने वाला, श्रद्धायुक्त और दूसरे के दोषों को न कहने वाला पुरुष चाहे सम्पूर्ण अन्य शुभ लक्षणों से रहित भी हो, तो भी सौ वर्ष जीता है (तात्पर्य बड़ी आयु से है) ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्। यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

अर्थ-जो २ कर्म दूसरे के अधीन हैं, उन २ को यत्न से छोड़ देवे और जो २ अपने अधीन हैं, उन को यत्न से करे ॥ १५९॥ दूसरे के अधीन होना ही संपूर्ण दुःख है और स्वाधीनता ही संपूर्ण सुख है। यह सुख दुःख का संक्षिप्त लक्षण जाने ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥१६१॥ आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥१६२

अर्थ-जिस कर्म के करने से इस (कर्म करने वाले पुरुष) का अन्तरात्मा प्रसन्न होवे, वह कर्म यत्नपूर्वक करे और इस के विपरीत कर्मों को छोड़दे

॥१६१॥ आचार्य, वेद की व्याख्या करने वाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और सम्पूर्ण तपस्वी; इन को न मारे ( अन्य प्राणियों की अपेक्षा ये अधिक उपकारक होने से विशेष हैं ) ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यंवेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्। द्वेषंदम्भंचमानंच क्रोधंतैक्ष्ण्यं च वर्जयेत ॥१६३॥ परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धोनैव निपातयेत्।अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थंताडयेत्तु तौ १६४

अर्थ-नास्तिकता और वेद की निन्दा तथा देवतों की निन्दा, वैर दम्भ, अभिमान, क्रोध और तेज़ी छोड़दे ॥ १६३ ॥ दूसरे के मारने को क्रोधयुक्त हुवा दण्डा न उठावे और (दूसरे के ऊपर) लाठी न फेंके, परन्तु पुत्र और शिष्य को छोड़ कर, क्योंकि इन को तो शिक्षा के लिये ताड़ना करे ही ॥१६४॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया।शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥१६५॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मति-पूर्वकम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥

अर्थ-प्राणघात के विचार से ब्राह्मण को दण्डादि उठाने ही से द्विजाति सौ वर्ष तामिस्र-अन्धनरक में फिराया जाता है ॥१६५॥ क्रोध से तृणद्वारा भी बुद्धिपूर्वक मारने से २१ पापयोनियों में जन्मता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः।दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥१६७॥ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात्।तावतोऽब्दानमुत्रान्यैःशोणितोत्पादकोऽद्यते १६८

अर्थ-न लड़ने वाले ब्राह्मण के शरीर से अज्ञान से रक्त निकाल कर मनुष्य मर कर जन्मान्तर में बड़ा दुःख पाता है ॥१६७॥ (शस्त्रादि के मारने से निकला हुवा ब्राह्मण के शरीर का ) रुधिर, जितने पृथिवी के धूल के अणुओं को शोषता है, उतने वर्ष पर्यन्त मारने वाला अन्यों (कुत्ते आदि) से मर कर जन्मान्तर में खाया जाता है ॥ १६८ ॥

न कदाचिद्द्विजेतस्माद्विद्वानवगुरेदपि । न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥१६९॥अधार्मिको नरो योहि यस्य चाप्यनृतं धनम्। हिंसारतश्च योनित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥१७०॥

अर्थ—इस लिये द्विज के मारने को कभी लाठी भी न उठावे और न तृणादि से मारे और न शरीर से रक्त निकाले ॥ १६९ ॥ अधर्म करने वाला और जिस के असत्य ही धन है और जो नित्य हिंसा करने में रत रहता है, वह इस लोक में सुखपूर्वक नहीं बढ़ता ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥ नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

अर्थ—अधर्म करने वाले पापियों को शीघ्र विपर्यय अर्थात् उलटा फल देखता हुवा धर्म करने से पीड़ित होता हो तौ भी मन को अधर्म में न लगावे ॥१७१॥ इस लोक में अधर्म किया हुवा उसी समय में नहीं फलता, जैसे पृथिवी वा गौ (उसी समय फल नहीं देती) परन्तु धीरे २ फैलता हुवा अधर्म करने वाले की जड़ें काट देता है ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु। नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥ सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा। शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥१७५॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ—किया हुवा अधर्म करने वाले को निष्फल नहीं होता, किन्तु यदि तत्काल देह धनादि का नाश नहीं भी करे तौ उस के पुत्र में सफल होता है। यदि पुत्र में न हो तौ पौत्र*में सफल होता है ॥१७३॥ अधर्म से पहिले तौ बढ़ता है, फिर कल्याणों को देखता है (अर्थात् नौकर चाकर गाय घोड़ा इत्यादि से सुख भी पाता है) और शत्रुओं को भी जीतता है परन्तु फिर (पाप के परिपाकसमय) मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥ सत्य, धर्म, सदाचार और शौच में सर्वदा प्रीति करे और धर्म से शिष्यों को शिक्षा देवे और वाणी बाहु उदर इन का संयम करे (अर्थात् सत्यभाषण, दूसरे को पीड़ा न देना और न्यायोपार्जित अन्न का भोजन, ऐसे तीनों का संयम

करे ) ॥ १७५ ॥ धर्मरहित जो अर्थ और काम हों उन को त्याग दे ( जैसे चोरी से द्रव्योपार्जन और पर स्त्री से गमन ) और उत्तर काल में दुःख का देने वाला और जिस में लोगों को क्लेश हो ऐसा धर्म भी न करे (जैसे पुत्र पौत्रादि के रहते सर्वस्व दान और पुण्य कर्म की सहायतार्थ भी किसी को अत्यन्त सताना ) ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः॥१७७॥येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥१७८॥

अर्थ–निष्प्रयोजन हाथ पैर वाणी से चञ्चलता न करे, कुटिल न होवे और दूसरे को बुराई की बुद्धि(नियत)न करे॥१७७॥जिस मार्ग से इस के पिता पितामह चलते रहे हैं उसी सन्मार्ग को चले,उसमें चलते की बुराई नहीं होती॥१७८॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।बालवृद्धातुरैर्वैद्यै र्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥१७९॥ मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया। दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥१८०॥

अर्थ–ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, माता, अतिथि, भिक्षुकादि, बाल, वृद्ध, रोगी, वैद्य, चाचा इत्यादि, साला इत्यादि और मा के पिता=नाना मामा आदि, ॥ १७९ ॥ मा, बाप, बहन या पुत्रबधू आदि, भ्राता, पुत्र, स्त्री लड़की और नौकरों से झगड़ा न करे ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते। एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही॥१८१॥आचार्यो ब्रह्मलोकेशःप्राजापत्ये पिताप्रभुः।अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशोदेवलोकस्यचर्त्विजः॥१८२॥

अर्थ–गृहस्थ इन (ऋत्विजादि) के साथ विवाद को छोड़कर सब टंटों से छूटा रहता है और इन के जीतने से इन सब संसारस्थ लोगों को जीत लेता है ( किन्तु जो घर में ही लड़ता है वह बाहर हारे ही गा ) ॥१८१॥ "आचार्य" ब्रह्म=वेदलोक का स्वामी है ( उस के सन्तुष्ट होने से वेद प्राप्त होता है ) ऐसे ही प्रजापति लोक का "पिता" स्वामी है और "अतिथि" इन्द्रलोक का प्रभु है। देवलोक के प्रभु "ऋत्विज्" हैं। इन्ही के अनुग्रह से

इन की प्राप्ति होती है॥ (पिता उत्पादक होने से प्रजा का पति है। इन्द्र-तत्त्वसम्बन्धिनी बुद्धिका उपदेशक होने से अतिथि इन्द्रलोकेश कहा। ऋत्विज् यज्ञ कराकर वायु आदि देवलोक की सद्व्यवस्था करते हैं ) ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसांलोकेवैश्वदेवस्यबान्धवाः।सम्बन्धिनोह्यपांलोके पृथिव्यांमातृमातुलौ॥१८३॥ आकाशेशास्तुविज्ञेयाबालवृद्धकृशातुराः। भ्राता ज्येष्ठःसमःपित्रा भार्या पुत्रःस्वका तनुः॥१८४॥

अर्थ–भगिनी और पुत्रवधू आदि अप्सरालोक की स्वामिनी हैं। और वैश्वदेवलोक के बान्धव और जललोक के सम्बन्धी लोग और भूलोक के मा और मामा स्वामी हैं ( इन सब की कृपा से इन की प्राप्ति होती है )॥१८३॥ और बालक, वृद्ध, कृश, आतुर ये आकाश के स्वामी (निराधार) हैं। और ज्येष्ठ भ्राता पिता के तुल्य है। भार्या और पुत्र अपने शरीर के तुल्य हैं ( इस से इन से विवाद करना उचित नहीं ) ॥ १८४ ॥

छायास्वोदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्।तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा ॥१८५॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥१८६॥

अर्थ–दासवर्ग अपनी छाया के तुल्य हैं और कन्या परमकृपापात्र है। इस से इन से कुछ बुरा कहा गया भी सर्वदा सहलेवे, बुरा न माने (यदि इस धर्म पर चलें तो आज कल की मुक़द्दमेबाज़ी द्वारा क्यों सत्यानाश हो। पुत्रवधू आदि देववधू=उत्तमाङ्गनाओं के तुल्य होने से अप्सराओं के तुल्य घर की शोभा है। बान्धव लोग विश्वेदेवों के समान सर्वतः सुखदायक और सहायक हैं। साले आदि कामसुखदायक होने से जल के गुण शान्ति के दाता हैं। माता मामा आदि मातृपक्ष में पृथिवी के तुल्य उत्पत्ति की भूमि हैं) ॥१८५॥ प्रतिग्रह लेने को समर्थ होने पर भी उस में फंसा=आसक्त न होवे क्योंकि प्रतिग्रह लेने से वेद सम्बन्धी तेज शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिंधर्म्यंप्रतिग्रहे।प्राज्ञःप्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपिक्षुधा॥१८७॥हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्। प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्॥१८८॥

अर्थ—प्रतिग्रह में द्रव्यों की धर्मयुक्त विधि को न जानकर, क्षुधा से पीडित हुवा भी बुद्धिमान् प्रतिग्रह न लेवे ॥१८७॥ अविद्वान्=वेदादि का न जानने वाला; सुवर्ण, भूमि, घोड़े, गाय, वस्त्र, अन्न, तिल घृतादि का प्रतिग्रहण करता हुवा, अग्निसंयोग से लकड़ी सा जल जाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतंतेजस्तिलाःप्रजाः॥१८९॥अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ।१९०।

अर्थ—सुवर्ण और अन्न आयु को जलाते हैं। भूमि और गाय शरीर को जलाती हैं। अश्व आंख को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को और तिल प्रजा को जलाते हैं। (अर्थात् इन के प्रतिग्रह को मूर्ख ले तो ये २ नष्ट होते हैं। सुवर्ण और भोजन का दान अज्ञानी को भोगासक्त करके आयु नष्ट करता है । भूमि और गोदान अज्ञानी को मुफ़त के आकर देह क्षीण करते हैं क्योंकि वह मिथ्याहार विहार करता है। घोड़ा और आंख दोनों इन्द्रतत्त्व-प्रधान हैं। वस्त्र और त्वचा शरीर को ढांपते हैं। घृत वृथा दान से मिला हुवा तेज नहीं बढ़ाता, किन्तु मिथ्याप्रयुक्त हुवा तेज का नाश करता है। तिल मिथ्याप्रयुक्त हो वीर्य को विगाड़ कर सन्तति में बाधक होते हैं)॥१८९॥ तप से शून्य और वेदादि जिस के पठित नहीं, ऐसा प्रतिग्रह लेने की इच्छा करने वाला द्विज, पानी में पत्थर की नाव के समान उस प्रतिग्रह के साथ ही डूब जाता है ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्।स्वल्पकेनाप्य ऽविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति।१९१।न वार्यपिप्रयच्छेत्तुबैडाल व्रतिके द्विजे। न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ।१९२।

अर्थ—इस लिये मूर्ख ऐसे वैसे प्रतिग्रह से डरे । थोड़े प्रतिग्रह में भी मूर्ख ऐसे फंस जाता है, जैसे कीचड़ में गौ ॥ १९१ ॥ धर्म का जानने वाला, पूर्वोक्त बैडालव्रत वाले तथा बकव्रत वाले और वेद के न जानने वाले विप्र वा द्विज नामधारी को जल भी न देवे ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तंहि विधिनाप्यर्जितं धनम्।दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके

तरन्। तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४॥

अर्थ–न्यायोपार्जित भी धन इन तीनों को दिया हुवा देने वाले और लेने वाले को परलोक में अनर्थ का हेतु होता है ॥१९३॥ जैसे पत्थर की नाव से तरता हुवा नीचे को डूबता है वैसे ही लेने और देने वाले दोनों अज्ञानी डूबते हैं॥ (दाता को इस कारण पाप है कि मूर्खों को देकर मूर्खसंख्या की वृद्धि करता है और लेने वाला मूर्ख जगत् का उपकार नहीं कर सकता) ॥१९४॥

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिकोलोकदम्भकः। वैडालव्रतिको ज्ञेयोहिंस्रःसर्वाभिसन्धकः॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकःस्वार्थ-साधनतत्परः। शठोमिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरोद्विजः॥१९६॥

अर्थ–(जो लोगों में प्रसिद्ध के लिये धर्म करता है और आप भी कहता है वा दूसरों से प्रख्यात कराता है वह) धर्मध्वजी और परधन की इच्छा वाला और छली तथा लोगों में दम्भ फैलाने वाला, हिंसकस्वभाव वाला, सब को बहकाकर भड़काने वाला, बिलाव के सा व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य–बैडालव्रतिक मनुष्य जानिये ॥ (इस से आगे चार पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:–

[ यस्य धर्मध्वजो नित्यं सूरध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छिन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ ]

जिस के धर्म का झण्डा तो देवध्वजा सा ऊंचा फहरावे, परन्तु पाप छिपे हुवे रहें। इस व्रत को "बैडाल" कहते हैं) ॥ १९५ ॥ नीचे दृष्टि रखने वाले, कर्महीन, स्वार्थसाधन में तत्पर, शठ और झूठा विनय करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को "बकव्रती" जानो ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनोविप्रा ये चमार्जारलिङ्गिनः।ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१९८॥

अर्थ–जो विप्र बकव्रत और मार्जारव्रत वाले हैं वे उस पाप से अन्धतामिस्र में गिरते हैं ॥ १९७ ॥ पाप करके धर्म के बहाने (मिष) से व्रत न करे। (जैसा कि) व्रत से पाप को छिपा कर, स्त्री और शूद्रों=मूर्खों को बहकाता हुवा (लोभी रहा करता है) ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।छद्मनाचरितंयच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति॥१९९॥अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण योवृत्तिमुपजीवति। स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ-परलोक तथा इस लोक में ऐसे विप्र ब्रह्मवादियों से निन्दित हैं। और छल से किया हुवा व्रत राक्षसों को पहुंचता है॥१९९॥ जो अब्रह्मचारी आदि ब्रह्मचारी आदि का वेष धारण करके भिक्षा मांगता है,वह ब्रह्मचारी आदि के पाप को आप लेता और तिर्यक् योनि में जन्म पाता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च। अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक्॥२०२॥

अर्थ-( यदि बनाने वाले ने परोपकारार्थ न बनाया हो तौ ) दूसरे के पोखर ( हौज़ ) में कभी स्नान न करे। उस में स्नान करने से पोखर वाले का बुरा अंश लग जाता है ॥ ( इस का तात्पर्य यह है कि जो किसी ने नित्य अपने स्नान के निमित्त पोखर ( हौज़ ) बना रक्खा है, उस में कुछ तौ नित्य एक ही मनुष्य के स्नानयोग्य थोड़े जल में उस के शारीरिक विकार सञ्चित रहते हैं, वे अन्य को स्नान करने से लग जाते हैं, कुछ उस के साथ झगड़ा, लड़ाई,टण्टा होना भी संभव है। इस के आगे एक यह श्लोक ७ पुस्तकों में अधिक भी पाया जाता है:-

[ सप्तोद्धृत्य ततःपिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्च वा।
उदपानात्स्वयंग्राहाद्बहिः स्नात्वा न दुष्यति ॥ ]

यदि उस पोखर में ७ वा ५ ( गारे के ) पिण्ड निकाल देवे तौ स्वयंग्राह पोखर से बाहर चाहे स्नान करले, दोष नहीं) ॥२०१॥ सवारी, शय्या, आसन, कुवा, बाग़ीचा, घर; ये विना दिये भोग करने वाला उसके स्वामी के चौथाई पाप का भागी होता है ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च। स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च॥२०३॥यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणोनियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

अर्थ–नदी या दैव (कुदरती) सरोवर या तालाब या सर या गड्ढे या झरने में सर्वदा स्नान किया करे ॥२०३॥ विद्वान् सर्वदा यमों का सेवन करे न कि केवल नियमों का ॥ (हिंसा न करना, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; ये ५ यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान; ये ५ नियम हैं। इन में नियमों से यमों को प्रधानता है) जो यमों को न करता हुआ केवल नियमों को करता है वह गिर जाता है ॥

(इन से आगे निम्नलिखित चार श्लोकों में से १ श्लोक १४ पुस्तकों में, दूसरा ४ पुस्तकों में, तीसरा ११ पुस्तकों में और चौथा ४ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:–

[आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा। ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥१॥ अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता। अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ २ ॥ शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ। व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश॥३॥ अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ ४ ॥]

आनृशंस्य, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता, ये दश यम हैं ॥१॥ अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, बनावट न करना, चोरीत्याग; ये ५ यम और उपव्रत भी कहाते हैं ॥२॥ शौच, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थेन्द्रिय का निग्रह, व्रत, उपवास, मौन, स्नान; ये १० नियम हैं ॥३॥ क्रोध न करना, गुरु की सेवा, शौच, हलका भोजन, प्रमाद न करना; ये ५ नियम और उपव्रत भी कहाते हैं) ॥ २०४ ॥

नाश्नोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा। स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः। प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥२०६॥

अर्थ–जिस यज्ञ में आचार्य वेदपाठी न हो और जिस में समस्त ग्राम भर (विना विवेक) का अध्वर्यु तथा स्त्री वा नपुंसक होता हो, ऐसे यज्ञ में ब्राह्मण कभी भोजन न करे ॥२०५॥ जिस यज्ञ में पूर्वोक्त होता आदि काम

करते हैं वह सज्जनों को बुरा लगने वाला और विद्वानों को अप्रिय है। इस से उस में भोजन न करे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च पदास्पृष्टं च कामतः॥२०७॥भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया। पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

अर्थ–उन्मत्त, क्रोधी, रोगी का अन्न तथा केश वा कीड़ों ( के मिलने ) से दुष्ट हुवा और इच्छा से पैर लगाया अन्न कभी भोजन न करे ॥२०७॥ भ्रूणहत्यारों का देखा हुवा, रजस्वला का छुवा हुवा, कौवा आदि पक्षियों का चाटा हुवा और कुत्ते का छुवा हुवा भी ( अन्न भोजन न करें ) ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः। गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥२०९॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च। दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च २१०

अर्थ–गौ का सूंघा हुवा और विशेष घोटा ( घिचोला ) हुवा अथवा "कोई है? जो ले और खावे" ऐसे पुकार कर दिया हुवा और समुदाय का अन्न तथा वेश्या का अन्न और विद्वानों का निन्दित; ( ऐसे अन्न का भी भोजन न करे ) ॥ २०९ ॥ चोर, गवैया, तक्षवृत्ति=बढ़ई, वृद्धि=व्याज का उपजीवन करने वाले, कृपण तथा बंधुवे का ( अन्न भोजन न करे ) ॥२१०॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च। शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च॥२११॥चिकित्सकस्यमृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः। उग्रान्नंसूतिकान्नंच पर्याचान्तमनिर्दशम्२१२

अर्थ–लोगों में पातकों से प्रसिद्ध हुवे का, नपुंसक का, व्यभिचारिणी का, दम्भी का और खमीर वाला खट्टा सड़ा बासी तथा शूद्र का भोजन करके बचा हुवा अन्न, (भोजन न करे) ॥२११॥ वैद्य, शिकारी, क्रूर ( बदमिज़ाज ), जूठन खाने वाले, उग्रस्वभाव और सूतिका का, एक के अपमान में दूसरा भोजन करे वह, और सूतकनिवृत्ति न हुवे का अन्न ( न भोजन करे ) ॥२१२॥

अनर्चितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः। द्विषदन्नं नगर्यन्नं

पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा । शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥२१४॥

अर्थ—विना सत्कार के दिया हुवा, वृथा अन्न, मांस, जिस स्त्री के पति पुत्र न हों उस का, शत्रु का, ग्रामाधिपति का, जाति के निकाले का और छींका हुवा अन्न ॥ ( ३ पुस्तकों में नगर्यन्नं=कदर्यान्नं पाठ है। यही अच्छा भी प्रतीत होता है ) ॥ २१३ ॥ चुगलख़ोर, झूंठी गवाही देने वाले और यज्ञ बेचने वाले, नट, सौचिक=दर्ज़ी और कृतघ्न का अन्न (न भोजन करे) ॥२१४॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥ श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च । रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अर्थ—लोहार, निषाद, तमाशा करने वाले, सुनार, बांस का काम बनाने वाले, शस्त्र बेचने वाले ॥ २१५ ॥ और कुत्ते पालने वाले, कलाल, धोबी, रङ्गरेज़, निर्दयी और जिस के मकान में जार हो ( अर्थात् जिस की स्त्री व्यभिचारिणी हो ) उस का ( अन्न भोजन न करे ) ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः । अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥२१७॥ राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् । आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥२१८॥

अर्थ—जो ( घर में ) स्त्री के जार को (जानकर) सहन करते हैं उन का और जो सब प्रकार स्त्री के आधीन हैं उन का, दशाह के भीतर जो सूतकान्न है वह, और तृप्ति का न करने वाला अन्न ( भोजन न करे ) ॥२१७॥ राजा का अन्न तेज को और शूद्र का अन्न ब्रह्मसम्बन्धी तेज को, स्वर्णकार का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को ले जाता है ॥ २१८ ॥

कारुकान्नंप्रजांहन्ति बलंनिर्णेजकस्यच । गणान्नंगणिकान्नंच लोकेभ्यःपरिकृन्तति ॥२१९॥ पूयंचिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् । विष्ठावार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणोमलम्

अर्थ—बढ़ई का अन्नसन्तति का नाश करता है । धोबी का बलनाश और समुदाय तथा गणिका का अन्न लोकों का नाश करता है (अप्रतिष्ठित है)

॥२१९॥ वैद्य का अन्न पीप के समान है और वेश्या का अन्न इन्द्रियसम है तथा व्याजवृद्धिजीवी का अन्न विष्ठा और शस्त्र बेचने वाले का अन्न (शरीर के) मैल के समान है ॥ २२० ॥

यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाःक्रमशःपरिकीर्त्तिताः। तेषांत्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नंमनीषिणः २२१ भुक्तातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेवच ॥२२२॥

अर्थ–ये और दूसरे कि जिन के अन्न क्रम से भोजन करने योग्य नहीं, उन के अन्न को मनीषी लोग त्वचा हड्डी रोम के समान कहते हैं ॥ (इस से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:–

[ अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम्।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ ]

ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का दूध, वैश्य का अन्न, अन्न और शूद्र का रुधिर के समान है॥ इसी से हम को यह भी शङ्का होती है कि अन्य श्लोक भी जो भिन्न २ अन्नों को भिन्न २ निन्दनीय उपमा देते हैं, कदाचित् पीछे ही से निन्दार्थवाद के लिये बढ़ाये गये हों। परन्तु आशय कुछ बुरा नहीं) ॥२२१॥ इन में से किसी का अन्न विना जाने भोजन करे तौ तीन दिन उपवास प्रायश्चित्त करे और जान कर भोजन करे तो कृच्छ्र व्रत करे। ऐसे ही विना जाने वीर्य मल मूत्र के भक्षण में भी (कृच्छ्र व्रत करे) ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्यपक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनोद्विजः। आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम्२२३श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्य चवार्धुषेः। मीमांसित्वोभयंदेवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

अर्थ–विद्वान् ब्राह्मण, श्रद्धा से शून्य शूद्र का पक्वान्न भोजन न करे, परन्तु विना लिये काम न चले तौ कच्चा अन्न एक दिन के निर्वाह मात्र ले लेवे (नन्दन टीकाकार ने "अश्राद्धिनः" पाठ माना है और उत्तम भी यही है। तथा सब से प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि ने भी इस पाठान्तर का वर्णन किया है। और अगले श्लोक में भी श्रद्धा की प्रधानता का वर्णन है। सर्वज्ञ नारायण भाष्यकार भी श्रद्धा अर्थ करते हैं। नन्दन टीकाकार यह भी कहते हैं

कि "श्रद्धारहित शूद्र का पक्वान्न न खावे, इस कहने से श्रद्धालु शूद्र का पक्वान्न ग्राह्य समझना चाहिये" ॥ इस से आगे एक श्लोक १ पुस्तक में और रामचन्द्र की टीका में, जो सब से नवीन है, पाया जाता है:—

[ चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।
अमुक्तयोरगतयोरद्याद्दृष्ट्वैव परेऽहनि ॥ ]

चन्द्र सूर्य के ग्रहण में भोजन न करे। जब ग्रहण होकर (चन्द्र और सूर्य) मुक्त होजावें तब स्नान करके भोजन करे। यदि विना मुक्त हुवे छिप जावें तो अगले दिन भोजन करे॥ यह लीला ग्रहण में भोजन न करने की चाल को पुष्ट करने के लिये की गई जान पड़ती है ) ॥२२३॥ कृपण श्रोत्रिय और वृद्धिजीवी दाता; इन दोनों के गुण दोषों को विचार कर देवता लोग दोनों के अन्नों को समान कहते थे ॥ इस पर—[ देखो संग्रन्थ पृ० १४४ पं० २३ ]

( २०५ से २०४ तक जिन जिन के अन्न अभक्ष्य कहे हैं, उन में कारणों से दोष हैं। कहीं तो अन्न में दोष की सम्भावना है। कहीं अन्न वाले की वृत्ति वा जीविका निन्दित है। कहीं उस का अन्न खाने में अपने ऊपर उस का दबाव रहना अनुचित है। कुछ कुछ अत्युक्ति भी है। कई जगह नवीन श्लोक भी मिलाये गये हैं, जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते। कहीं २ उस उस का अन्न खाने से अपने गौरव=बड़प्पन का नाश है। कहीं अवेदवित् के कराये वेदविरुद्ध यज्ञ की निन्दार्थ ही उस यज्ञ का अन्न वर्जित है। कहीं कच्चे अन्न में न्यून विकार और पक्के में अधिक विकार वा संसर्गदोष लगना कारण है। कहीं अपनी उच्चता की रक्षामात्र ही तात्पर्य है। और जो २ यहां गिनाये हैं, उन के अतिरिक्त भी जहां २ हानि का कारण उपस्थित हो वहां का अन्न त्याज्य और जो त्याज्य गिनाये हैं उन में हानि की सम्भावना न हो तो ग्राह्य समझना चाहिये। कारण को प्रधान समझना बुद्धिमानों का काम है, यह भोजन (न्योता जीमने) का बहुत प्रपञ्च इस लिये कहा है कि जो पुरुष अत्यन्त शुद्ध पवित्र धर्मात्मा आत्मा की उन्नति का चाहने वाला द्विजोत्तम है, उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई बुराई न लगने पावे। राजा के अन्नत्याग का तात्पर्य अपने से अति अधिक प्रभुता रखने वाले मात्र के अन्न का त्याग है। उस के भोजन करने से अपना महत्त्व घटता है। महत्त्व और तेज के

घटने से धर्म कर्म का उत्साह भी कम होजाता है। शूद्र के अन्न से नीचपन आकर उत्तमता घटती है। सुवर्ण की चोरी महापातक है और सुनार प्रायः उसे कर सकते हैं, इस से उस का अन्न दुराचारप्रवर्त्तक होने से आयु का नाशक है। बढ़ई प्रायः हरे वृक्षों को भी लोभ से काटते हैं। इन के अन्न से सन्तति पर प्रभाव पड़ना सम्भव है। धोबी कपड़े के और अपने बल का घटाने वाला है। समुदाय और वेश्या से वृथाऽऽगत धन बहुत मिलना संभव है, उस से जैसे शहद की लोभिनी मक्खी उड़ती नहीं, मर रहती है, वैसे फंसना सम्भव है। चिकित्सक चीर फाड़ करने वाले वैद्य की वृत्ति निर्घृण होजाती है। व्याज वाला वृद्धि ही प्रतिक्षण शोचता है। शस्त्र बेचने वाला एक क्रूर जीविका करता है। इत्यादि कारण स्वयं विचारणीय हैं ) ॥२२४॥

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्। श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५॥ श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ-ब्रह्मा उन देवतों के पास आकर बोले कि तुम लोग विषम को सम मत करो। क्योंकि वृद्धिजीवी दाता का अन्न श्रद्धा से पवित्र होता है और कृपण श्रोत्रिय का अश्रद्धा से अपवित्र (सम नहीं) होता है ॥२२५॥ श्रद्धा से यज्ञादि और कूपतड़ागादि को आलस्यरहित होकर सर्वदा बनावे। न्यायार्जित धनों से श्रद्धा से किये हुवे ये कर्म अक्षय फल देते हैं ॥ २२६ ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥२२७॥ यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनाऽनसूयया। उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥२२८॥

अर्थ-आनन्द से युक्त होकर योग्य पात्र को पाकर यथाशक्ति यज्ञादि और कूपतड़ागादि दान धर्मों को सदा करे ॥

( २२९ से आगे केवल एक पुस्तक में ये दो श्लोक अधिक पाये गये हैं:-

[ पात्रभूतोहि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्। असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः। धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ॥ ]

जो ब्राह्मण दानार्थ दिया हुआ प्रतिग्रह लेकर बुरे कामों में लगाता हो उसे कुछ न दे ॥ जो चारों ओर से प्रतिग्रह लेकर धनसञ्चय करे परन्तु धर्म के कामों में न लगावे उस तस्कर को न पूजे )॥२२७॥ दोष न लगाकर कोई अपने से कुछ मांगे तौ यथाशक्ति कुछ न कुछ देवे ही, क्योंकि देने वाले को वह पात्र भी कभी मिल जावेगा जो कि सब से तार देगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥२२९॥ भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥२३०॥

अर्थ-जल देने वाला तृप्ति, अन्न का देने वाला अक्षय सुख, तिल का देने वाला यथेष्ट सन्तति और दीपक देने वाला अच्छी आंख पाता है ॥२२९॥ भूमि देने वाला भूमि, सोना देने वाला दीर्घायु, घर देने वाला अच्छे महल और चांदी देने वाला अच्छा रूप पाता है ॥ ( एक पुस्तक में भूमिमाप्नोति=सर्वमाप्नोति पाठ है ) ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥२३१॥ यानशय्याप्रदोभार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।धान्यदःशाश्वतंसौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥

अर्थ-वस्त्र देने वाला चन्द्रसमान लोक=शरीर पाता है। घोड़े का देने वाला अश्व वालों की जगह पाता है। बैल का देने वाला बहुत सम्पत्ति और गौ देने वाला सूर्य के तुल्य प्रकाश को पाता है ॥ ( एक पुस्तक में अश्विसालोक्यं=सूर्यसालोक्यं पाठ है ) ॥२३१॥ सवारी और शय्या का देने वाला भार्या, अभय का देने वाला राज्य, धान्य देने वाला निरन्तर सुख और वेद देने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेवदानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥ येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥

अर्थ-जल,अन्न,गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत, इन सब दानों से ब्रह्मदान ( वेद का पढ़ाना ) अधिक है ॥२३३॥ जिस जिस भाव से जो जो दान देता है उसी २ भाव से दिया हुवा सत्कारपूर्वक पाता है ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् । नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥२३६॥

अर्थ—जो सत्कारपूर्वक दान लेता है और जो सत्कारपूर्वक देता है, वे दोनों स्वर्ग में जाते हैं और उस के विपरीत करने वाले दोनों नरक में जाते हैं ॥ २३५ ॥

(२२७ से २३५ तक दान का माहात्म्य है । जल प्रत्यक्ष तृप्ति का हेतु है । अन्नभोजन से जैसा सुख मिलना प्रसिद्ध है वैसा अन्य पदार्थ से नहीं । तिलों में सन्तानोत्पादन का प्रभाव है । जब स्त्रियों का रज रुक जाता है वा सन्तानोत्पत्ति में बाधा होती है, तब वैद्य तिलप्रधान भोजन बताते हैं । जैसे गाली देने वाले गाली खाते हैं, वैसे ही जो अन्यों के लिये भलाई करेगा, वह परमात्मा की व्यवस्था से वैसे ही भलाई पावेगा । सोने के वर्क खाने से आयु बढ़ना वैद्यक का भी मत है । जैसे पृथिवी को किसान बीज देते हैं, पृथिवी उन्हें बीज देती है । कूप लोगों को जल देता है तो उस का जल बढ़ता है । चन्द्रमा का रूप सौन्दर्य उपमा में भी लिया जाता है । वस्त्र की श्वेतता प्रशंसनीय है और चन्द्रमा की भी । बैल-कृष्यादि से वैश्य की लक्ष्मी बढ़ाने वाले हैं । दान के परिमाणानुसार फल का परिमाण वा देश, काल, वस्तु श्रद्धा आदि के अनुसार फल की न्यूनाधिकता माननी ही पड़ेगी ) ॥२३५॥ तप करके आश्चर्य न करे ( कि मेरा तप बहुत है ) और यज्ञ करके असत्य न बोले ( कि मैंने यह किया और वह किया ) और पीड़ित होने पर भी विप्रों की निन्दा न करे और दान देकर चारों ओर (लोगों से) कहता न फिरे ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्त्तनात् ॥२३७॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यऽपीडयन् ॥२३८॥

अर्थ—असत्यभाषण से यज्ञ नष्ट होता है, विस्मय से तप तथा ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और चारों ओर कहने से दान घटता है ॥२३७॥ परलोक के हित के लिये सम्पूर्ण जीवों की पीड़ा न देता हुआ, धीरे धीरे धर्म को सञ्चित करे, जैसे दीमक बम्बी को बनाती हैं ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥ एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते। एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥२४०॥

अर्थ—परलोक में सहाय के लिये मा बाप नहीं रहते, न पुत्र, न स्त्री, केवल एक धर्म रहता है ॥२३९॥ अकेला ही जीव उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। अकेला ही सुकृत को और अकेला ही दुष्कृत को भोगता है ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥ तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

अर्थ—लकड़ी और ढेला सा मृतक शरीर को भूमि पर छोड़ कर बान्धव पीछे लौट जाते हैं (उस मरे के पीछे कोई नहीं जाता) धर्म उस के पीछे जाता है ॥२४१॥ इस कारण धर्म को सहायता के लिये सर्वदा धीरे २ सञ्चित करे, क्योंकि धर्म ही की सहायता से अति कठिन दुःख से तरता है ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्। परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२४३॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह। निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥२४४॥

अर्थ—तप से नष्ट हुआ है पाप जिस का ऐसे धर्मपरायण प्रकाशयुक्त मुक्त स्वरूप पुरुष को (धर्म) शीघ्र मोक्षधाम को लेजाता है ॥२४३॥ कुल को उन्नत करने की इच्छा करने वाला सर्वदा अच्छे २ पुरुषों के साथ (कन्यादानादि) संबन्ध करे और अधम २ मनुष्यों के साथ छोड़ देवे (न करे) ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्। अहिंस्रोदमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

अर्थ—(क्योंकि) उत्तम पुरुषों से सम्बन्ध करने और हीनों के त्याग से ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है। नीचसंबन्धों से नीचता को (प्राप्त होजाता है) ॥२४५॥ दृढ़ वृत्ति वाला, निष्ठुरतारहित, शीत उष्णादि का सहन करने वाला

क्रूर आचरण वाले पुरुषों का सहवास छोड़ता हुवा, हिंसारहित पुरुष दम= इन्द्रियसंयम और दान से स्वर्ग को जीतता है ॥ २४६ ॥

"एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाऽभयदक्षिणाम्॥२४७॥ आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादऽप्रचोदिताम्। मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः॥२४८॥"

अर्थ-"इन्धन, जल, मूल, फल, अन्न और अभय दक्षिणा; ये विना मांगे प्राप्त हों तो सब से ग्रहण करले ॥२४७॥ ले आई और सामने रक्खी, लेने वाले ने पूर्व न मांगी हुई भिक्षा पापकारी से भी ग्रहण करे, यह ब्रह्मा ने माना है" ॥ २४८ ॥

"नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च। न च हव्यं वहत्यऽग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ।२४९। [चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः। षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत्॥ न विद्यमानमेवैवं प्रतिग्राह्यं विजानता। विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्त्तितः॥] शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि। धानामत्स्यान् पयोमांसं शाकं चैव न निर्णुदेत्"॥२५०॥

अर्थ-"उस के किये श्राद्ध में पितर पन्द्रह वर्ष भोजन नहीं करते और अग्नि उस के हवि को ग्रहण नहीं करता, जो कि अयाचित भिक्षा का अपमान करता है" ॥

[ वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, व्याजजीवी, नपुंसक और वेश्या का प्रतिग्रह विना मांगे मिलने पर भी न ले। यह प्रतिग्रह जान बूझ कर, अपने पास होते हुवे न ले, परन्तु न होते हुवे लेने में विकल्प करने से धर्महीन हो जाता है ॥ इन दोनों श्लोकों पर सब से पिछले रामचन्द्र टीकाकार की टीका है। मेधातिथि आदि अन्य ५ की नहीं। इन से नूतनकाल में ही इन का मिलाया जाना पाया जाता है। पिछले और अगले श्लोकों से सम्बन्ध ऐसा मिलाया है कि कोई जानने न पावे। इन दो में से पहला श्लोक ११ पुस्तकों में पाया जाता है और दो पुस्तक में कुछ २ पाठान्तर से पाया जाता है तथा दूसरा श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है ] ॥ २४९ ॥

"शय्या, घर, कुशा, गन्ध, जल, पुष्प, मणि, दधि, धाना, मत्स्य, दूध, मांस और शाक; इन का प्रत्याख्यान न करे ( कोई देवे तो न लौटादे ) ॥२५०॥"

"गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन्। सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः२५१ गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन्। आत्मनोवृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा" ॥२५२॥

"अर्थ—गुरु और भृत्य भार्यादि क्षुधा से पीडित हों तो इन की तृप्ति और देवता अतिथि के पूजन के लिये सब से ग्रहण करले, परन्तु आप उस में से भोजन न करे ॥२५१॥ किन्तु माता पिता के मरने पर वा उन के विना घर में रहता हुवा अपनी वृत्ति की इच्छा करता हुवा सदा साधु से ही ग्रहण करे" ॥ २५२ ॥

"आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालोदासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्" ॥२५३॥

अर्थ—"आधी साझे की खेती आदि करने वाला और कुलमित्र और गोपाल तथा दास और नापित; ये शूद्रों में भोज्यान्न हैं (अर्थात् इन का अन्न भोजनयोग्य है) और जो अपने को निवेदन करे (उस का भी अन्न भोजनयोग्य है" ॥ २५३ ॥

(सब का जल पीना विना मांगे मिलने पर भी अपेय है और इस २४७ वें में तौ मूल फल अन्न सभी विना मांगे स्वयं कोई कहे कि "लीजिये" तौ ग्रहण करना विधान करके पिछली सारी शुद्धि पर पानी फेर दिया। २४८ वें में दुष्कृतकर्मा की भी अयाचित भिक्षा का ग्रहण अनुचित है। प्रथम तौ अयाचित का नाम भिक्षा रखना ही व्यर्थ है और श्लोक बनाने वाले को अपने हृदय में भी घिन और त्याज्य होने का सन्देह है, उसी को दबाता हुवा कहता है कि "इस को प्रजापति ने ग्राह्य माना है" अर्थात् मेरा कहना तुम न मानो तौ प्रजापति की अनुमति तौ माननी ही चाहिये। धन्य! २४७ में कहा है कि जो अयाचित भिक्षा का अनादर करता है, उस के पितर और अग्नि १५ वर्ष तक कव्य हव्य नहीं खाते हैं। मरे पितरों की दशा तौ श्लोक बनाने वाले जानें, परन्तु जीते पितर और अग्नि तौ खाते प्रत्यक्ष दीखते हैं। तथा मनु ने ही जब कि दान लेने से न लेने को उत्तम लिखा है कि (प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागोविशिष्यते) वा (प्रतिग्रहः प्रत्यवरः) दान लेना हलका तुच्छ काम है तौ न लेने वाले को ऐसा भ्रष्ट बताना कि उस का हव्य अग्नि भी नहीं ग्रहण करता, कैसे अन्धेरे की बात

है । २५० में पाठभेद भी है । ३ पुस्तकों में (मत्स्यान्=फलम्) पाठ है और इस श्लोक बनाने वाले का जी मछली को ऐसा ललच गया कि प्रक्षिप्त श्लोकों में ही अध्याय ५ श्लोक १५ में मछली को खाना सर्वभक्षीपना होने से वर्ज्य बतावेंगे, उसे भी भूल गया । वा इन प्रक्षिप्तों का कर्त्ता भी एक पुरुष नहीं, किन्तु अनेकों ने भिन्न २ समयों में ये श्लोक मिलाये हैं और चोर को सुध भी नहीं रहती कि आगे पीछे क्या है । २५१ में सब प्रतिग्रह माता पिता आदि तथा देवता अतिथि की पूजार्थ ग्राह्य कर दिया । भला जो अपना पेट नहीं भर सकता, न अपने माता पिता का, उस के अतिथि क्यों आने लगा है । स्नातक विप्र की वृत्तियों का वर्णन करते हुवे खेती वाणिज्यादि जब उस का कर्म ही नहीं तब २५३ वें का यह कहना कि आधा साझा खेती व्यापारादि में जिन का हो इत्यादि शूद्रों का अन्न भी भक्ष्य है, असङ्गत है और खेती वैश्यकर्म है, शूद्रकर्म नहीं ( २४९ के आगे जो दो श्लोक सब पुस्तकों में भी नहीं मिलते, वे भी अपने साथियों के प्रक्षिप्त होने के संशय को दृढ करते हैं और २४६ का २५४ से सम्बन्ध भी नहीं बिगड़ता । इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में २४७ से २५३ तक ७ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ) ॥ २५३ ॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

अर्थ-जैसा इस का आत्मा हो और इस को करना हो और जैसे इस की कोई सेवा करे वैसा ही अपने को निवेदन करे ॥ २५४ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥२५५॥ वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तांतु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥२५६॥

अर्थ-जो अपने को और कुछ बताता है और है कुछ और, वह लोगों में बड़ा पाप करने वाला आत्मा का चुराने वाला चोर है॥२५५॥सम्पूर्ण अर्थ वाणी में बन्धे हैं और सब का मूल वाणी ही है और सब वाणी से निकले हैं, उस वाणी को जो चुरावे वह मनुष्य सम्पूर्ण चोरियों का करने वाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि।पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥२५७॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥२५८॥

अर्थ-ऋषि पितर देवता इन का ऋण देकर और यथाविधि पुत्र को कुटुम्ब भार सौंप कर, समदर्शी होकर रहे ॥२५७॥ निर्जन स्थान में अकेला आत्मा का हितचिन्तन करे क्योंकि अकेला ध्यान करता हुआ परम श्रेय ( मोक्ष ) को पाता है ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती। स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥२५९॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषोनित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



अर्थ-यह गृहस्थ ब्राह्मण की सनातन वृत्ति और स्नातक का व्रत और कल्प जो शुभ गुण की वृद्धि करता है, कहा ॥ २५९ ॥ वेद शास्त्र का जानने वाला विप्र इस शास्त्रोक्त आचार से नित्यकर्मानुष्ठान करता हुआ पाप को नष्ट कर ब्रह्मलोक में बड़ाई को पाता है ॥ २६० ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



ओ३म्

# अथ पञ्चमोऽध्यायः

"श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान्। इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥१॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्। कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो! ॥२॥"

"अर्थ—ऋषि लोग स्नातक के यथोक्त धर्म सुन कर महात्मा अग्निवंशी भृगु के प्रति यह वचन बोले॥ १ ॥ (कि) हे प्रभु। जो ब्राह्मण स्वधर्म करते और वेदशास्त्र के जानने वाले हैं, ऐसे विप्रों की ( अकाल ) मृत्यु कैसे हो जाती है ? ॥ २ ॥"

"स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥३॥"
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥४॥

अर्थ—"मनुवंशी भृगु जी उन महर्षियों के प्रति बोले कि सुनिये—जिस दोष से मृत्यु (अकाल में) विप्रों को मारना चाहता है" ॥ (इन श्लोकों से यह स्पष्ट पाया जाता है कि इन का कर्त्ता मनु नहीं है, न भृगु। किन्तु किसी ने "विप्राञ्जिघांसति" इन चतुर्थ श्लोक में आये पदों की सङ्गति मिलाकर ये श्लोक बना दिये हैं) ॥३॥ वेदों के अनभ्यास और आचार के छोड़ने तथा सत्कर्मों में आलस्य करने और अन्न के दोष से (अकाल) मृत्यु विप्रों को मारना चाहता है ( आगे अन्न दोष बताते हैं:— ) ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं* चैव पलाण्डुं कवकानि च। अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥५॥ लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा। शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—लहसन, * शलगम, पियाज, कुकुरमुत्ता और जो मैले में उत्पन्न हों, द्विजातियों को अभक्ष्य हैं ॥ ५ ॥

* साधारणतया गृञ्जन को ३ अर्थों में लेते हैं। १-गाजर २-शलजम वा शलगम ३-लहसन, परन्तु मुख्य करके गृञ्जन का अर्थ शलगम ही जान पड़ता है। जैसा कि धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग अङ्क १० में-

गृञ्जनं शिखिमूलं च यवनेष्टं च वर्त्तुलम्।
ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं कन्दं डिण्डीरमोदकम्॥
गृञ्जनं कटुकोष्णं च दुर्गन्धं गुल्मनाशनम्।
रुच्यं च दीपनं हृद्यं कफवातरुजापहम्॥

गृञ्जन जिस के मूल पर शिखा है, जो यवनों का इष्ट (पसन्द) है, गोल है, जो गांठदार मूल है, शिखा कन्द, कन्द, डिण्डीरमोदक जिसके नामान्तर हैं, वह गृञ्जन कटु गर्म दुर्गन्ध है और गुल्मरोगनाशक है। रुचि, अग्नि और हृदय को बढ़ाने वाला, वात कफ रोगों का नाशक है॥ इस से शलजम का अर्थ पाया जाता है क्योंकि ये गुण जिन में विशेष कर यवनेष्टता, कटुता, दुर्गन्ध, वातकफनाशकता, उष्णता, गोल होना, गांठ होना, ऐसे लक्षण हैं, जो गाजर से नहीं मिलते, शलजम से ही मिलते हैं॥ गृञ्जन से लहसन के ग्रहण में प्रमाण-

महाकन्दोरसोनोऽन्योगृञ्जनोदीर्घपत्रकः।

धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग-इस में लम्बे पत्ते वाले रसोन (लहसन) को गृञ्जन कहा है॥ गृञ्जन का अर्थ गाजर होने में प्रमाण-

गाजर के नाम और गुण उक्त ग्रन्थ के उक्त पते पर-

गर्जरं पिङ्गलं मूलं पीतकं मूलकं तथा।
स्वादुमूलं सुपीतं च नागरं पीतमूलकम्॥
गर्जरं मधुरं रुच्यं किञ्चित्कटु कफावहम्।
आध्मानकृमिशूलघ्नं दाहपित्ततृषापहम्॥

इस में गर्जर के बदले ३ पाठ पाये जाते हैं। १-गृञ्जन २-गृज्जर ३-गर्जर यही गाजर है क्योंकि इस का पीला होना, कफकारक होना, स्वादुमूल होना, मधुर होना, दाह पित्त तृषा शान्त करने वाला होना; ऐसे गुण हैं जो गाजर में पाये जाते हैं॥

अब गृञ्जन का अर्थ गाजर लेने में केवल १ पाठान्तर का सहारा, है अन्य कुछ नहीं, फिर कलकत्ते के छपे बड़े कोष " शब्दकल्पद्रुम " में जो राधाकान्त देव बहादुर ने प्रकाशित किया है उस में भी गृञ्जन का अर्थ शलगम है। यथा-

गृञ्जनम्-क्लो०। मूलविशेषः। ( विषदिग्धपशोर्मांसम्, इति मेदिनी ) शलगम इति ख्यातः। यवनेष्टम्। शिखाकन्दम्। कन्दम्। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। कफवातरोगगुल्मनाशित्वम्। रुच्यं, दीपनं, हृद्यं, दुर्गन्धम्॥

इत्यादि से भी पाया जाता है कि स्पष्ट शलगम ही गृञ्जन है। मेदिनी कोषकार गृञ्जन का अर्थ ज़हर ( विष ) में सना पशुमांस कहते हैं। तथा अन्यत्र यह भी सुनते हैं कि-

गोलोम्यां गृञ्जनं प्रोक्तं लशुने वृत्तमूलके।

अर्थात् गोलोमी ओषधि का नाम गृञ्जन है और गोल आकार मूल लशुन के अर्थ में भी गृञ्जन शब्द है॥ अमरकोष २। ४। १४८ में-

लशुनं गृञ्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः।

कहा है, जिस से लशुन शब्द का पर्याय गृञ्जन पाया जाता है। उसी की महेश्वरकृत अमरविवेकनाम्नी टीका में कहा है कि-

लशुनगृञ्जनयोराकृतिभेदेऽपि रसैक्यादऽभेद इति बहवो मन्यन्ते।

लशुन और गृञ्जन के आकार ( सूरत शकल ) में भेद होने पर भी रस ( स्वादु ) एकसा होने से यहां अमरकोष में दोनों को एक (अभिन्न) कहा है। ऐसा बहुतों का मत है॥

वैदिकनिघण्टु में गृञ्जन शब्द पाया ही नहीं जाता॥ उणादिकोष में भी इस शब्द का पता नहीं मिलता॥

बहुपक्ष और बहुत गुणों के मेल से गृञ्जन का अर्थ शलगम पाया जाता है। यदि यवनेष्ट आदि विशेषणों वा किन्हीं ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भी पता पाया जाय कि शलगम का आगमन भारत में यवनराज्यारम्भ में हुवा, तब भी गृञ्जन का अर्थ गोलोमी हो वा अन्य हो, गाजर नहीं समझ पड़ता॥

उक्त मनु के श्लोक में लशुन शब्द पृथक् पठित है, अतः गृञ्जन का अर्थ लशुन भी नहीं ले सकते क्योंकि वैद्यक शास्त्र का मत है कि-

तुल्याभिधानानि तु यानि शिष्टैर्द्रव्याणि योगेषु निवेशितानि।
अर्थाधिकारागमसंप्रदायैर्विभज्य तर्केण च तानि युञ्ज्यात्॥

अर्थात् शिष्टों के प्रयुक्त अनेकार्थवाचक एक शब्द के प्रयोग में अर्थ अधिकार=प्रकरण, शास्त्र के संप्रदाय और तर्क से विभाग करके काम में लावे॥

सो यहां लशुन शब्द के भिन्न प्रयोग से और ब्रह्मचर्य के प्रकरण से ब्रह्मचर्यनाशक शलगम का अर्थ ही गृञ्जन शब्द से ग्राह्य है वा गोलोभी का, किन्तु गाजर का नहीं॥५॥ रक्तवर्ण वृक्षों के गोंद और वृक्षों के छेदने से जो रस निकलता है वह तथा लिसोड़ा=लभेड़ा और नवीन ब्याई हुई गाय का दूध (पेवसी) यत्न से छोड़ देवे॥६॥

"वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च॥७॥"
अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥८॥

अर्थ-"(तिल चावल मिलाकर पकाया) कृसरसंयाव, लपसी वा खीर, तथा मालपूआ, ये सब वृथा पक्वान्न (अर्थात् विना वैश्वदेव) और बलि विना मांस और हवन के पुरोडाशों को (न भक्षण करे)"॥

(जब कि बलिवैश्वदेवादि न करके भोजनमात्र ही पूर्व निषिद्ध कर आये तब तिल, चावल, लपसी, पूड़े, मांस, हव्य आदि के गिनाने की क्या आवश्यकता है? क्या अन्य वस्तु खाने पकाने में वैश्वदेवादि आवश्यक नहीं? यह मांसाहारियों की लीला प्रक्षिप्त है। एक पुस्तक में "पूपमेव च=पूपशष्कुली" पाठभेद भी है)॥७॥ १० दिन तक प्रसूता गौ का दूध, ऊंटनी का, घोड़ी आदि एक खुरवाली का और भेड़ का, ऋतुमती का तथा जिस का बच्चा मरगया हो उस गौ का दूध (त्याग देवे॥ इस से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः।
सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः॥]

जो दूध अभक्ष्य हैं उन की बनी वस्तु खा लेवे तो जानने पर एकाग्रता से यत्न पूर्वक ७ रात्रि का व्रत करे)॥८॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना। स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥९॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्। यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ-भैंस को छोड़ कर, वन में रहने वाले सब मृगों का दुग्ध और निज स्त्री का दुग्ध तथा बहुत समय के खट्टे हुवे सब पदार्थ भी न खावे पीवे ॥ ९ ॥ खट्टे हुवे द्रव्यों में दही और मट्ठा और जो दही में बने पकौड़ी आदि तथा उत्तम पुष्प मूल फल के संधान से जो पदार्थ ( अचार आदि ) बनतें हैं, वे भक्षण योग्य हैं ॥

(इन भक्ष्यों में कोई दुर्गन्धितयुक्त, कोई शलगम आदि कामोत्तेजक होकर विषयी बना केवल वीर्यनाशक, कोई तमोगुणी बुद्धिनाशक हैं। और यदि कहीं म्लेच्छादि अभक्ष्यभक्षियों की दीर्घआयु और फलादि शुद्ध सात्विकादि खाने वालों की भी अल्प आयु देखते हैं, वह अन्य कारणों से हो ही सकती है)॥१०॥

"क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः। अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११॥ कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम्। सारसं रज्जुबालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥१२॥"

"अर्थ-कच्चे मांस के खाने वाले सब जानवरों, ग्राम के रहने वालों, न बताये हुवे एक खुरवालों तथा गर्दभ और टिड्डी को छोड़ देवे॥११॥ चिड़िया, परेव, हंस, चकवा, ग्राम का मुरग़ा, सारस, बड़ी गुद्दी वाला जलकाक, पपीहा, तोता मैना ॥ १२ ॥"

"प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्। निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च॥१३॥ बकं चैव बलाकां च काकोल खञ्जरीटकम्। मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः॥१४॥"

" अर्थ-चोंच से फाड़ कर खाने वाले, जिन के पैरों में जाल सा हो (बाज़ इत्यादि), चीलह और जो नखों से फाड़ कर खाते हैं तथा पानी में डूब कर जो मछलियों को खाते हैं और सौन=मारने के स्थान का मांस और शुष्क मांस ॥१३॥ बगुला और बत्तक, करेलवा, खञ्जन (मौमला) और मछली के खाने वाले तथा विष्टाभक्षी सूकर और संपूर्ण मछलियों को (न खावे)॥१४॥"

"योयस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते। मत्स्यादः सर्वमांसाद स्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ।१५। पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः:१६"

"अर्थ–जो जिस का मांस खाता है वह उस मांस का खाने वाला कहाता है (मछली सब का मांस खाती है) इस को जो खावे वह सब का खाने वाला कहलाता है, इस से मछली को न खावे ॥१५॥ पाठा और रोहू ये दो मछली हव्य कव्य में ली गई हैं, इस से भक्षणयोग्य हैं और राजीव, सिंहतुण्डा और सब मोटी खाल वाली मछली, ( ये भी भक्षण योग्य हैं ) ॥१६॥"

"न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्। भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान्पञ्चनखांस्तथा १७ श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशां-स्तथा। भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥"

"अर्थ–अकेले चरने वाले (सर्पादि) और मृगपक्षी जो जाने नहीं गये हैं और जो भक्ष्यों में भी कहे हों वे पञ्चनख सब भक्ष्य नहीं (जैसे वानरादि) ॥१७॥ श्वाविध=सेह, शल्यक, गोधा, खड्ग, कछुवा, शशा; ये पांच नख वालों में भक्षण योग्य हैं, ऊंट को छोड़ कर एक ओर दांत वाले भी ॥१८॥"

"छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः॥१९॥ अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्। यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः:२०"

"अर्थ–छत्राक और ग्रामसूकर, लशुन, ग्राम का मुर्गा, पियाज, शलगम, ये सब बुद्धिपूर्वक जो द्विज भक्षण करे वह पतित होवे ॥१९॥ इन छः को जो बुद्धि-पूर्वक भक्षण करे तौ (एकादशाध्याय में कहे) सान्तपन वा यतिचान्द्रायण प्राय-श्चित्त करे और इन से शेष का भक्षण करले तौ एक दिन उपवास करे ॥२०॥"

"संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः। अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः॥२१॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग-पक्षिणः। भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥"

"अर्थ–कभी बिना जाने निषिद्ध का भक्षण कर लिया हो इस लिये द्विज १ वर्ष में १ कृच्छ्रव्रत कर लिया करे और जान बूझ कर किया हो तौ विशेष

करके ॥२१॥ यज्ञ और पोष्यवर्ग की तृप्ति के लिये ब्राह्मण भक्ष्य मृग पक्षियों को मारें क्योंकि पूर्व अगस्त्य मुनि ने भी किया है ॥ २२ ॥"

"बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च" ॥ २३ ॥
यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

अर्थ-"क्योंकि प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुवा करते थे" (११ से २३ वें तक १३ श्लोक मांसाहारियों ने अन्य मांसों की परिशेष से भक्ष्यता सिद्ध करने को मिलाये हैं। इस में कुछ भी संशय नहीं। १० वें श्लोक में बासी सड़े खट्टे ख़मीरी पदार्थों का वर्णन है, फिर २४ वें में भी बासी रक्खे हुवे पदार्थों का ही वर्णन है। इस से उस का सम्बन्ध निर्भ्रम है। लशुन छत्राक पलाण्डु गृञ्जन का निषेध ५ में कर आये, फिर १९ में लिखना प्रमाद है। २२ वें में यह ज़ोर लगाना कि यज्ञार्थ ब्राह्मणों को उत्तम मृग पक्षी वध्य है, पहिले अगस्त्य मुनि ने भी मारे थे, स्पष्ट बतलाता है कि यह अगस्त्य की पौराणिक कथा के भी बनने से पीछे किसी ने मिलाये हैं। २३ वें में प्राचीन ऋषियों के भी यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के मांस से पुरोडाश बनाये गये थे। यह कहना सिद्ध करता है कि श्लोक बनाने वाला अपने समय में मांस को अभक्ष्य प्रसिद्ध जान कर प्राचीन साक्षी देने की कल्पना करता है और "बभूवुः" इस परोक्षभूत क्रिया से जतलाता है कि यह बात बहुत पुरानी है, जो आंखों से देखी नहीं है। भला स्वायंभुव मनु से पूर्व परोक्षभूत कौन लोग ऋषि थे? और अगस्त्य कहां था?)॥२३॥ जो कुछ भक्ष्य या भोज्य निन्दित नहीं है, वह बासी होने पर भी घृतादियुक्त हो तौ भक्षण करले और जो शेष चरु हवन से बचा है उसे भी (अर्थात् पुरोडाश विना घृतादि लगा भी भक्षण करले) ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥
"एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥२६॥

अर्थ—बहुत काल की भी जौ या गेहूं की घृतरहित और दूध की (मिठाई आदि) बनी वस्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भक्षण करलें ॥२५॥ "यह द्विजातियों का निःशेष भक्ष्याभक्ष्य कहा, इसके उपरान्त मांस के भक्षण और त्याग की विधि कहेंगे" । ( जब निःशेष भक्ष्याभक्ष्य कह चुके और मांस भी प्रक्षिप्त श्लोकों में बता चुके, फिर दुबारा उस का प्रस्ताव प्रमाद और धिंगाई है । अतः आगे के श्लोक भी ४२ तक प्रक्षिप्त हैं ) ॥ २६ ॥

"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया । यथाविधिनियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये॥२७॥प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्। स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्॥२८॥"

अर्थ—"ब्राह्मणों की कामना मांसभक्षण की हो तो यज्ञ में प्रोक्षणविधि से शुद्ध करके भक्षण करे और प्राणरक्षा के हेतु विधि के नियम से ॥ २७ ॥ प्राण का यह संपूर्ण अन्न प्रजापति ने बनाया है । स्थावर और जङ्गम संपूर्ण प्राण का भोजन है" ॥ २८ ॥

"चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥२९॥नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥"

"अर्थ—चर जीवों के अचर ( घास आदि ) और दंष्ट्रियों के अदंष्ट्र ( व्याघ्रादि के हरिणादि ) और हाथ वालों के बिना हाथ वाले ( मनुष्यों के मछली आदि ) और शूरों के डरपोक, ऐसे एक का एक भोजन बनाया है ॥२९॥ भक्षणयोग्यों को भक्षण करते हुवे खाने वाले को दोष नहीं लगता क्योंकि विधाता ने ही भोजन और भोजन करने वालों को उत्पन्न किया है" ( यूं तौ चोरों और धनों को भी विधाता ने ही बनाया है तो क्या चोरी पाप नहीं ? ) ॥ ३० ॥

"यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येषदैवोविधिःस्मृतः।अतोन्यथाप्रवृत्तिस्तुराक्षसोविधिरुच्यते॥३१॥क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा। देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति॥३२॥"

अर्थ—"यज्ञ के निमित्त मांसभक्षण करना देवविधि है और इस के सिवाय मांसभक्षण राक्षसविधि कही है ॥३१॥ मोल लेकर अथवा आप ही

मार कर या दूसरे किसी ने लाकर दिया हो, उस को देवता और पितरों को चढ़ा कर खाने से दोष नहीं"। (४ पुस्तकों में "परोपहृतम्" पाठ है। मनु तो ११ वें अध्याय में इसी भिक्षादि का भक्ष्य कहेंगे) ॥३२॥

"नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः। जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥३३॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः। यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ३४"

"अर्थ-अनापत्ति में विधि का जानने वाला द्विज विना विधि के मांस भक्षण न करे क्योंकि विना विधि के जो मांस भक्षण करता है, उस के मरने पर जिन का मांस उस ने खाया है, उसे वे खाते हैं ॥३३॥ रोज़गार के लिये जो पशु मारते हैं, उन को वैसा पाप नहीं होता जैसा कि विना देवपितरों को चढ़ाये मांसभक्षण करने वाले को पाप होता है ॥ ३४ ॥"

"नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ३५ असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन। मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥३६"॥

"अर्थ-मधुपर्क या श्राद्ध में विधि से नियुक्त हुवा जो मांसभक्षण न करे वह मरके इक्कीस वार पशुयोनि में जन्म लेता है (इस धिंगई को तो देखो कि खाने वाले को दोष न मानना तो एक ओर रहा, न खाये तो २१ जन्म तक पशु बने। क्या इस से भी मांसभक्षी वाममार्गियों का प्रक्षेप नहीं जान पड़ता ?) ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से जिन का संस्कार नहीं हुवा, उन पशुओं को विप्र कभी भक्षण न करे और शाश्वत वेद की विधि से यागादिकों में संस्कृत किये हुवों को भक्षण करे (किसी वेदानुकूल यज्ञ में पशुवध विहित धर्म नहीं, श्रौतसूत्रों में जो कुछ है, वह भी इन्हीं वाममार्गियों की लीला है) ॥३६॥

"कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा। न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥३७॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम्। वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥३८॥"

"अर्थ-खाने की इच्छा ही हो तो घृत का पशु वा पिष्ट (मैदा) का पशु बनाकर यथाविधि खावे परन्तु विना देवता के उद्देश पशु मारने की इच्छा

न करे (धन्य !!! आटा वा घृत को भी पशु के आकार बना कर रुचता है !!! इसी से कोई २ गुप्त वाममार्गी वाह्यभीरु यज्ञ में भी आटे वा घृत के पशु बनाया करते थे, यह प्रसिद्ध है) ॥३७॥ विना देवता के उद्देश जो पशु मारता है वह मरने पर जितने पशु के रोम हैं उतने ही जन्मों तक अन्यों से मारा जाता है (हमारी सम्मति में तौ देवतों का नाम न लेकर खाने वाले पापी इतने बढ़िया कलङ्की नहीं हैं, जितने ये हैं । ५ पुस्तकों में "कृत्वेह" पाठभेद है ) ॥ ३८ ॥"

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा। यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥३९॥ ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा। यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥"

"अर्थ—ब्रह्मा ने स्वयं ही सब यज्ञ की सिद्धि वृद्धि के अर्थ पशु बनाये हैं, इस लिये यज्ञ में पशुवध वध नहीं है (८ पुस्तकों में पशोऽस्य" पाठ है ) ॥ ३९॥ ओषधि, पशु, वृक्ष, कूर्मादि और पक्षी; यज्ञ के अर्थ मारे जावें तौ उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥"

"मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥४१॥ एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्वार्थविद्द्विजः। आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥४२॥"

"अर्थ—मधुपर्क, यज्ञ और श्राद्ध तथा देवकर्म; इन में ही पशुवध करे, अन्यत्र नहीं करे "यह मनु ने कहा है" (जी हां आप के भी हृदय में सन्देह है कि कदाचित् कोई इस को मनुवाक्य न समझे। चोर की डाढ़ी में तिनका )॥ ४१ ॥ वेद का तत्वार्थ जानने वाला द्विज इन्हीं मधुपर्कादि में पशुहिंसा करता हुवा आप और पशु दोनों को उत्तम गति प्राप्त कराता है। (तौ पहले अपने पुत्रादि को भेट चढ़ाकर उत्तम गति क्यों न दिखलाई जावे? २६ से ४२ तक १७ श्लोक निकाल कर २५ वें से ४३ वें को मिला कर पढ़िये तौ प्रकरण ठीक मिल जाता है और इस मांस की विधि को मनु में मिलाने वाले ने ऐसी अधिकता से मिलाया है कि एक ही बात (श्राद्धादि न करके मांस न खावे ) अनेक वार पिष्टपेषण करता हो जाता है। यह मांसभक्षण किसी कर्म में मनु का संमत नहीं है, इस का निषेध मनु ने स्वयं इसी अध्याय के ४३ वें से ५५ वें तक १३ श्लोकों में बड़े बलपूर्वक किया है और

ब्योरेवार इस की बुराई, घिनौनापन, दूषितता एवं पापता सब बतलाई हैं, वे बुराइयें यज्ञ में कैसे दूर हो सकती हैं। और मनु जब मांस को राक्षसादि का भोजन मानते हैं, तौ देवकार्य में कैसे ग्राह्य हो सक्ता है। ये श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं जैसा कि महाभारत मोक्षधर्मपर्व में कहा है कि-

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः॥

धर्मात्मा मनु ने सब कर्मों (वैश्वदेवादि) में अहिंसा ही कही थी परन्तु अपनी इच्छा से शास्त्रबाह्य यज्ञवेदी पर लोग पशुओं को मारते हैं" ॥४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः। नाऽवेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्॥४३॥ या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ॥४४॥

अर्थ-गृहस्थाश्रम वा ब्रह्मचर्याश्रम वा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज, अशास्त्रोक्त हिंसा आपत्काल में भी न करे॥४३॥ इस जगत् में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है उस को अहिंसा ही जाने, (हिंसक मनुष्यों वा सिंह सर्पादि के दण्ड से तात्पर्य है, इसी को अगले श्लोक में अहिंसकों के निषेध से स्पष्ट किया है) क्योंकि वेद से धर्म का ही प्रकाश हुवा है ॥४४॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया। स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥४५॥ यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ ४६ ॥

अर्थ-जो अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह पुरुष इस लोक में जीवता और परलोक में मरकर सुख नहीं पाता ॥४५॥ जो पुरुष प्राणियों को बान्धने वा मारने के क्लेश देना नहीं चाहता, वह सब के हित की इच्छा करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च। तदवाप्नोत्ययत्नेन योहिनस्ति न किंचन॥४७॥ नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥४८॥

अर्थ-वह जो कुछ शोचता है, जो कुछ करता है और जिस में धृति बांधता है, वह सब उसे सहज में प्राप्त होजाता है, जो कि किसी को नहीं मारता ॥४७॥ प्राणियों की हिंसा किये विना मांस कभी उत्पन्न नहीं हो सक्ता और प्राणियों का वध स्वर्ग का देने वाला नहीं, अतः मांस को वर्ज देवे ॥ ४८ ॥

**समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥४९॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्। स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥५०॥**

अर्थ-मांस की (घिनौने शुक्र शोणित से) उत्पत्ति और प्राणियों के वध और बन्धन ( क्रूरकर्मों ) को देख कर सब प्रकार के मांसभक्षण से बचे ॥४९॥ जो विधि छोड़ कर पिशाचवत् मांसभक्षण नहीं करता वह लोगों में प्यारा होता और रोगों से कभी पीड़ित नहीं होता (इस से मांसभक्षण रोगकारक भी समझना चाहिये और प्रत्यक्ष जब से मांसभक्षणादि दुराचार फैले हैं, तब से रोग भी अधिक देखे जाते हैं ) ॥ ५० ॥

**अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।**
**संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ ५१ ॥**
**"स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।**
**अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्" ॥५२॥**

अर्थ-१-जिस की सम्मति से मारते हैं, २-जो अङ्गों को काटकर अलग अलग करता है, ३-मारने वाला, ४-ख़रीदने वाला, ५-बेचने वाला, ६-पकाने वाला, ७-परोसने वाला, तथा ८-खाने वाला; ये ८ सब घातक हैं ॥ ५१ ॥ " देव और पितरों के पूजन विना जो पराये मांस से अपना मांस बढ़ाने की इच्छा करता है उस से बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं ॥ ५२ ॥"

**वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥ फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः। न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥**

अर्थ-जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो जन्मपर्यन्त मांस भक्षण नहीं करता, दोनों को पुण्यफल समान है ॥ ५३ ॥

( ५३ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक देखा गया है:-

[ सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ] ॥

अर्थात् जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता वह मानो सदा यज्ञ करता है और दान देता है, वह तपस्वी है) ॥५३॥ पवित्र फल मूल के भोजन और मुनियों के अन्न खाने से वह फल नहीं, जो मांस के छोड़ने से प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥
"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥"

अर्थ-इस लोक में जिस का मांस मैं खाता हूं परलोक में (मां सः) वह मुझे खायगा । विद्वान् लोग यह मांस का मांसत्व कहते हैं ॥५५॥ " मांसभक्षण और मद्यपान तथा मैथुन में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इस लिये इस में दोष नहीं और इन को छोड़ देवे तौ बड़ा पुण्य है"॥ (स्वाभाविक बच्चे को तौ मांस से घिन होती है । तथा यह श्लोक निषेध के प्रकरण में अनुचित भी स्पष्ट है । कोई लोग खेंचातानी से कई अर्थ करते हैं परन्तु वे अक्षरार्थ और पदान्वयार्थ से बाहर हैं ॥ यद्यपि ये १३ श्लोक ४३ से ५५ तक मांसभक्षणनिषेधविषयक धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुकूल होने से हम को सभी मान्य हैं, परन्तु इन में से ५३ । ५४ । ५५ वें श्लोकों की शैली नवीन सी है और ऐसा सन्देह होता है कि ये श्लोक तब मांसनिषेधार्थ मिलाये गये हैं जब कि मांसविधान के श्लोक मिलाये जा चुके थे ) ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते । अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥५८॥

अर्थ-अब चारों वर्णों की यथावत् क्रम से प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि आगे कहूंगा॥५७॥ दांत निकलने पर ही वा दांत निकलने के अनन्तर और चूडाकर्म होने पर मरने से सब बान्धवों को अशुद्धि और सूतक लगता है ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। अर्वाक्संचयनाद-ऽस्थनां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते। समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

अर्थ-सपिण्डों में मृतक का आशौच दश दिन रहता है, किन्हीं को अस्थिसञ्चयन तक, किन्हीं को ३ दिन और किन्हीं को १ दिन ही (इसमें ज्ञान और आचार की न्यूनाधिकता ही कारण है। जो गुणों से जितना हीन हो उतना ही उसे सूतक अधिक होता है। जैसे १। २। ३ दिन बढ़ाये हैं और सर्वगुणों से रहित हो तो १० दिनआशौच होता है) ॥५९॥ सातवीं पीढ़ी में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुवों के नाम जन्म भी स्मरण न रहें तब समानोदकता छूट जाती है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

अर्थ-जैसा मरने में सपिण्डों को यह आशौच कहा है,वैसे ही पुत्रादि उत्पन्न होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करने वालों को (आशौच) होता है ॥

( ६१ वें से आगे ॥ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्त्तते ] ॥

जन्म और मृत्यु दोनों में १० दिन तक कुल का अन्न भोजन नहीं किया जाता। देना, लेना, यज्ञ और स्वाध्याय रुके रहते हैं ॥ इस प्रकरण में सपिण्ड शब्द से किसी को मृतकश्राद्ध का भ्रम न हो, किन्तु शरीर का नाम पिण्ड है। सात पीढ़ी तक पूर्वज के वीर्य से थोड़ा बहुत प्रभाव सन्तानों में चलता है, इस के पश्चात् श्लोक ६० के अनुसार सपिण्डता नहीं रहती। और जो जिस को जब तक जानता रहे कि अमुकनामा पुरुष हमारे वंश में था, उस की सन्तान तब तक आपस में श्लोक ६० के उत्तरार्धानुसार समानोदक होती हैं ) ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

अर्थ–मृतनिमित्त आशौच सब सपिण्डों को और जन्मनिमित्त आशौच माता पिता को ही रहता है । उस में भी पिता स्नान करने से शुद्ध हो जाता है, माता को ही सूतक रहता है ॥

( ६२ वें से आगे भी ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है–

[ सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ।
त्रेताधर्मापरोधार्थमारण्यस्यैतदुच्यते ] ॥

जो ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त है और दान धर्म का फल चाहता है, त्रेतायुग के धर्म ( ज्ञान ) के अनुरोधार्थ उस वानप्रस्थ के लिये यह विधान है। इस पर सब से अन्तिम रामचन्द्र ने भाष्य किया है । अन्य किसी ने नहीं ) ॥६२॥

" निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।
वैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादऽघं त्र्यहम् ॥६३॥"
अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥६४॥

"अर्थ–पुरुष अपना वीर्य को निकाल कर स्नानमात्र से शुद्ध होता है और पराई भार्या में पुत्र उत्पन्न करने से तीन दिन आशौच रहता है" ॥

(६३ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है। एक तो सूतक मृतक के बीच में वीर्य निकालने की अशुद्धि का वर्णन मनु की इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध है जो ५७ वें श्लोक में की गई है। दूसरे परस्त्रीप्रसङ्ग वा उस के सन्तानोत्पादनरूप पाप पर केवल ३ दिन का प्रायश्चित्तमात्र भी सब धर्मशास्त्र के प्रतिकूल और अन्याय्य है । किसी पुस्तक में ६३ से आगे भी यह श्लोक अधिक है -

[ जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ]

जन्म में भी ऐसे ही माता पिता को सूतक लगता है कि माता को ही सूतक और पिता स्नान करके शुद्ध है ) ॥६३॥ सूतक के स्पर्श करने वाले १ और ३ गुणा ३=९=१० दिन रात में शुद्ध होते हैं और ( मरते समय कण्ठ में ) पानी देने वाले ( वा अस्थिसञ्चयन में चिता पर जल छिड़ने वाले ) तीसरे दिन शुद्ध होते हैं ॥ ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्। प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥६५॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥६६॥

अर्थ–मृत गुरु की अन्त्येष्टि करता हुवा शिष्य, प्रेत=मुर्दा उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है ॥६५॥ जितने मास का गर्भस्राव हो उतने दिन में स्त्री शुद्ध होती है और रजस्वला स्त्री जिस दिन रज की निवृत्ति हो उस दिन स्नान करके शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥६७॥

अर्थ–जिन बालकों का चूडाकर्म नहीं हुवा, उन के मरने से एक दिन में और जिन का चूडाकर्म हो गया है उन के मरने से तीन दिन में शुद्धि होती है ॥ (६७ वें से आगे ३ श्लोक और भी १ पुस्तक में प्रक्षिप्त मिलते हैं–

[प्राक्संस्कारप्रमीतानांवर्णानामविशेषतःत्रिरात्रात्तुभवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नोविधीयते॥१॥अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता।त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतःपरम्॥२परपूर्वासुभार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च। मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वऽसपिण्डतः ३]

सब वर्णों के बच्चे जो संस्कार से पूर्व मर गये हों उन की तीन दिन में शुद्धि होती है और कन्याओं की एक दिन में ॥१॥ जिस के दांत न जमे हों उस की तत्काल और फिर चूडाकर्म तक आयु वाले की एक रात्रि भर और फिर उपनयन संस्कार आयु वाले की ३ रात्रि और उस के पश्चात् १० रात्रि की अशुद्धि है ॥ २ ॥ जो स्त्री प्रथम किसी अन्य की थीं उन की और उन में जन्मे पुत्रों की और नाना की अशुद्धि ३ रात्रि तक है । असपिण्ड गोत्रियों की एक दिन है ॥ ३ ॥ ) ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥६८॥

अर्थ–जिस की आयु के पूरे दो वर्ष न हुवे हों ऐसे मृत बालक को बान्धव लोग ग्रामादि के बाहर शुद्धभूमि में स्वच्छ करके दबा देवें । विना अस्थिसञ्चयन के (अर्थात् दाह और अस्थिसञ्चयन विना ही) ॥ ६८ ॥

नास्यकार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया। अरण्येकाष्ठवत्‌-त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥६९॥ नाऽत्रिवर्षस्य कर्त्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया। जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥७०॥

अर्थ–इस ( पूर्वोक्त बच्चे ) का अग्निसंस्कार न करे, इस की उदकक्रिया ( अस्थिसञ्चयनादि ) भी न करे, किन्तु जङ्गल में काष्ठवत् दबा देवे और तीन दिन आशौच रक्खे॥ ६९॥ अथवा-जिस के तीन वर्ष पूरे न हुवे हों, उस बालक की बान्धव उदकक्रिया न करें, अथवा जिस के दांत ही उत्पन्न हुवे हों वा नामकरण ही हुवा हो उस के दाहादि संस्कार करें तो अच्छा है ( यह दूसरा पक्ष है ) ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥
"स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः" ॥ ७२ ॥

अर्थ–सहाध्यायी के मरने में एक दिन आशौच कहा है और समानोदकों के पुत्रादि जन्में तो तीन दिन में शुद्धि चाही है॥७१॥ "जिन स्त्रियों का संस्कार नहीं हुआ उन के मरने में उन के बान्धव और उन के सनाभि भी तीसरे दिन शुद्ध होते हैं" ॥ (७२ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है, जो कि ६७ वें के आगे दिखाये ३ अधिक श्लोकों में से तीसरे प्रक्षिप्त के सा आशय रखता है, परन्तु चतुर्थ पाद उस के ठीक विरुद्ध है–

[ परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च ।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने ]

पूर्वली पराई स्त्रियों में, उन के जन्म तथा मृत्यु और नाना के सूतक में ३ दिन में शुद्धि होती है परन्तु सपिण्डों में १ रात्रि में ही ) ॥ ७२ ॥

"अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् ।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥"

"अर्थ–क्षारलवणरहित अन्न का भोजन करें और तीन दिन स्नान करें और मांस भक्षण न करें और भूमि पर अकेले सोवें । (७२ वें से अगला श्लोक

तौ एक ही पुस्तक में मिलता है, सब में नहीं। परन्तु ७२ वां और ७३ वां भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है। क्योंकि असंस्कृत स्त्रियों का आशौच जब पुरुषों के समान है तौ पृथग्विधान व्यर्थ है। और जो लोग सगाई मात्र का अर्थ करते हैं सो धर्मशास्त्रों में सगाई कोई संस्कार १६ संस्कारों में से नहीं है। ७३ वें से ३ दिन स्नानविधान कहना असङ्गत है क्योंकि आशौच १० दिन और स्नान ३ दिन कैसा? जब कि विना सूतक मृतक भी नित्य शरीरशुद्धिकर्त्तव्य है। मांस का निषेध भी व्यर्थ है, जब कि सब काल में ही मांस निषिद्ध है। ५७ वें श्लोक से यह प्रेतशुद्धि का वर्णन आरम्भ हुवा है,जिस के साथ २ कहीं जन्मशुद्धि को भी कहते जाते हैं। यथार्थ में जन्म और मृत्यु दो संसार में बड़ी घटना हैं। इन से बढ़ कर कोई घटना नहीं। जिन में एक हर्ष और दूसरी शोकका कारण सर्वसाधारण के लिये होती है। जन्म समय १० मास का रुका मल जिस घर में निकलता है और वायु तथा अन्य घर के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालता है,कुटुम्बी लोग तौ हानि लाभ के साथी साझी हैं, उन्हें संसर्ग से बचना कठिन है, परन्तु अन्य वर्ण पास पड़ौसी आदि को स्वाभाविक रीति पर कुछ घिन अवश्य उस घर के पदार्थों से होती है। इसलिये अपवित्रता के परिमाण से न्यूनाधिक यथासंभव सूतक लगाया गया है। ऐसे ही मृतक भी। अग्नि सूर्य काल वायु आदि पदार्थ उस अशुद्धि को क्रम से घटाते हैं (देखो १०५) और लीपने पोतने धोने मांजने आदि से भी क्रमपूर्वक शुद्धि होती है। इसलिये जितना २ सम्बन्ध समीप है वा जितना २ जिस २ वर्ण आश्रम आदि के विचार से जिस को अधिक संसर्ग संभव देखा उस २को अधिक सूतक मृतक का आशौच विधान किया है। मृतक आशौच में मरने वाले की आयु की न्यूनाधिकता से बान्धवादि के संसर्ग में भी न्यूनाधिकता देखकर आशौच की न्यूनाधिकता कथन की गई है।एक बात अधिक विचारणीय है कि दो वर्ष से न्यून आयु वाले बच्चों का गाढ़ना क्यों कहा,जब कि दाहसंस्कार वेदोक्त है। इस में एक पक्ष यह भी ७० वें श्लोक में कियाहै कि जिसका नामकरण होगया वा जिसके दांत निकल आये,उसके दाहादि संस्कार करने चाहियें॥ यथार्थ में दाह करने का तात्पर्य यही है कि मरने वाले देही नेसंसारयात्रा में मल संसर्गसे शरीरपर बहुत बड़ी मलिनता संग्रह करली है। वह मलिनता अन्य जीवते प्राणियों को वायु में परिणत हो २ कर दीर्घकाल तक रोगादि का हेतु न हो। परन्तु संसार के सभी कार्य

आरम्भ काल में "नहीं" के समीप २ होते हैं। ऐसे ही गर्भस्थिति से नामकरण तक इस मलिनता का संग्रह उस के शरीर में बहुत कम होता है। कहीं न कहीं मर्यादा रखनी ही पड़ती कि यहां से आगे दाहसंस्कार द्वारा निवारण करने योग्य मलिनता का आरम्भ है। इस से पूर्व सूक्ष्मरूप पृथिवीस्थ अग्नि ही उसे भस्म करने में समर्थ समझा गया। और जन्मते बच्चे को दाह विधान करते तब भी यह शङ्का रह ही जाती कि गर्भपात वा गर्भस्राव का दाह क्यों न करना चाहिये। इस से आगे वीर्यपात मात्र के दाह की भी आशङ्का होती। इस लिये शास्त्रकार ने दाह की योग्यता की अवधि नियत करके मर्यादा स्थापित करदी है। विशेष स्वयं बुद्धिमान् विचार सक्ते हैं। मृत्यु में शोक भी एक प्रकार की भीतरी मलिनता, आशौच का कारण है) ॥७३॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्त्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयोविधिःसंबन्धिबान्धवैः ॥७४॥

अर्थ-यह समीप रहने में मृतसम्बन्धी आशौच का विधान कहा और विदेश रहने में उस के सम्बन्धी बान्धव आगे कहे अनुसार आशौच विधान जानें ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्योह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

अर्थ-विदेश में मरा हो और और १० दिन पूरे न हुवे हों तो सुनने पर जितने दिन १० दिन में शेष हों उतने दिन आशौच रहे ॥

( ७५ वें के आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है-

[ मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥ ]

तीन मास बीतने पर सुने तो ३ रात्रि तक आशौच और छः मास बीतने पर १॥ दिन और ९ वें मास के भीतर १ दिन तथा इस के पश्चात् स्नान मात्र से शुद्ध होता है ) ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वापोविशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

अर्थ-और दश दिन व्यतीत होने के अनन्तर सुने तो तीन दिन आशौच रहै, परन्तु एक वर्ष बीत गया हो तो स्नान करने से ही शुद्ध हो जाता है ॥७६॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धोभवति मानवः ॥७७॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुद्धति ॥७८॥

अर्थ-दश दिन होजाने पर ज्ञातिमरण या पुत्र का जन्म सुन कर मनुष्य सचैल स्नान करके शुद्ध होता है॥७७॥ सगोत्र बालक देशान्तरस्थ तथा असपिण्ड का मरण(सुनके)सचैल स्नान करने से उसी समय शुद्ध हो जाता है॥ ७८॥

अन्तर्दशाहे स्यातांचेत्पुनर्मरणजन्मनी।तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ।७९। त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्येसंस्थिते सति। तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥८०॥

अर्थ-दशाह के बीच में यदि पुनः किसी के मरने वा उत्पन्न होने से आशौच हो जावे तो विप्र तब तक शुद्ध न होगा जब तक कि उस के दश दिन पूरे न हो जावें ॥७९॥ आचार्य के मरने में शिष्य को तीन दिन आशौच रहता है और आचार्य के लड़के या स्त्री के मरने में एक दिन ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥८१॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः। अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ॥८२॥

अर्थ-श्रोत्रिय के मरने में तीन दिन और मामा, शिष्य, ऋत्विक् और बान्धवों के मरने में डेढ़ दिन आशौच रहता है ॥८१॥ जो जिस के राज्य में रहता हो उस राजा के मरने में सूर्यास्त तक आशौच रहे और जो श्रोत्रिय न हो तो सारा दिन और जिसने पूर्ण वेदाध्ययन किया हो वा गुरु हो उसका भी ८२

शुध्येद्विप्रोदशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रोमासेन शुद्ध्यति॥ ८३ ॥

अर्थ-ब्राह्मण १० दिन में, क्षत्रिय १२ दिन में, वैश्य १५ दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है ॥ ( ८३ से आगे दो पुस्तकों में पहले दो श्लोक और अन्य २ पुस्तकों में चार श्लोक, जो नीचे लिखे हैं, अधिक हैं-

[क्षत्रविट्शूद्रदायादा: स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः। तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते॥१॥राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु। स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः॥२॥ विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु। षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥३॥सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः। तद्वर्णं विधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु॥४॥]

हम ३। १३ श्लोक को प्रक्षिप्त बता आये हैं, जिस में ब्राह्मणादि को अपने से नीचे वर्णों की कन्या लेने का विधान है। यहां इन ४ श्लोकों में उन्हीं नीच विवाह के सम्बन्धियों का सूतक आशौच बताया जाता है। परन्तु ये श्लोक केवल चार पुस्तकों में हैं, सब में नहीं। इस लिये यह तो स्पष्ट ही है कि ये प्रक्षिप्त हैं और यह भी निश्चय होता है कि ३। १३ भी ठीक प्रक्षिप्त था। यदि मनुप्रोक्त होता तो यहां आशौच प्रकरण में उस का आशौच विधान भी सब पुस्तकों में होता॥

अर्थ-यदि क्षत्रिय वैश्य शूद्र, ब्राह्मण के दायाद बान्धव हों, तौ उन के आशौच में ब्राह्मण की १० दिन में शुद्धि चाही है॥ १॥ इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को भी अपने से हीन योनि सम्बन्धियों की मृत्यु में अपने वर्णानुसार शुद्धि के लिये शौच करना चाहिये। यह नियम है॥ २॥ ब्राह्मण अपने वर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में १० दिन में, क्षत्रियवर्णस्थ सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में ६ दिन में, वैश्यसम्बन्धियों के ३ दिन में और शूद्रसम्बन्धियों के जन्मादि में १ दिन में शुद्ध होता है॥३॥ सब उत्तम वर्ण निरालस्य होकर उस २ वर्णस्थ सम्बन्धियों का उस २ वर्णानुसार और स्ववर्णस्थों का स्ववर्णानुसार आशौच मानें॥ ४॥ )॥ ८३॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत्॥ ८४॥

अर्थ-मरणाऽशौच के दिन न बढ़ावे और अग्निहोत्रादि क्रिया का विघात न करे। उस कर्म के करते हुवे सनाभि भी अशुचि नहीं है॥ ८४॥

दिवाकीर्तिमुदक्यांच पतितं सूतिकां तथा।शवं तत्स्पृष्टिनं चैव

स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥८५॥ आचम्य प्रयतोनित्यं जपेदशुचिदर्शने। सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥८६॥

अर्थ-चण्डाल,रजस्वला,पतित,प्रसूता,तथा शव और शव के स्पर्श करने वालों को छूने पर स्नान से शुद्ध होता है॥८५॥ आचमन करके शुद्ध हुवा मनुष्य चाण्डालादि के अशुचिदर्शन होने पर सौरमन्त्र(उदुत्यं जातवेदसम्,इत्यादि) और पवमान देवता वाले मन्त्रों को शक्ति और उत्साह के अनुसार जपे॥८६॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रोविशुद्ध्यति। आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा॥८७॥आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्यसमापनात्।समाप्तेतूदकंकृत्वा त्रिरात्रेणैवशुद्ध्यति ८८

अर्थ-मनुष्य की स्नेहयुक्त अस्थि छूने से विप्र स्नान करके शुद्ध हो जाता है और जिस में चिकनाई न हो उस के स्पर्श करने से आचमन ही से वा गौ=भूमि के स्पर्श से या सूर्य के दर्शन से पवित्र होता है॥(यहां दो पुस्तकों में "गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम्" पाठभेद है। और मेधातिथि आदि कहीं भाष्यकार "आलभन" का अर्थ "स्पर्श" करते हैं) ॥ ८७ ॥ ब्रह्मचारी व्रत की समाप्ति पर्यन्त प्रेतोदक न करे। समाप्ति के अनन्तर प्रेतोदक करे तो त्रिरात्र से ही शुद्ध हो जाता है ॥ ८८ ॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासुचतिष्ठताम्। आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्त्ततोदकक्रिया॥८९॥ पाषण्डमाश्रितानांच चरन्तीनां च कामतः। गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्॥९०॥

अर्थ-वृथा वर्णसङ्करों, संन्यासियों और आत्मघातियों की उदकक्रिया आवश्यक नहीं॥ ८९ ॥ पाषण्डियों, स्वैरिणियों और गर्भपात, पतिघात, सुरापान करने वाली स्त्रियों की ( उदकक्रिया न करे ) ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्। निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥९१॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्। पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥९२॥

अर्थ-अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, तथा गुरु के प्रेतकृत्य करने से ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग नहीं होता॥९१॥ शूद्र के मुर्दे नगर के दक्षिण द्वार से

और वैश्य के पश्चिम, क्षत्रिय के उत्तर और ब्राह्मण के पूर्व से निकाले ॥९२॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥९३॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते। प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्॥९४॥

अर्थ-राजा और ब्रह्मचारी वा चान्द्रायणादि व्रत करनेवाले और यज्ञ करनेवालों को आशौच नहीं लगता। क्योंकि ये इन्द्र के पद पर बैठे हुवे और सदा निष्पाप हैं। (इन्द्रपद शुद्ध स्थान का नाम है, जैसा कि "इन्द्र शुद्धो न आगहि०" इत्यादि। और "इन्द्रशुद्धो हि नो रयिम्०" इत्यादि सामवेद उत्तरार्चिक १२।३।२।३ में लिखा है) ॥९३॥ माहात्मिक राजपद में स्थित राजा को उसी समय पवित्र कहा है (अर्थात् राज्य से भ्रष्ट क्षत्रियों को सद्यः शुद्धि नहीं है) प्रजा की रक्षार्थ न्यायासन पर बैठना इस में कारण है ॥ ९४ ॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च। गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः॥९५॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥९६॥

अर्थ-विना शस्त्र की लड़ाई में और बिजली से तथा राजाज्ञा=फांसी से और गौ ब्राह्मण की रक्षा के लिये मरे हुवे का और जिस को राजा अपने कार्य के लिये चाहे उसका (तत्काल शौच कहा है) ॥९५॥ चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम, इन आठ लोकपालों का शरीर राजा धारण करता है (अर्थात् राजा में लोकपालनार्थ ये आठ गुण रहते हैं, जो दिव्य हैं) ॥९६॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते। शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्॥९७॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च। सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः॥९८॥

अर्थ-इन्द्रादि ८ लोकपालों के स्थान पर रहता है इस लिये राजा को आशौच नहीं कहा। क्योंकि मनुष्यों का शौच और आशौच लोकपालों से उत्पन्न और नष्ट होता है ॥९७॥ संग्राम में उद्यत शस्त्रों से क्षत्रधर्म से (ढेला लकड़ी से नहीं किन्तु) सामने लड़ाई में मरे का यज्ञ उसी समय समाप्त होता है और शौच भी तत्काल हो जाता है ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियोवाहनायुधम्। वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रःकृतक्रियः॥९९॥ एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः। असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत॥१००॥

अर्थ—प्रेतक्रिया करके ब्राह्मण जल को स्पर्श करे, क्षत्रिय शस्त्र और वाहनादि को तथा वैश्य हांकने के दण्डे या लगाम को और शूद्र लाठी को छूके शुद्ध होता है (अर्थात् आशौच समाप्ति के दिन इन ४ को ये ४ वस्तु छूनी चाहियें, यह रीति है) ॥ ९९ ॥ हे द्विजश्रेष्ठो! यह सपिण्डों में आशौच विधान तुम से कहा और असपिण्डों में प्रेतशुद्धि का विधान (आगे) सुनो ॥ १०० ॥

असपिण्डंद्विजंप्रेतं विप्रोनिर्हृत्यबन्धुवत्। विशुद्ध्यतित्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥१०१॥यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति। अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत्॥ १०२ ॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण असपिण्ड मृत द्विज का स्नेह से बन्धु के समान अन्त्येष्ट्यादि कर्म करे और माता के सम्बन्ध वाले बान्धवों के दाहादि करे तो तीन दिन में शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ जो दाहादि करने वाला विप्र मृतक के सपिण्डों का अन्न खाता हो तो १० दिन में और जो इन का अन्न न खाता हो और उस घर में भी न रहता हो तो एक दिन में शुद्ध होजाता है ॥१०२॥

अनुगम्येच्छयाप्रेतंज्ञातिमज्ञातिमेवच।स्नात्वासचेलःस्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥१०३॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृते शूद्रेण नाययेत्।अस्वर्ग्याह्याहुतिःसा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता॥१०४॥

अर्थ—स्वजाति वा अन्यजाति के मुर्दे के पीछे जान बूझकर जाने से सचैल स्नान, अग्निस्पर्श और घृत को खाकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ सजातियों के रहते हुवे ब्राह्मण के मुर्दे को शूद्र से दाहार्थ न लिवा जावे। क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित आहुति (संसार को) सुख देने वाली न होगी ॥ १०४ ॥

ज्ञानंतपोऽग्निराहारोमृन्मनोवार्युपाञ्जनम्।वायुःकर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥१०५॥सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम्।योऽर्थेशुचिर्हि सशुचिर्नमृद्वारिशुचिःशुचिः॥१०६॥

अर्थ-मनुष्यों को ये ज्ञानादि शुद्ध करने वाले हैं। ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मृत्तिका, मन, पानी, लीपना, वायु, यज्ञादि, सूर्य और काल (इसी से आशौच और शौच के हेतु समझ लेने चाहियें) ॥ १०५ ॥ इन सब शौचों में अर्थशौच (अन्याय करके दूसरे का धन न लेने की इच्छारूप शौच) सब से श्रेष्ठ कहा है। यदि अर्थशौच नहीं तो मृत्तिकादि से कुछ शुद्धि नहीं होती, जो अर्थ में शुद्ध है वही शुद्ध है ॥ १०६ ॥

क्षान्त्याशुध्यन्तिविद्वांसो दानेनाकार्य कारिणः।प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसावेदवित्तमाः ॥१०७॥मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेनशुध्यति।रजसास्त्रीमनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः॥१०८॥

अर्थ-क्षमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं। जो यज्ञादि क्रिया नहीं कर सके वे दान से, गुप्त पाप वाले जप से और उत्तम वेद के जानने वाले तप से (शुद्ध होते हैं) ॥ १०७ ॥ मलयुक्त अशुद्ध वस्तु मृत्तिका और जल से शुद्ध होती है। नदी वेग से शुद्ध होती है। मन से दूषित स्त्री रजस्वला होने पर और ब्राह्मण त्याग से (शुद्ध होता है) ॥ १०८ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेनशुद्ध्यति१०९ एष शौचस्य वः प्रोक्तःशारीरस्यविनिर्णयः।नानाविधानांद्रव्याणां शुद्धेःशृणुत निर्णयम्११०

अर्थ-पानी से शरीर शुद्ध होते हैं। मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है। सूक्ष्म लिङ्ग शरीर से युक्त जीवात्मा विद्या और तप से (शुद्ध होता है)। ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥ यह तुम से शरीरशुद्धि का निर्णय कहा। अब नानाप्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च। भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्तामनीषिभिः॥१११॥निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति। अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥११२॥

अर्थ-सुवर्णादि और हीरा आदि मणियों और संपूर्ण पाषाणमय पदार्थों की राख मिट्टी और पानी से मनीषियों ने शुद्धि कही है ॥ १११ ॥ सोने का बर्त्तन जिस में उच्छिष्ट न लगा हो और शङ्ख मोती आदि जलज और पत्थर के

वर्त्तन तथा चांदी के जिन पर नकशा न हो, वे केवल जल से शुद्ध होते हैं ॥११२॥

अपामग्नेश्चसंयोगाद्धैमंरौप्यंचनिर्बभौ।तस्मात्तयोःस्वयोन्यैव निर्णेकोगुणवत्तरः ॥११३॥ ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसस्यच। शौचं यथार्हं कर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः॥११४॥

अर्थ–जल और अग्नि के संयोग से चांदी सोना उत्पन्न हुआ है, इसलिये इन का शोधन अपनी योनि=पानी और अग्नि से ही बहुत उत्तम है॥११३॥ तांबा, लोहा, कांसी, पीतल, लाख, और सोने के वर्त्तनों को खार खट्टे पानी और केवल पानी से जिस में जो उचित हो उस से उस का शोधन करे ॥ ११४ ॥

द्रवाणांचैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम्। प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि। चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिःप्रक्षालनेन तु॥११६॥

अर्थ–द्रवों को पिंघला कर छान लेने से और जमे हुवों को प्रोक्षण से और लकड़ियों के वर्त्तनादि को छीलने से शुद्धि होती है॥११५॥ परन्तु यज्ञकर्म में यज्ञपात्रों को हाथ से मार्जन द्वारा और चमसों तथा ग्रहों=संडसी वा चिमटों को धोने से शुद्धि होती है ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुवस्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेनवारिणा।स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च॥११७॥अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्। प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिःशौचं विधीयते॥११८॥

अर्थ–यज्ञपात्र–चरु, स्रुच, स्रुव, स्फय, शूर्प, शकट, ओखली और मूसल की शुद्धि गरम पानी से होती है ॥ ११७ ॥ बहुत धान्यों और कपड़ों की शुद्धि पानी के प्रोक्षण से और थोड़े हों तो धोने से कही है। (इस से आगे दो पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है–

[त्र्यहक्तशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते।
पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥

३ दिन में जिन की शुद्धि कही है उन मृत बालकों के वस्त्र उन की आयु के अनुसार शुद्ध होते हैं–किन्हीं को छिड़कने, किन्हीं को धूप देने और किन्हीं मैले वस्त्रों को अत्यन्त धुलाने से शुद्धि जानो ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च। शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥ कौशेयाविकयोरूषैः कुतपाना-मरिष्टकैः। श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥१२०॥

अर्थ-चमड़ों और चटाइयों की शुद्धि वस्त्रवत् होती है और शाक मूल फलों की शुद्धि धान्य के समान चाही गई है ॥११९॥ रेशमी और ऊनी कपड़ों की (शुद्धि) रेह वा सुनहरी मिट्टी से और नैपाल के कम्बलों की रीठों से तथा शणादि घास के कपड़ों की बेल से और छालटी वस्त्रों की श्वेत सरसों से शुद्धि होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च। शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥१२१॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति। मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥ १२२ ॥

अर्थ-शङ्ख शृङ्ग, हड्डी और दांत के पात्रादि की शुद्धि शास्त्र का जानने वाला पुरुष पानी या गोमूत्र से करे या जैसे छालटी की होती है ॥ १२१ ॥ घास और फूस प्रोक्षण से और घर मार्जन तथा लीपने से और मिट्टी का वर्त्तन पुनः आग में देने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥ १२३ ॥ संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्ले-खनेन च। गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥

अर्थ-परन्तु मदिरा, मूत्र, मल, थूक, राध और रक्त से दूषित हुवा मृत्तिका का पात्र पुनः अग्नि में पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥ मार्जन, लीपने, छिड़कने, छीलने और गौ के वास करने; इन पांचों से भूमि शुद्ध होती है ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम्। दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥१२५॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

अर्थ-पक्षी ने खाया हो और गाय ने सूंघा हो वा पैर से कुचला हो तथा जिस के ऊपर छींक दिया हो और जो कीड़ों तथा केशों से दूषित हुवा हो वह (स्थान) मृत्तिका डालने से शुद्ध होता है ॥१२५॥ अमेध्य ( विष्ठादि )

के लेप से समस्त द्रव्यशुद्धियों में जब तक उस का गन्ध और लेप रहे तब तक पानी और मिट्टी से उस को धोवे ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाःपवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥१२७॥ आपःशुद्धाभूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्। अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः॥१२८॥

अर्थ—देवतों ने ब्राह्मणों के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं। एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धो लिया हो, तीसरे ( ब्राह्मण की ) वाणी से जो प्रशंसित हो ॥१२७॥ जिस पानी में गाय की प्यास निवृत्त हो सके और अमेध्ययुक्त न हो तथा गन्ध वर्ण रस से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥१२९॥
"नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥१३०॥"

अर्थ—कारीगरों का हाथ और दुकान में बेचने को जो रक्खा है वह और ब्रह्मचारी की भिक्षा; ये सर्वदा पवित्र हैं। यह शास्त्र की मर्यादा है ॥१२९॥ "स्त्रियों का मुख सर्वदा पवित्र माना जाता है तथा पक्षी, फल गिराने में और बछड़े का मुख दोहन के समय और कुत्ते का मुंह शिकार पकड़ने के समय पवित्र माना जाता है"। (यह कामी, स्वार्थी और मांसभक्षियों का प्रक्षेप धर्मशास्त्र से विरुद्ध त्याज्य है ) ॥ १३० ॥

"श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥१३१॥"

अर्थ-"कुत्तों से मारे हुवे का जो मांस है वह पवित्र है । ऐसा मनु ने कहा है और दूसरे व्याघ्र, चील आदि, चण्डाल आदि या दस्युओं के मारे का मांस भी पवित्र हैं"।(यह भी पूर्व श्लोक के समान प्रक्षिप्त है। "मनुरब्रवीत" से भी यही झलकता है"। १३१ वें के आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है और इस पर अन्तिम भाष्यकार रामचन्द्र का भाष्य है। अन्यों का नहीं:—

[शुचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तोऽहि बहिश्चरः ।
जलं शुचि विविक्तस्थं पन्थाः सञ्चरणे शुचिः ॥ ]

अग्नि शुद्ध है और वायु बाहर बहता हुवा शुद्ध है । एकान्त देश का जल और चलते हुवे मार्ग शुद्ध है ) ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

अर्थ—नाभि के ऊपर जो इन्द्रियां हैं वे पवित्र और जो नाभि से नीचे हैं वे अपवित्र हैं और देह से निकले मल अशुद्ध हैं ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।रजोभूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥१३३॥ विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि॥१३४॥

अर्थ—मक्षिका और उड़ते हुवे छोटे २ जलबिन्दु और छाया, गाय, घोड़ा सूर्य की किरण, धूलि, भूमि, पवन और अग्नि; इन सब को स्पर्श में पवित्र समझे ॥१३३॥ मल मूत्र के त्याग और देह के बारहों मलों की शुद्धि के लिये उतनी मृत्तिका और जल लेवे जितने से दुर्गन्धादि मिट सके ॥ १३४ ॥

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविड्घ्राणकर्णविट् । श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥१३५॥एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश । उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥१३६॥

अर्थ—चरवी=वसा, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक का मैल, कान का मैल, कफ, आंसू, आंख की कीचड़ और पसीना, ये मनुष्यों के १२ मल हैं॥१३५॥ शुद्धि को चाहने वाला मूत्र की जगह १एक वार, गुदा में तीन वार, बायें हाथ में दश वार तथा दोनों हाथों में सात वार मिट्टी लगावे (दो पुस्तकों में "तथा वामकरे दश" पाठ है ) ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्॥१३७॥कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा॥१३८॥

अर्थ–यह शुद्धि गृहस्थों की है। ब्रह्मचारियों की इस से दूनी और वानप्रस्थों की तिगुनी तथा यतियों की चौगुनी है ॥१३७॥ मल मूत्र करने के पश्चात् शुद्ध होकर आचमन करे और चक्षुरादि का जल से स्पर्श करे। वेद पढ़ने के पूर्व समय तथा भोजन के समय सदा आचमन करे ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम्। शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत्॥१३९॥ शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्याय वर्त्तिनाम्। वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्॥ १४०॥

अर्थ–शरीर के पवित्र करने की इच्छा वाला भोजनोत्तर तीन वार आचमन करे, फिर दो वार मुख धोवे और शूद्र तथा स्त्री एक वार ॥१३९॥ न्याय पर चलने वाले शूद्रों का मुण्डन महीने भर में कराना और सूतकादि में वैश्य के तुल्य शौचविधि तथा द्विजों के भोजन से शेष भोजन है ॥१४०॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यान्न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥१४१॥

अर्थ–मुख से निकले जो थूक के छींटे शरीर पर गिरते हैं वे और मुख में गई हुई मूंछे और दांत के भीतर रहने वाला अन्न झूंठा नहीं कहाता। ॥ १४१ ॥ (इस से आगे एक पुस्तक में दो श्लोक अधिक हैं:–

[ अजाश्वं मुखतोमेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः।
ब्राह्मणाः पादतोमेध्याः स्त्रियोमेध्याश्च सर्वतः ॥
गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता।
गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥ ]

बकरी, घोड़े मुख से पवित्र हैं। गौ पींठ से पवित्र हैं। ब्राह्मण पांव से पवित्र हैं और स्त्रियां सब ओर से पवित्र हैं। गौ का मुख अपवित्र है, परन्तु बकरी का मुख पवित्र है और गौ का गोबर और मूत्र पवित्र है। यह मनु ने कहा है) ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतोभवेत् ॥ १४२ ॥

अर्थ-दूसरे के आचमन को जल देनें वाले के पैरों पर जो विन्दु ( भूमि से उछट कर ) पड़ते हैं उन को भूमि के जलबिन्दु समान जाने। उन से अशुद्ध नहीं होता ॥ १४२ ॥ ( इस से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः॥ ]

दांतों में घुसा अन्न दांतों के तुल्य शुद्ध है, परन्तु जीभ से न लगता हो और वह अन्न दांतों से छूटने पर निगलने में ही शुद्ध है ) ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन। अनिधायैव तद्द्रव्य-मा चान्तः शुचितामियात्॥१४३॥ वान्तो विरक्तः स्नात्वा तु घृतप्रा-शनमाचरेत्। आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्॥१४४

अर्थ-उच्छिष्ट पुरुष से कोई द्रव्य हस्त में लिये हुवे छूगया हो तौ उस द्रव्य को अलग किये विना ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है ॥ १४३ ॥ वमन तथा दस्त जिसे हुवा हो वह स्नान करके ( थोड़ा ) घृत खावे और भोजन करके वमन किया हो तौ आचमन करके ही और मैथुन वाला स्नान से शुद्ध होता है ॥ १४४ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत्।
ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ]

ऋतु से भिन्न काल में मैथुन करने वाले को मिट्टी से शौच करना चाहिये, जैसे मल मूत्र करने से आकर करते हैं, परन्तु ऋतु में गर्भ की शङ्कायुक्त होने से स्नान करना कहा है )॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च। पीत्वापोऽध्ये-ष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन्॥१४५॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च। उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत१४६

अर्थ-सोकर, छींक कर, भोजन करके, थूक कर, ( भूल से ) झूंट बोल कर और पानी पीकर और पढ़ने के पूर्व समय में शुद्ध हुआ भी आचमन करे ॥ १४५ ॥ यह संपूर्ण शौचविधि और सब कर्मों की द्रव्यशुद्धि तुम से कही। अब स्त्रियों के धर्म सुनो ॥ १४६ ॥

बालयावायुवत्या वा वृद्धयावापियोषिता॥नस्वातन्त्र्येणकर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७॥ बाल्येपितुर्वशेतिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्रीस्वतन्त्रताम्॥१४८॥

अर्थ-बालक या वृद्ध या युवति भी स्त्री स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे ॥ १४७ ॥ बाल्य अवस्था में पिता के, यौवन में पति के और पति मरने पर पुत्रों के अधीन रहे। स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे । ( कहीं २ " पितुर्गृहे पाठ है ) ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ-पिता, भर्त्ता, पुत्र इन से अलग होना न चाहे क्योंकि इन से अलग होने से स्त्री दोनों कुलों को निन्दित करती है ॥१४९॥ सर्वदा प्रसन्नचित्त और घर के कामों में चतुर तथा घर के वर्त्तन भांडे ठीक करके रक्खे और व्यय करने में स्त्री सर्वदा हाथ सकोड़े रहे ॥ १५० ॥

यस्मैदद्यात्पितात्वेनां भ्राताचानुमतेपितुः। तंशुश्रूषेतजीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥१५१॥मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यतेविवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२॥

अर्थ-पिता या पिता की अनुमति से भाई जिस ( स्वयंव्रत पति ) को इसे देवे उस की जीवते की सेवा करे और मरने पर व्यभिचारादि न करे ॥१५१॥ इन का जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम विवाह में किया जाता है वह मङ्गलार्थ है, कन्यादान ( पति के ) स्वामी होने का कारण है ॥१५२॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः। सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥१५३॥ विशीलःकामवृत्तोवा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यःस्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥१५४॥

अर्थ-मन्त्र संस्कार ( विवाह ) करने वाला पति ऋतु और अनृतु में सदा सुख देने वाला है, उस की सेवा से यहां और परलोक में भी सुख प्राप्त होता

है ॥ १५३ ॥ पति शीलरहित कामी तथा विद्यादि गुणों से हीन भी हो तथापि अच्छी स्त्री को देववत् आराधन योग्य है ॥

( १५४ के आगे भी ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ दानप्रभृति या तु स्यादावदायुः पतिव्रता ।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ ]

जो स्त्री पिता आदि ने जब कन्यादान किया उस समय से सारी आयु पतिव्रता रहती है वह अरुन्धति (तारे) के समान भर्तृलोक को नहीं त्यागती)॥१५४॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

अर्थ-स्त्रियों का अलग कोई यज्ञ नहीं है, न व्रत, न उपवास, केवल एक पति की शुश्रूषा से स्वर्ग में पूज्या होजाती है ॥ (इस के आगे का एक श्लोक ३ पुस्तकों में मिलता है:-

[ पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं बाधते भर्त्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥ ]

जो स्त्री पति के जीवते भूकी रहने वाला व्रत करती है, वह पति की आयु को बाधा पहुंचाती और नरक को जाती है ) ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतोवा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

अर्थ-पतिलोक की इच्छा करने वाली स्त्री जीवित या मृत पति को अप्रिय कोई कर्म न करे ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । नतुनामापिगृह्णीयात् पत्यौप्रेतेपरस्यतु ॥१५७॥आसीतामरणात्क्षान्ता नियताब्रह्मचारिणी । योधर्मएकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥१५८॥

अर्थ-चाहे तो स्त्री पवित्र पुष्प, मूल, फलों से देह को कृश करदे, परन्तु पति के मरने पर परपुरुष का (व्यभिचार की इच्छा से) नाम भी न लेवे॥१५७॥

( चाहे तो ) क्षमायुक्त, नियम वाली और पवित्र एक पतिधर्म की इच्छा करने वाली और मैथुन की इच्छा न करती हुई मरणपर्यन्त रहे ॥ १५८ ॥

अनेकानिसहस्राणिकुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवंगतानिविप्राणा मकृत्वाकुलसंततिम् ॥१५९॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

अर्थ—कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणों के कई हजार समुदाय विना पुत्रोत्पादन किये स्वर्ग को गये॥१५९॥ इसी प्रकार साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रहे तो अपुत्रा भी स्वर्ग को जाती है, जैसे वे ब्रह्मचारी ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्यातुस्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेहनिन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्चहीयते ॥१६१॥नान्योत्पन्नाप्रजास्तीह नचाप्यन्य-परिग्रहे। न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ—पुत्र के लोभ से जो स्त्री परपुरुष से सम्बन्ध करती है,वह यहां निन्दा को पाती है और पतिलोक से भी वञ्चित रहती है (मेधातिथि ने "परलोकात्" पाठ माना है) ॥ १६१ ॥ दूसरे पुरुष से ( व्यभिचार की ) उत्पन्न हुई सन्तान शास्त्र से उस की नहीं है और न दूसरी स्त्री में उत्पन्न करने वाले की है और न कहीं साध्वी स्त्रियों का दूसरा ( विवाहित ) पति कहा है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते। निन्द्यैवसाभवेल्लोके परपूर्वेतिचोच्यते ॥१६३॥ व्यभिचारात्तुभर्त्तुःस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्। शृगालयोनिंप्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥१६४॥

अर्थ—जो अपने न्यूनगुण पति को छोड़कर श्रेष्ठ का सेवन करती है वह लोगों में निन्दनीया होती है और उस को 'दो पति की स्त्री है' ऐसा कहते हैं ॥ १६३ ॥ परपुरुष के भोग से स्त्री, लोगों में निन्दा और मरने पर स्यार की योनि को प्राप्त होती है और कुष्ठादि पापरोगों से पीड़ित होती है ॥१६४॥

पतिंयानाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। साभर्तृलोकमाप्नोति सद्भिःसाध्वीति चोच्यते ॥१६५॥ अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देह संयता। इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥१६६॥

अर्थ-मन वाणी देह से जो पति को दुःखित नहीं देती, वह पति लोक को प्राप्त होती है और अच्छे पुरुष उस को साध्वी कहते हैं ॥१६५॥ इस धर्म से मन वाणी और देह का संयम करने वाली स्त्री यहां श्रेष्ठ कीर्त्ति और परलोक में पतिलोक को प्राप्त होती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तांसवर्णांस्त्रीं द्विजातिःपूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥१६७॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि । पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

अर्थ-ऐसी सवर्णा स्त्री ( पति से ) पूर्व मर जावे तो धर्मज्ञ द्विज उसे स्मार्त्ताग्नि और यज्ञपात्रों के सहित दाह देवे ॥ १६७ ॥ पूर्व मरी स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के निमित्त पुनः विवाह करे तो फिर अग्निहोत्र लेवे ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहे वसेत् ॥१६९॥

---

## इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तयां संहितायां )
## पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

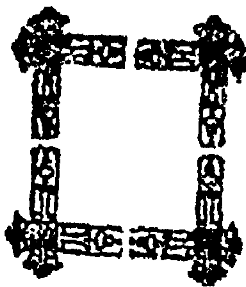
अर्थ-इस विधि से विवाह करने वाला पुरुष आयु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करे और पञ्चमहायज्ञों का त्याग न करे ॥

( यद्यपि पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी सामान्यधर्म कहा गया समझना चाहिये परन्तु १४७ से अध्यायसमाप्ति तक स्त्री का जो विशेष धर्म है उस का वर्णन है । इस में १४७ । १४८ वें श्लोकों का तात्पर्य नवमाध्याय में भी आवेगा, इस लिये पुनरुक्त से हैं । १५४ वें में पुरुष का अनुचित (हिमायत) पक्षपात हैं । १५७ से १६१ तक स्त्री को विधवा होने पर ब्रह्मचर्य से रहने की उत्तमता का वर्णन है । नियोगादि करना उस से घटिया पक्ष हैं । १६३ । १६४ में भी परपुरुषसङ्ग की निन्दा है, वह व्यभिचार की निन्दा है । जिस से पापरोग उपदंशादि प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं । १६२ में अन्य से उत्पन्न सन्तान को सन्तान न मानना व्यभिचार की सन्तान के विषय में है । नियमपूर्वक

विधिवत् नियुक्तों की सन्तति तौ सन्तति ही है। १६८ में स्त्री मरने पर पुनर्विवाह का विधान आवश्यक नहीं है किन्तु उस का भाव यह है कि यदि पुरुष अक्षतवीर्य होने से पुनर्विवाह का अधिकारी हो और विवाह करना चाहे तौ कर सकता है परन्तु फिर से अग्निहोत्र लेना होगा। इस में ऊपर लिखे अनुसार दो श्लोक इस प्रकरण में ऐसे भी हैं जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते और यह भी संशय है कि पुनरुक्तादि उक्त दोषों वाले श्लोक भी स्त्रियों की अत्यन्त परतन्त्रता के पक्षपाती लोगों ने कदाचित् बढ़ाये हों क्योंकि १५९। १६० श्लोकों में तौ बहुत ही नवीनता झलकती है ) ॥ १६९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

—o:*:o—



ओ३म्

# अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातकोद्विजः ।

वने वसेत्तु नियतोयथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

अर्थ–स्नातक द्विज ऐसे यथाविधि गृहस्थाश्रम में रह कर नियमपूर्वक जितेन्द्रियता से वन में निवास करे ॥ ( एक पुस्तक और रामचन्द्र की टीका में इस से आगे यह श्लोक अधिक है:–

[ अतःपरं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।

वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे ]

इस से आगे वानप्रस्थाश्रमी का धर्म और वन के मूल तथा फलों के लेने और त्यागने का विधान कहूंगा ) ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

अर्थ-गृहस्थ जब अपने देह की त्वचा को ढीली, शिर के बाल श्वेत और सन्तान के भी सन्तान को देख ले तब वन का आश्रय करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ–ग्राम का भोजन ( दाल चावल पक्वान्नादि ) और गाय, घोड़ा, शय्या इत्यादि को त्याग, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ या साथ लेकर ही वन को गमन करे ॥ ३ ॥ अग्निहोत्र और उस के पात्र स्रुव इत्यादि का ग्रहण कर ग्राम से निकल कर इन्द्रियों को स्वाधीन करता हुवा वन में निवास करे ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा । जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

अर्थ–नाना प्रकार के मुनियों के पवित्र अन्न वा शाक मूल फलों से ही ये महायज्ञ करे ॥ ५॥ मृगों का चर्म या वृक्षों के वल्कलों को पहिने। प्रातः सायं दोनों समय स्नान करे। जटा और श्मश्रु तथा नख और रोम सर्वदा धारण करे ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः

अर्थ–(अपने) भोजन में से यथाशक्ति बलि और भिक्षा देवे और आश्रम में आये हुवों का जल, मूल और फल की भिक्षा से सत्कार करे ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वेदाध्ययन करे, इन्द्रियों का दमन और सब का उपकार करने वाला तथा मन को स्वाधीन रखने वाला हो और नित्य देता रहे, लेवे नहीं। सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाला हो ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥९॥ ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्। उत्तरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अर्थ–(गार्हपत्य कुण्ड में के अग्नि को आहवनीय दक्षिणाग्नि में मिलाने का नाम वितान है) उस में वैतानिक अग्निहोत्र यथाविधि करे और समय पर दर्श पौर्णमास इष्टियों को न छूटने दे ॥ ९॥ नक्षत्रेष्टि और आग्रायणेष्टि तथा चातुर्मास्य और उत्तरायण दक्षिणायन में भी विहित (श्रौतकर्म) करे (मेधातिथि ने–दर्शेष्टाद्याग्रहणम्। पाठ माना है। तथा दो पुस्तकों में "दक्षिणायनमेव च" और ७ पुस्तकों में "दक्षस्यायनमेव च"। पाठ है) ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः। पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥११॥ देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥

अर्थ–अपने हाथ से लाये हुवे वसन्त और शरद् में उत्पन्न हुए पवित्र मुनियों के अन्नों से पुरोडाश और चरु बनाकर विधिवत् होम करे ॥ ११ ॥ वन का उत्पन्न हुआ अतिपवित्र हवि होम करने से शेष अपना बनाया अन्न लवण मिला कर भोजन करे ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च । मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान्॥१३॥वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च । भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥१४॥

अर्थ—भूमि वा जल में उत्पन्न हुवे शाकों और पवित्र वृक्षों के पुष्प मूल फलों तथा फलों से उत्पन्न स्नेहों=तैलों का भोजन करे ॥ १३ ॥ मद्य, मांस और भूमि के कुकुरमुत्तों और भूतृण ( मालवा में प्रसिद्ध है ) तथा सहोंजना और श्लेष्मातक फल=लिसौढ़ों को न खावे ॥१४॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्। जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्। न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च॥१६॥

अर्थ—आश्विन के महीने में संचय किया हुआ पहिला मुन्यन्न और पुराने कपड़े तथा बासी शाक मूल फल त्याग देवे ॥ १५ ॥ खेतों के धान्यादि का चाहे किसी ने छोड़ भी दिये हों, न भोजन करे और ग्राम में होने वाले मूल और फल पीड़ित हुआ भी न खावे ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा।अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥१७॥ सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा। षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा॥१८

अर्थ—अग्नि का पका या समय से पके हुए फल ही या पत्थरों से कूटा हुवा या दांतों ही से चबाया हुवा खावे ॥१७॥ एक वार के भोजन मात्र का संचय करने वाला वा महिने भर का, वा छः महिने का, वा वर्ष दिन के निर्वाहयोग्य का संचय करने वाला हो ॥ १८ ॥

नक्तं वान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः १९ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्। पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत्॥२०॥

अर्थ—अपने सामर्थ्य के अनुसार रात्रि में वा दिन में अन्न लाकर एक वार खावे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल को भोजन करे

वा तीन दिनरात्रि उपवास करके चौथे दिन रात्रि को भोजन करे ॥ १९ ॥ वा चान्द्रायण के विधान से शुक्ल कृष्ण पक्ष में ग्रास घटावे बढ़ावे वा पौर्णमासी अमावस्या में पकी यवागू (लपसी) का एक वार भोजन करे ॥

( २० वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक मिलता है:-

[ यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ॥ ]

जिस (वृक्ष) से पत्ते ले, उस से फूल न ले, जिस से फूल ले उस से फल न ले)॥२०॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा । कालपक्वैः स्वयं जीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥२१॥ भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

अर्थ-अथवा पुष्प, मूल, फल जो काल पाकर पकें और आप ही गिरें उन से वानप्रस्थाश्रम में रहने वाला निर्वाह करे ॥ २१ ॥ भूमि में बैठा करे वा दिन भर खड़ा रहे । स्थान और आसन पर घूमें और सायं, प्रातः, मध्यान्ह में त्रिकाल स्नान करे ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशोवर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अर्थ-ग्रीष्म में पञ्चाग्निसाधन करे ( चारों ओर अग्नि रक्खे, ऊपर से सूर्य ) और वर्षा काल में बादल का आश्रय करे और हेमन्त में भीगे कपड़ों से रहे । इस प्रकार क्रम से ( सहिष्णुता ) तप को बढ़ावे ॥ २३ ॥ त्रिकाल स्नान करके देवों और पितरों का तर्पण करे और उग्रतर तप करके अपने शरीर को सुखावे ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥२५॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः । शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ-अग्नियों को ( वैखानस शास्त्र के ) विधान से आत्मा में समारोपित करके मुनिव्रत वाला फल मूल का भोजन किया करे । अग्नि और

निकेत=स्थान भी न रक्खे ॥ २५ ॥ सुख के लिये प्रयत्न न करे और स्त्री संभोगरहित, भूमि पर सोने वाला और निवासस्थानों में ममत्वरहित वृक्ष के नीचे वास करे ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥२७॥ ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्। प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

अर्थ–वानप्रस्थाश्रम वाले विप्रों से प्राण बचाने भर ही भिक्षा लेलेवे। उसके अभाव में अन्यवनवासी गृहस्थ द्विजों से लेलेवे॥२७॥ग्राम से लाकर वनवासी अन्न के आठ ग्रास पत्ते वा हाथ वा सकोरे पर रखकर भोजन करे॥२८॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रोवने वसन्। विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥२९॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः। विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ–इन दीक्षाओं और अन्यों (जो वानप्रस्थाश्रम में कही हैं) का वन में रहता हुआ विप्र सेवन करे और विविध उपनिषदों में आई श्रुतियों का आत्मज्ञानार्थ (अभ्यास करे)–॥२९॥ जो कि ऋषि ब्राह्मण गृहस्थोंने ही विद्या और तप की वृद्धि तथा शरीर की शुद्धि के लिये सेवित की हैं ॥ ३० ॥

अपराजितांवास्थायव्रजेद्दिशमजिह्मगः।आनिपाताच्छरीरस्य युक्तोवार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्।वीतशोकभयोविप्रोब्रह्मलोकेमहीयते ॥३२॥

अर्थ–अथवा शरीर के छुटने तक जल वायु भक्षण करता हुआ जिस का पराजय न हो ऐसी दिशा को जितेन्द्रिय और कुटिलगति से रहित होकर गमन करे॥३१॥ इन महर्षियों के अनुष्ठानों में से कोई सा अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़ शोक भय से रहित हो,ब्रह्मलोक (मोक्ष) में महिमा को प्राप्त होता है। (यहां तक वानप्रस्थाश्रम का वर्णन है। इस में १९ वें से ३२ वें तक जो शरीर का कर्षण है,यह आवश्यक विधान नहीं किन्तु सहनशीलतादि तप की वृद्धि के लिये कथन है। जो जैसा कर सके वा करना चाहे,करे)॥३२॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥३३॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥३४॥

अर्थ–ऐसे आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर, चतुर्थ भाग में ( विषयादि का ) सङ्ग छोड़कर, संन्यास आश्रम को धारण करे ( आयु के चार भाग चारों आश्रमों पर हैं ) ॥ ३३ ॥ आश्रम से आश्रम में गमन करके ( अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उस से वानप्रस्थ, उस से ) हवन करके भिक्षा और बलि से थका हुवा जितेन्द्रिय "संन्यास आश्रम" करने वाला मरने पर बढ़ता=मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानोव्रजत्यधः॥३५॥अधीत्यविधिवद्वेदान्पुत्रांश्चो-त्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितोयज्ञैर्मनोमोक्षेनिवेशयेत्॥३६॥

अर्थ–तीन ऋणों को चुका कर मन को मोक्ष में लगावे। विना ऋणों के चुकाये मोक्ष का सेवन ( चतुर्थ आश्रम का धारण ) करने वाला नीचे गिरता है ॥ ३५ ॥ विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, विवाहादि धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर, यथाशक्ति ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करके (ऋषि-ऋण, पितृऋण और देव-ऋण से निवृत्त हुआ ) मोक्ष में मन लगावे ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजोवेदाननुत्पाद्यतथासुतान्। अनिष्ट्वाचैवयज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥३७॥प्राजापत्यां निरूप्येष्टिंसर्ववेदस-दक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणःप्रव्रजेद्गृहात्॥३८॥

अर्थ–वेदाध्ययन किये विना और पुत्रों को उत्पन्न किये विना और यथा विधि यज्ञों को न करके मोक्ष की इच्छा करता हुआ नीचे गिरता है ३७ सर्वस्व दक्षिणा की प्रजापति देवता के उद्देशवाली इष्टि करके आत्मा में अग्नियों का समारोपण करके ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रम से संन्यास को धारण करे ॥ ३८ ॥

योदत्वासर्वभूतेभ्यःप्रव्रजत्यभयंगृहात्।तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥३९॥यस्मादण्वपिभूतानां द्विजान्नोत्प-द्यते भयम्। तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥४०॥

अर्थ-जो सब प्राणियों को अभय देकर गृह से चतुर्थ आश्रम को जाता है उस ब्रह्मज्ञानी को तेजोमय लोक ( मोक्ष ) होते हैं ॥३९॥ जिस द्विज से प्राणियों को थोड़ा भी भय उत्पन्न नहीं होता, देह छूटने पर उस को किसी से भय नहीं है ( वह भी अभय हो जाता है ) ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तःपवित्रोपचितोमुनिः।समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एकएव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्। सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥४२॥

अर्थ-घर से निकला हुवा, पवित्र दण्डकमण्डलुयुक्त, अच्छे प्रकार मिलते हुवे कामों में भी अपेक्षारहित मुनि संन्यास धारण करे ॥४१॥ एकाकी को मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसा जानता हुवा सदा सहायकरहित अकेला ही रहे, ( तब ) वह न छोड़ता है, न छूटता है ( एकरस हो जाता है ) ॥ ४२॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्। उपेक्षकोऽशङ्कुसुकोमुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४४॥

अर्थ-अग्नि तथा घर से रहित, भिक्षा के लिये ग्राम का आश्रय करे और दुःख हो तो चिन्ता न करे तथा स्थिरचित्त और मुनिधर्म से युक्त रहे ॥ ४३ ॥ ( भोजनार्थ ) खपरा, (स्थानार्थ) वृक्ष के नीचे की भूमि, मोटे वस्त्रों की गुदड़ी, किसी से सहायता न चाहना और सब में समानबुद्धि, यह मुक्त का लक्षण है ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतकोयथा ॥ ४५ ॥

अर्थ-न जीवने में सुख माने, न मरने में माने किन्तु (मृत्यु के) समय की प्रतीक्षा करे, जैसे नौकर आज्ञा की (प्रतीक्षा करता है। "बहुत अच्छा" कह कर प्राण त्याग दे)॥ नीचे लिखे ३ श्लोकों में से एक पुस्तक में पहले दो और एक पुस्तक में पहला एक और ८ पुस्तकों में तीनों श्लोक अधिक पाये जाते हैं और एक पर राघवानन्द की तथा तीनों पर रामचन्द्र की टीका भी है:-

[ ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत्।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १ ॥

नाऽसूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नाऽदृष्टां भूमिमाक्रमेत् ।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ २ ॥
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदऽनपकारिणीम् ।
कल्काऽपेतामऽपरुषामऽनृशंसामपैशुनाम् ॥३॥ ]

गरमी और जाड़े के ८ मास में संन्यासी देशाटन करे और सब जीव जन्तुओं पर दया के लिये वर्षा के ४ मास तक एक स्थान में निवास करे ॥१॥ रात्रि में जब सूर्य न हो, तब मार्ग न चले। भूमि को बिना देखे न चले। अधिक जल से नित्य कार्य करे ॥२॥ सत्य, हिंसारहित, दूसरे की हानि न करने वाली और कठोरता, क्रोध, निंदा और चुग़ली से रहित वाणी बोले ॥३॥)॥४५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-दृष्टि से शोधित ( मार्ग में ) पैर रक्खे ( देखकर चले ) और वस्त्र से ( छान कर ) पवित्र हुवा जल पीवे और सत्य से पवित्र वाणी को बोले और मन से पवित्र आचरण को करे ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाऽवमन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥४७॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वाराऽवकीर्णां च न वाचमऽनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—दूसरों के बुरे के कहने का सहन करे, किसी का अपमान न करे और इस देह का आश्रय कर किसी के साथ वैर न करे ॥ ४७ ॥ क्रोध करते पर बदले में क्रोध न करे और निन्दा करने वाले से आप अच्छा बोले और पञ्चेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन ७ ( अथवा १ मुख का, २ नाक के, २ कानों के, २ आंखों के, इन ७ ) छिद्रों में बिखरी हुई असत्य वाणी न बोले ( किन्तु शास्त्रीय वचन बोले ) ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः*। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४९॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥५०॥

* यहां सब टीकाकारों ने "आमिष" का अर्थ "विषय" ही किया है॥

अर्थ—ब्रह्मध्यान में रहने और किसी की अपेक्षा न रखने वाला और विषयों के अभिलाष से रहित तथा अपनी ही सहायता से सुख चाहने वाला होकर इस संसार में विचरे ॥४९॥ (भविष्यत) उत्पात(भूकम्पादि) बताने का ग्रहों की विद्या वा उपदेश वा शास्त्रार्थ के बदले भिक्षा की इच्छा न करे ॥५०॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः। आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत्॥५१॥क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्। विचरेन्नियतोनित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥५२॥

अर्थ—वानप्रस्थों वा अन्य ब्राह्मणों तथा पक्षियों वा कुत्तों वा अन्य मांगने वालों से घिरे मकान में भिक्षा को न जावे ॥ ५१ ॥ नख, केश, श्मश्रु जिसके मुंडे हों, पात्र, दण्ड, कमण्डलु और रंगे कपड़ों से युक्त, किसी को पीड़ा न देता हुवा सदा नियम से विचरे ॥ ५२ ॥

"अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।तेषामद्भिःस्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥ अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्॥५४॥"

अर्थ—"उस के पात्र तैजस अर्थात् सोना,चांदी,पीतल आदि धातुओं के न हों और छिद्ररहित हों।पानी से उन की पवित्रता कही है,जैसे यज्ञ में चमसों की ॥५३॥तूंबी, लकड़ी, मिट्टी वा बांस के बने हुवे,ये यतियों के भिक्षापात्र हैं। ऐसा"स्वायम्भुव मनु ने कहा है"(इसी से स्पष्ट है कि अन्यकृत हैं)॥५४॥"

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥

अर्थ—एक वार भिक्षा करे, बहुत भिक्षा में आसक्त न हो क्योंकि बहुत भिक्षा में फंसा संन्यासी अन्य विषयों में भी आसक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥ रसोई का धुआं निकल चुका हो, कूटना आदि बन्द हो गया हो, आग बुझा दी हो, सब भोजन कर चुके हों और रसोई के वर्तन डाल दिये हों तब ( ऐसे गृह में ) सदा संन्यासी भिक्षा करे ॥ ५६ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ-योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे । उत्तम और अधम योनियों में जीवों के शुभाऽशुभ फल भोग के लिये उत्पत्ति का भी ( चिन्तन करे ) ॥ ६५ ॥ दोष लगाने पर भी सम्पूर्ण जीवों में समदृष्टि करता हुवा चाहे किसी आश्रम में रहे पर धर्म के आचरण करे क्योंकि (दण्डादि) चिन्ह धर्म का कारण नहीं हैं । ( एक पुस्तक में दूषितः=गृहस्थः और ४ पुस्तकों में-भूषितः । पाठभेद है ) ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥६७॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ-(जैसा कि) निर्मली का फल यद्यपि पानी शुद्ध करने वाला है, तथापि निर्मली के नाम लेने से ही पानी शुद्ध नहीं होता ॥ ६७ ॥ ( पिपीलिकादि सूक्ष्म ) जन्तुओं की रक्षा के लिये रात्रि में वा दिन में शरीर को क्लेश होने पर भी भूमि को देख कर चले ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥६९॥ प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः

अर्थ-यति से जो जीव विना जाने दिन या रात्रि में मर जाते हैं, उस पाप से दूर होने को स्नान करके छः प्राणायाम करे ॥६९॥ (भूः भुवः स्वः ) इन व्याहृति और प्रणव ( ओ३म् ) युक्त विधि से किये हुवे ३ भी प्राणायाम ब्राह्मण का परम तप जानिये ॥ ७० ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ७१ प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैवसर्वशः। अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥५८॥

अर्थ-( भिक्षा ) न मिले तौ खेद न करे और मिले तौ आनन्द न माने। जीवनमात्र का उपाय करे। मात्रासङ्ग (शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श) विषयों से पृथक् रहे ॥५७॥ यति पूजापूर्वक ( स्वादिष्ट भिक्षा ) लाभों की निन्दा करे ( अर्थात् ऐसी भिक्षा प्रसन्न न करे ) क्योंकि ऐसी भिक्षा के लाभों से मुक्त भी यति (देने वाले के स्नेह ममत्वादि से ) बन्धन को प्राप्त हो जाता है॥५८॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च। ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥५९॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६०॥

अर्थ-थोड़े भोजन, निर्जन देश और एकान्त स्थान में रहने से विषयों से खिंची हुई इन्द्रियों को रोके ॥ ५९ ॥ इन्द्रियों को रोकने, राग द्वेष के नाश तथा प्राणियों की हिंसा न करने से मोक्ष के योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः। निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥६१॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः। जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥६२॥

अर्थ-मनुष्यों के कर्मदोषों से उत्पन्न दशाओं और नरक में गिरने और मृत्यु के पश्चात् नाना प्रकार की शिक्षाओं का चिन्तन करे ॥६१॥ और प्यारों के वियोग तथा शत्रुओं के संयोग, वृद्धावस्था से दबाये जाने तथा व्याधियों से पीड़ित होने पर भी ( ध्यान करे ) ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम्। योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ-इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति और कोटि सहस्रों योनियों में इस जीवात्मा का जाना ॥६३॥ देहधारियों को अधर्म से दुःख के योग और धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख के योग का भी (चिन्तन करे)॥६४॥

अर्थ–जैसे ( सुवर्णादि ) धातुओं के मैल अग्नि में धौंकने से फुंकते हैं, वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं ॥७१॥ प्राणायामों से रोगादिदोषों को, धारणाओं से पाप को, इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यानादि से मोहादि गुणों को जलावे ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यानयोगेन संपश्येद्‌ गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ–इस जीव की उत्तम अधम योनियों में प्राप्ति को, जो अकृतात्मा पुरुषों से नहीं जानी जातीं, ध्यानयोग से देखे ( जाने ) ॥७३॥ ( ब्रह्म का ) साक्षात् करने वाला कर्मों से नहीं बन्धता और साक्षात्कार से रहित संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

अर्थ–हिंसा न करने, इन्द्रियों को विषयों में न फंसाने और वैदिककर्मों और उग्रतप के आचरणों से इस लोक में उस पद को सिद्ध करते हैं ॥७५॥ हड्डी की स्थूणा ( स्तम्भ ) से युक्त, स्नायुरूप जेवड़ी से बँधे, मांस, रक्त से लिथड़े, चाम से मँढे हुवे, दुर्गन्धि और मलमूत्र से पूर्ण, ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥७७॥ नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ–ज़रा ( बुढ़ापे ) और शोक से घिरे हुवे, रोग के घर, क्षुधा प्यास से पीडित, रजस्वल ( मलिन ), अनित्य तथा पञ्चभूतों के गृह " शरीर " को छोड़ देवे ( अर्थात् ऐसा करे कि फिर शरीर न हो ) ॥७७॥ जैसे नदी के किनारे को वृक्ष छोड़ देता है और पक्षी जैसे वृक्ष को छोड़ देता है, ऐसे संन्यासी इस देह को छोड़ता हुवा कठिन ( संसाररूपी ) ग्राह से छूट जाता है ॥७८॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः। तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥ ८०॥

अर्थ—अपने प्रिय में ( पूर्वजन्मार्जित ) सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत ( जान कर उन से होने वाले रागद्वेषादि ) को छोड़कर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥७९॥ जब (विषयों के दोषों के) ज्ञान से संपूर्ण पदार्थों में निःस्पृह हो जाता है तब इस लोक और परलोक में नित्य सुख को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥८१॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्। नह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ८२

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण ( पुत्र कलत्रादि के ) सङ्गों को धीरे २ छोड़ कर संपूर्णद्वन्द्वों ( मानाऽपमानादि ) से छूटा हुवा ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है ॥८१॥ यह जो ( पुत्रादि का ) ममत्वत्याग कहा है वह सम्पूर्ण मन से ही होता है; क्योंकि मन से ( त्याग ) न करने वाला ( केवल दिखावे को अलग रहने वाला ) कोई उस क्रिया के फल को नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥८३॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्। इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥ ८४ ॥

अर्थ—यज्ञ और देवतों तथा आत्मा के विषय में और वेदान्त ( ब्रह्मज्ञान ) विषय में जो वेदवाक्य हैं उन का निरन्तर जप करे ॥ ८३ ॥ यह (वेदाभ्यास) अज्ञानियों को और ज्ञानियों को भी हित है। यह स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा करने वालों का भी शरण है ( अर्थात् वेदद्वारा सब की प्राप्ति है ) ॥ ८४ ॥

अनेन कर्मयोगेन परिव्रजति यो द्विजः। स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥८५॥ एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्। वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥८६॥

अर्थ-इस क्रम के अनुष्ठान से जो द्विज संन्यास धारण करता है, वह यहां पापों का नाश करके परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ जितेन्द्रिय यतियों का यह धर्म तुम को बताया । अब वेदसंन्यासियों ( ज्ञान से ही संन्यासी, जिन्हों ने बाहर से संन्यस्त चिह्न वा गृहवासत्यागादि नहीं किये) का कर्मयोग सुनो ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोयतिस्तथा एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारःपृथगाश्रमाः॥८७॥सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥८८॥

अर्थ-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति; ये पृथक् २ चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं ॥८७॥ ये चारों ही आश्रम क्रम से शास्त्रानुकूल सेवित किये हुवें, उक्तविधि से करने वाले विप्र को मोक्ष प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः । गृहस्थउच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥८९॥ यथा नदीनदाःसर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ९०

अर्थ-इन सब आश्रमों में वेदों और स्मृतियों के विधान से गृहस्थ श्रेष्ठ कहा है क्योंकि वह तीनों का पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे संपूर्ण नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में ठहरते हैं ( आश्रय पाते हैं ) ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणकोधर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥९१॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम् ९२

अर्थ-चारों आश्रमी द्विजों को दश लक्षण वाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिये ॥ ९१ ॥ १-धैर्य २-दूसरे की करी हुई बुराई को सह लेना ३-मन का रोकना ४-चोरी न करना ५-शुद्ध होना ६-इन्द्रियों का रोकना ७-शास्त्र का ज्ञान, ८-आत्मा का ज्ञान, ९-सत्य बोलना और १०-क्रोध न करना; ये धर्म के दश लक्षण हैं ( ५ पुस्तकों और नन्दनकृत टीका में:- धीः=ह्रीः पाठभेद है ) ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानु वर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥९३॥ दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः । वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ॥९४॥

अर्थ-जो विप्र धर्म के दश लक्षणों को पढ़ते हैं और पढ़कर उस के अनुसार चलते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ॥ ( ऋषि पितर देवों के ) ऋणों से मुक्त द्विज स्वस्थचित्त होकर दश लक्षण वाले धर्म को करता हुआ विधि से वेदान्त का श्रवण करके संन्यास धारण करे ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतोवेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

अर्थ-संपूर्ण (गृहस्थ के) कर्मों को छोड़कर और (विना जाने जीवों के नाशजनित) पापों को (प्राणायामों से) नष्ट करता हुवा जितेन्द्रिय होकर वेद का अभ्यास करके पुत्र के ऐश्वर्य में ( वृत्ति की चिन्ता से रहित ) सुखपूर्वक निवास करे ( ९५ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥ ]

सब काम छोड़ दे, परन्तु एक वेद को न छोड़े । क्योंकि वेद के छोड़ने से शूद्र हो जाता है, इस लिये वेद को न छोड़े ॥ इसी आशय का श्लोक पाठभेद से अन्य दो पुस्तकों में भी मिलता है कि:-

संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदं तु न परित्यजेत् ।
परित्यागाद्धि वेदस्य शूद्रतामनुगच्छति ) ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

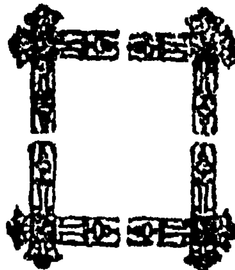
अर्थ-इस प्रकार कर्मों को छोड़ कर अपने कार्य ( आत्मसाक्षात्कार ) में तत्पर हुवा निःस्पृह संन्यास से पाप को दूर करके परमगति को प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितोधर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥९७॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ-( हे ऋषियो ! ) तुम से यह ब्राह्मण का चार प्रकार का धर्म जो परलोक में पुण्य तथा अक्षय फल देने वाला है, कहा । अब राजाओं का धर्म सुनो-॥ ९७ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



ओ३म्

# अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तोभवेन्नृपः। संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥१॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे आचरण वाला राजा होना चाहिये, उस प्रकार के राजधर्मों और राजा की उत्पत्ति और जैसे (राजा के प्रभुत्व की) उत्तमसिद्धि हो, उस को आगे कहूंगा ॥ १ ॥ वेदोक्त संस्कार हुवे क्षत्रिय को इस संपूर्ण (राज्य) की न्यायानुसार रक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥४॥

अर्थ—बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल विचल हो जाता, इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया ॥ ३ ॥ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशों) को निकाल कर (राजा को बनाया अर्थात् इन दिव्यगुणांशों से युक्त पुरुष राजा होता है) ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितोनृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥ तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूंषि च मनांसि च। न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

अर्थ—क्योंकि देवेन्द्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इस लिये यह (राजा) तेज से सब प्राणियों को दबाता है ॥ ५ ॥ (अब दो श्लोकों में यह बताते हैं कि राजा में कैसे उक्त आठ देवों का प्रभाव रहता है) राजा अपने तेज से इन (देखने वालों) की आंखों और मनों को सूर्य सा असह्य होता है और पृथिवी में कोई इस (राजा) के सामने होकर नहीं देख सकता (इस से सूर्यांश कहा, इसी प्रकार—) ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥८॥

अर्थ–वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है ॥ ७ ॥ मनुष्य जान कर बालक राजा भी अपमान करने योग्य नहीं है । क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्यरूप से स्थित है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् । कुलं दहति राजाऽग्निः स पशुद्रव्यसञ्चयम् ॥९॥ कार्यं सोवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः । कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

अर्थ–( अग्नि के ऊपर कोई मनुष्य कुचाल चले तो ) अग्नि उसी एक को जलाता है परन्तु राजा (कुचाल चलने वाले के) कुल को भी पशु और धनसहित नष्ट कर देता है ॥ ९ ॥ कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्त्व से देख कर धर्मसिद्धि के लिये राजा वार २ नाना प्रकार का रूप धरता है ( कभी क्षमा, कभी कोप, कभी मित्रत्व, कभी शत्रुत्व इत्यादि ) ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥ तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

अर्थ–जिस की प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है ( द्रव्यप्राप्ति होती है , और पराक्रम में जय रहता है और क्रोध में मृत्यु वास करता है, वह ( राजा ) अवश्य सर्वतेजोमय है ॥११॥ जो अज्ञानवश राजा से द्वेष करता है वह निश्चय नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि उस के शीघ्र नाश के लिये राजा मन बिगाड़ता है ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥१४॥

अर्थ इस लिये राजा अपने अनुकूलों में जिस धर्म=क़ानून का और प्रतिकूलों में जिस अनिष्ट का निश्चय करके स्थापन करे (क़ानून बनादे) उस धर्म

(कानून) को न विचलावे (न तोड़े) ॥१३॥ उस (राजा) के लिये प्राणिमात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्मतेज से बने दण्डधर्म को ईश्वर ने पूर्व बनाया है॥१४॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥ तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥१६॥

अर्थ—उस(दण्ड) के भय से सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से नहीं विचलते॥१५॥देश,काल,शक्ति और विद्या के तत्त्व को शास्त्रानुसार विचार कर अपराधी मनुष्यों को यथायोग्य उस दण्ड को देवे॥१६॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥१८

अर्थ—वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) है॥ १७॥ दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है,दण्ड ही रक्षा करता है,सब के सोते हुवे दण्ड ही जागता है (उसी के डर से चोर चोरी नहीं करते ) विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः२०

अर्थ—वह (दण्ड) शास्त्र से अच्छे प्रकार देखकर धरा हुवा सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता और विना देखे किया हुआ चारों ओर से नाश करता है ॥१९॥ आलस्यरहित राजा यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अतिबलवान् लोग निर्बलों को भून डालें ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा। स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥२१॥ सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते२२

अर्थ-( यदि राजा दण्ड न करे तो ) कौवा पुरोडाश भक्षण कर जावे और कुत्ता हवि का भक्षण करले और कोई किसी का स्वामी ( मालिक ) न हो सके और नीचे ऊंच और ऊंचे नीचता में प्रवृत्त हो जावें ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किये हुवे ही सन्मार्ग में रहते हैं । क्योंकि (स्वभाव से सन्मार्ग में रहने वाला) शुचि मनुष्य दुर्लभ है । सम्पूर्ण जगत् दण्ड के भय से ही भोग कर सकता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसिपतगोरगाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥ दुष्येयुःसर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्व-सेतवः । सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प, ये भी दण्ड के ही दबे हुवे भोग को पा सक्ते हैं ॥ २३ ॥ दण्ड के विना सम्पूर्ण वर्ण दुराचरण में प्रवृत्त हो जावें और ( चतुर्वर्गरूप ) सब पुल टूट जावें और सम्पूर्ण लोगों में उपद्रव हो जावे ॥ २४ ॥

यत्र श्यामोलोहिताक्षोदण्डश्चरति पापहा।प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥२५॥तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्य वादिनम् । समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥२६॥

अर्थ-जिस देश में श्यामवर्ण और लाल आंख वाला, पाप का नाशक दण्ड विचरता है, वहां प्रजा प्रमाद नहीं करती, यदि नेता (राजा) अच्छे प्रकार देखता हो ॥ २५ ॥ सत्य बोलने वाले और अच्छे प्रकार समझ कर करने वाले, बुद्धिमान् और धर्म अर्थ काम के जानने वाले राजा को उस (दण्ड) के देने का अधिकारी कहते हैं ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रोदण्डेनैव निहन्यते ॥२७॥ दण्डोहि सुमहत्तेजोदुर्धरश्चा-ऽकृतात्मभिः।धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

अर्थ-जो राजा उस (दण्ड) को अच्छे प्रकार चलाता है वह धर्म अर्थ काम से वृद्धि को प्राप्त होता है और जो विषय का अभिलाषी और उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है वह उसी दण्ड से नष्ट होजाता है॥२७॥बड़े तेजवाला दण्ड है और शास्त्रोक्त संस्काररहित राजाओं से धारण नहीं किया जासक्ता किन्तु राजधर्म से विपरीत राजा ही का बन्धु सहित नाश कर देता है ॥२८॥

ततोदुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्। अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत्॥२९॥ सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत-बुद्धिना। न शक्योन्यायतोनेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

अर्थ-राजा के नाश के अनन्तर क़िला, राज्य और स्थावर जङ्गम प्रजा और अन्तरिक्ष के रहने वाले पक्षी और वायु आदि देवतों को (हव्यादि न मिलने से) और सब मुनियों को (वह अधर्मी राजा का दण्ड) पीडित करने लगेगा ॥ २९ ॥ ( मन्त्री वा सेनापतियों के ) सहाय से रहित, मूर्ख, लोभी, निर्बुद्धि और विषयों में आसक्त राजा से वह ( दण्ड=राजधर्म ) न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा। प्रणेतुं शक्यते दण्ड. सुसहायेन धीमता॥३१॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु। सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥३२॥

अर्थ-शौचादियुक्त, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्र के अनुसार चलने वाले, अच्छे सहायकों वाले और बुद्धिमान् राजा से दण्ड चलाया जा सकता है ( ऐसा राजा शिक्षा करने को योग्य है ) ॥३१॥ राजा को अपने राज्य में न्यायकारी और शत्रुओं को सदा दण्ड देने वाला और प्यारे मित्रों से कुटिलतारहित और ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त होना चाहिये ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः। विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजिता-त्मनः। संक्षिप्यते यशोलोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ-उक्त प्रकार चलने वाले शिलोञ्छवृत्ति से भी जीवते हुवे राजा का यश जगत् में फैल जाता है, जैसे पानी में तैल की बूंद ॥३३॥ विषयासक्त और इस से विपरीत चलने वाले राजा का यश लोगों में सङ्कोच को प्राप्त होजाता है, जैसे पानी में घृत की बूंद ॥ ३४ ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥ तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः। तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥

अर्थ-अपने अपने धर्म में चलने वाले आनुपूर्व्य से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा ( ईश्वर ने ) उत्पन्न किया है ॥ ३५ ॥ प्रजा की रक्षा करते हुवे अमात्यों सहित उस राजा को जो जो करना चाहिये सो तुम से मैं क्रम के साथ यथावत् कहूंगा ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः। त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने॥३७। वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरऽपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ-राजा को प्रातःकाल उठकर ऋग्, यजु, सामवेद और धर्मशास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणों के साथ बैठना और उन के शासन को मानना चाहिये ॥ ३७ ॥ वेद जानने वाले, पवित्र, आयु में वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे क्योंकि बड़े विद्वानों की सेवा करने वाला ( राजा ) दुष्ट जीवों से भी पूजा ( सत्कार ) पाता है ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः। विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित ३९ बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः। वनस्थाअपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥४०॥

अर्थ शिक्षित राजा भी उन ( विद्वानों ) से शिक्षा का नित्य अभ्यास करे क्योंकि सुशिक्षित राजा कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥ ( हाथी घोड़ा ख़ज़ाना इत्यादि सब ) सामानों से युक्त बहुत से राजा विनयरहित नष्ट होगये और बहुत से ( वे सामान ) जङ्गल में रहते हुवे भी विनय से राज्य को प्राप्त हो गये ॥ ४० ॥

" वेनोविनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः। सुदासोयवनश्चैव सुमुखोनिमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च। कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ ४२॥"

"अर्थ-वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख और निमि भी अविनय से नष्ट हो गये ॥४१॥ पृथु और मनु विनय से राज्य पा गये और कुबेर ने (विनय से ) धनाधिपत्य पाया और गाधि के पुत्र विश्वामित्र ( विनय से ) ब्राह्मण हो गये ॥ ( ये श्लोक मनु के नहीं, क्योंकि स्वयं मनु और यवन तक को भी इन में भूतकालस्थ वर्णन किया है ) ॥ ४२ ॥"

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यांवार्तारम्भांश्चलोकत:॥४३॥इन्द्रियाणांजयेयोगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।जितेन्द्रियोहिशक्नोतिवशेस्थापयितुंप्रजा:॥४४॥

अर्थ–तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद(पढ़े) और सनातन दण्डनीतिविद्या तथा वेदान्त ( पढ़े ) और लोगों से व्यवहार विद्या ( पढ़े ) ॥४३॥ इन्द्रियों के जय का रात दिन उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में कर सकता है ॥ ४४ ॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौक्रोधजानि च।व्यसनानिदुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपति: । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

अर्थ–काम से उत्पन्न दश और क्रोध से उत्पन्न आठ ( ऐसे १८ ) व्यसनों को, जिन का अन्त मिलना दुर्लभ है, यत्न से छोड़ देवे ॥४५॥ काम से उत्पन्न ( दश ) व्यसनों में आसक्त हुवा राजा अर्थ और धर्म से हीन हो जाता है और क्रोध से उत्पन्न ( ८ ) व्यसनों में आसक्त तो अपने शरीर से ही ( नष्ट हो जाता है ) ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षादिवास्वप्न:परिवाद:स्त्रियोमद:। तौर्यत्रिकंवृथाट्याच कामजोदशकोगण: ॥४७॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक: ॥४८॥

अर्थ–शिकार करना, जुवा खेलना, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को कहते रहना, स्त्रीसम्भोग, मद्यपान, नाचना, गाना, बजाना और बिना प्रयोजन घूमना, ये दश काम के व्यसन हैं ॥ ४७ ॥ चुग़ली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गाली देना और कठोरता; ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयोविदु: । तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षा: स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

अर्थ-जिस को सम्पूर्ण विद्वान् इन दोनों गणों का कारण बताते हैं उस लोभ को यत्न से छोड़ देवे। उसी से ये दोनों गण उत्पन्न हैं ॥ ४९ ॥ काम से उत्पन्न हुवे गण में मद्यपान, जुवा खेलना, स्त्रीप्रसङ्ग और शिकार, इस चौकड़े को बहुत कष्ट जाने ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे। क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥५१॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः। पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ-क्रोध से उत्पन्न हुवे गण में कठोर वचन कहना, दण्डे से मारना और द्रव्य का हरण करना; इस त्रिक (३) को सदैव अति कष्ट जाने ॥५१॥ ये जो सब में साथ लगे सात व्यसन हैं, इन में पहिले पहिले (व्यसन) को ज्ञानी पुरुष भारी (व्यसन) जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते। व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥

अर्थ- व्यसन और मृत्यु (दोनों नाश करने वाले हैं) में मृत्यु से व्यसन कष्ट है। क्योंकि व्यसनी दिन दिन अवनति में जाता है और निर्व्यसनी मर कर स्वर्ग को जाता है ॥५३॥ मूल से नौकरी किये हुवे, शास्त्र के जानने वाले, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, अच्छे कुल के और परीक्षोत्तीर्ण ७ या ८ मन्त्री रक्खे ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्। विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्। स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥

अर्थ-जब कि सुगम काम भी एक से होना कठिन है तो विशेष कर बड़े फल का देने वाला राज्यसम्बन्धी काम एकला कैसे कर सकता है ॥ ५५ ॥ इस लिये उन (मन्त्रियों) के साथ साधारण सन्धि विग्रह की और (दण्ड, कोश, पुर, राष्ट्र=चतुर्विध) स्थान की और द्रव्य धान्यादि की उन्नति और सब की रक्षा और जो प्राप्त है उस की शान्ति का विचार करे ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥५७॥सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥५८॥

अर्थ-उन मन्त्रियों के अलग अलग और सब के मिले अभिप्राय (अलग अलग राय और मिली हुई राय) को जान कर कार्यों में अपना हित करे ॥ ५७ ॥ उन सब ( मन्त्रियों ) में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान् ब्राह्मण ( मन्त्री ) के साथ राजा बहुगुणयुक्त परम मन्त्र ( सलाह ) करे ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तःसर्वकार्याणिनिक्षिपेत्।तेन सार्धंविनिश्चित्य ततःकर्मसमारभेत् ॥५९॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्। सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान्सुपरीक्षितान्॥६०॥

अर्थ-उस ( ब्राह्मण मन्त्री ) में अच्छा विश्वास करता हुआ सब काम उस को सौंपे और जो करना हो, उस के साथ निश्चय करके तब उस काम को करे ॥ ५९ ॥ अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान्, परीक्षित तथा द्रव्य के उपार्जन की युक्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे ॥ ६० ॥

निर्वर्त्तेतास्ययावद्भिरितिकर्त्तव्यतानृभिः।तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान्। शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

अर्थ-इस (राजा) का जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले उतने आलस्यरहित चतुर बुद्धिमानों को ( मन्त्री ) बनावे ॥६१॥ उन में शूर, चतुर, कुलीन मन्त्रियों को धन के स्थान में और अर्थशुचियों को रत्नों की खानि खोदवाने में तथा डरपोकों को महलों के भीतर जाने आने में नियुक्त करे ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतोराज्ञः प्रशस्यते॥६४॥

अर्थ-और दूत उस को रक्खे जो बहुश्रुत, हृदय के भाव आकार चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध तथा चतुर और कुलीन हो

॥ ६३ ॥ प्रीति वाला, शुद्धचित्त, चतुर, याद रखने वाला, देश काल का जानने वाला, अच्छे देह वाला, निडर और बोलने वाला, राजा का दूत प्रशस्त है (अर्थात् राजा को ऐसा दूत रखना चाहिये ॥ ६४ वें से आगे एक पुस्तक में ये ५॥ श्लोक अधिक हैं:—

[सन्धिविग्रहकालज्ञान्समर्थानायतिक्षमान्। परैरहार्यान्शुद्धांश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ १ ॥ समाहर्त्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः। कुलीनान्वृत्तिसंपन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥२॥ आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानऽलोलुपान्। नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥३॥ कर्मणि चातिकुशलांल्लिपिज्ञानायतिक्षमान्। सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥४॥ अकृताशांस्तथा भर्त्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः। कार्यकामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥५॥ कुर्याद्दासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च]

कोशवृद्धि के लिये—सन्धि और विग्रह के समय को जानने वाले, समर्थ, समय पड़े को झेल सकने वाले, शत्रुओं से न मिल जाने योग्य, धर्म अर्थ काम से शुद्ध, सब शास्त्रों के ज्ञाता, कुलीन, पुष्कलजीविका वाले और चतुर पुरुषों के इकट्ठा करने का उद्योग किया करे। आय व्यय में चतुर, हिसाब के पक्के, निर्लोभ, धर्म में श्रद्धालु और कार्यों का तात्पर्य समझने वालों को नियुक्त करे। जो काम में अतिकुशल, अच्छा लिखना जानने वाले, भीड़ पड़ी को झेलने वाले, सब के विश्वासपात्र, सच्चे, सब कामों में निश्चित और स्वामी पर आशा न रखने वाले (सन्तुष्ट), समय और प्रसङ्ग (मौक़े) के जानने वाले हों। कार्य, काम और धरोहर में सच्चे, बाहर भीतर के भेदी (मन्त्री) लोंगो को समीपी कामों और गृह की रक्षाओं में नियुक्त करे) ॥ ६४ ॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया। नृपतौ कोशराष्ट्रं च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥ दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन सुशिक्षा और राजा अधीन देश तथा ख़ज़ाना और दूत के अधीन मेल वा बिगाड़ है ॥६५॥ क्योंकि

दूत ही मेल कराता है और दूत ही मिले हुवों को फोड़ता है। दूत वह काम करता है जिस से मनुष्यों में भेद हो जाता है। (५ पुस्तकों में-मानवाः=बान्धवाः। पाठ है)॥ ६६॥

स विद्यादस्य * कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम्॥ ६७॥

इस श्लोक में राजदूत का कर्त्तव्य बताया गया है। अर्थ-(सः) वह दूत (अस्य) इस राजा के (कृत्येषु) असन्तुष्ट विरुद्ध लोगों में (निगूढेङ्गितचेष्टितैः) छिपे इङ्गित इशारों और चेष्टाओं से (आकारम्) उन के आकार=सूरत शकल (इङ्गितम्) इशारे और (चेष्टाम्) काम वा हरकत को (विद्यात) जानने का यत्न करे (च) और (भृत्येषु) भरण पोषण योग्य पुरुषों में (चिकीर्षितम्) क्या करना चाहते हैं, उस को जाने॥

(इस में जो "कृत्य" शब्द है, वह राजनैतिक योगरूढि शब्द है, जिस का विवरण अमर कोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३, श्लोक १५८ में और उसी की अमरविवेक टीका में इस प्रकार है कि-

कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः॥
(अमरकोष ३। ३। १५८)

"धनस्त्रीभूम्यादिभिर्भेदनीयोयः परराष्ट्रगतपुरुषादिस्तत्र कृत्याशब्दोवाच्यलिङ्गः" टीका॥

पराये=शत्रु के राज्य में जो कोई धन के, स्त्री के वा पृथिवी आदि के लालच से तोड़ने (अपने अनुकूल कर लेने) योग्य पुरुष इत्यादि है, उस को "कृत्य" कहते हैं और उस का वाच्य के समान लिङ्ग होता है। स्त्री=कृत्या, पुरुषः=कृत्यः, नपुंसकं=कृत्यम्॥

ये "कृत्य" ४ प्रकार के होते हैं। १-क्रुद्धकृत्य, २-लुब्धकृत्य, ३-भीतकृत्य, और ४-अवमानितकृत्य। यथा-

क्रुद्धलुब्धभीताऽवमानिताः परेषां कृत्याः॥ कौटिल्यसूत्र

जो शत्रुराज्य पर क्रोध रखते हैं वे "क्रुद्ध कृत्य," जो लोभी हैं वे "लुब्ध कृत्य," जो डरे हुवे हैं वे "भीतकृत्य" और जो शत्रु राजा से अवमान किये गये हैं वे "अवमानित कृत्य" कहाते हैं। इस श्लोक में राजदूत के कामों में

एक यह काम भी बताया गया है कि वह शत्रुराज्यों में छिपी इङ्गित चेष्टाओं से गुप्त रूप से शत्रुराज्य से नाराज़ बेदिल असन्तुष्ट Mal content पुरुषों के आकार इङ्गित और चेष्टाओं का भेद लेवे ॥

परन्तु मेधातिथि जैसे विद्वान् टीकाकार भी "कृत्येषु=कार्येषु" लिखकर भूल कर गये। कुल्लूकभट्ट ने भी मूल में कृत्य का अर्थ "कर्तव्य" ही लिख दिया। राघवानन्द भी भूल कर "कृत्य" का अर्थ "कर्तुमिष्ट" कर गये। रामचन्द्र टीकाकार भी "कर्त्तव्यं कार्यं" लिख कर भूल में ही रहे ॥

हां, सर्वज्ञनारायण टीकाकार का ध्यान "कृत्य" शब्द के योगरूढ अर्थ पर पहुंचा, उन्होंने "कृत्येषु लुब्धभीतावमानितेषु" अर्थ लिखा। तथा नन्दन टीकाकार ने भी "कृत्येषु स्वराज्ञा भेद्येषु परपक्षस्थेषु पुरुषेषु" लिख कर राजनीतिज्ञान का परिचय दिया है ॥

नवीन काल के पुस्तक "मुद्राराक्षस" में भी "कृत्य" शब्द योगरूढि प्रयुक्त हुवा है। यथा-

कृत-कृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो
भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः ॥

मुद्राराक्षस अङ्क १ पृ० ३२। ३३ तथा उसी की टीका में लिखा है कि-

श्रीमद्यमृगयाशीलाविरत्यादि तृतीयाङ्के वक्ष्यमाण-मुत्पाद्य इतोनिःसार्य मलयकेतुना सह संधाय कृतकृत्यताम् एते वयं देवकार्येऽवहिताः स्म इत्येवंरूपाम्० ॥

इत्यादि स्थलों पर "कृत्य" शब्द राजनैतिक योगरूढ पाया जाता है। 'कृत्य"शब्द भट्टी और कामन्दकीय नीतिसार आदि ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है) ॥६७॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

शत्रु राजा की सब इच्छाओं को ठीक ठीक जान कर वैसा प्रयत्न करे जिस से (वह) अपने को पीड़ा न दे सके ॥ ६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्। रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जङ्गल, जहां थोड़ा घास और पानी भी हो, धान्य बहुत हो, अच्छे शिष्ट आर्य पुरुष निवास करते हों और रोगादि उपद्रवों से रहित हो, देखने में मनोहर और जिस के पास अच्छे वृक्ष पक्षी खेती और बाज़ार हों, ऐसे देश में रहे॥६९॥ जहां धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग हों, ऐसे किसी दुर्ग का आश्रय करके पुर बसावे ( जहां धनुषों वा भूमि की बनावट वा जल वा वृक्ष वा सेना वा पहाड़ों का ऐसा घेरा हो जिसे दुर्ग [ क़िला ] कह सकें। जहां शत्रु को आना कठिन हो ) ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्। एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः। त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

अर्थ—सब दुर्गों में पहाड़ी दुर्ग श्रेष्ठ है, इस लिये सब प्रयत्नों से उस का आश्रय करे। क्योंकि इस में सब से अधिक गुण हैं ॥७१॥ ( इन छः प्रकार के दुर्गों से छः प्रकार के प्राणी अपने को बचा लेते हैं जैसा कि-) इन में से पहिले ३ दुर्गों में क्रम से धनुर्दुर्ग में मृग, महीदुर्ग में मूंसे आदि, जलदुर्ग में अप्सर=जलचर। अगले ३ में से वृक्षदुर्ग में वानर, नृदुर्ग में साधारण मनुष्य और पहाड़ीदुर्ग में पर्वतवासी देवजाति रहते (और अपनी रक्षा करते) हैं ॥७२॥

यथादुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः। तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः। शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ—जैसे इन दुर्गवासियों को शत्रु पीड़ा नहीं दे सकते, वैसे ही दुर्ग के आश्रय करने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥७३॥ क़िले के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर—सौ के साथ लड़ सकता है और सौ—दश हज़ार के साथ लड़ सकते हैं, इस लिये क़िला बनाया जाता है ॥

( ७४ वें से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:—

[ मन्दरस्यापि शिखरं निर्मनुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ] ॥

स्वायंभुव मनु ने कहा है कि दुर्गों में दुर्ग मनुष्यों का दुर्ग है क्योंकि मन्दराचल (पर्वत) का शिखर भी मनुष्यों से रहित होता तो शत्रु उसे शेष न छोड़ते) ॥७४॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः। ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः। गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-वह दुर्ग आयुध (शस्त्रादि), धन, धान्य, वाहनों, ब्राह्मणों, कलों के जानने वालों, कलों, चारा, जल और इन्धन से समृद्ध हो (९ पुस्तकों में उदकेन च=उदकेन्धनैः। पाठ है) ॥७५॥ उस क़िले के भीतर पर्याप्त (स्त्रीगृह, देवागार, आयुधमन्दिर, अग्निशालादि) और भित्तियों से रक्षित और सब ऋतुओं के फल पुष्पादि युक्त और सफ़ेदी किया हुआ तथा जल और वृक्षों से युक्त अपना घर बनावे ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥७७॥ पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्। तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥७८॥

अर्थ-उस घर में रहकर अपनी सवर्णा शुभलक्षणयुक्त बड़े कुल में उत्पन्न हुई मन प्रसन्न करने वाली तथा रूप और गुणों से युक्ता भार्या को विवाहे ॥७७॥ पुरोहित और ऋत्विज् का वरण करे, वे इस के गृह्यकर्म (अग्निहोत्र) और शान्त्यादि किया करें (इन को भी क़िले में रक्खे) ॥ ७८ ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः। धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥७९॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम्। स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृपु ॥ ८० ॥

अर्थ-राजा नाना प्रकार के बहुत दक्षिणा वाले (अश्वमेधादि) यज्ञ करे और ब्राह्मणों को भोग और सुवर्णवस्त्रादि धन धर्मार्थ देवे ॥७९। राज्य से प्रामाणिकों द्वारा वार्षिक बलि (मालगुज़ारी) उगहावे और लोक में शास्त्रानुकूल चलने में तत्पर हो, प्रजा में पिता के सा वर्ते ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥ आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्। नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥८२॥

अर्थ-नाना प्रकार के कामों को देखने वाले अध्यक्ष (अफ़सर) उन २ कामों में नियत करे, वे राजा के सब काम करने वालों के काम को देखें ॥ ८१॥ गुरुकुल से आये हुवे ब्राह्मणों का (धन धान्यों से) पूजन किया करे, राजाओं की यह ब्राह्मनिधि अक्षय कही है ( अर्थात् देने से कभी नहीं होती ) ॥ ८२॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति। तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥८३॥ न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्। वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥८४॥

अर्थ-उस ( ब्राह्मणार्थ दिये हुवे ) निधि को चोर नहीं चुरा सकते और शत्रु नष्ट नहीं कर सकते, इस लिये राजा ब्राह्मणों में अक्षय निधि जमा करे॥ ८३॥ अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है और कभी नष्ट हो जाता है, परन्तु ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है उस में ये दोष नहीं होते। इस लिये अग्निहोत्रों से ( उक्त ) ब्राह्मण को देना श्रेष्ठ है ॥ ८४ ॥

"सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥"
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ-"क्षत्रियादि को देने में बराबर फल होता है (अर्थात् न्यूनाधिक नहीं), ( जो क्रियारहित ) अपने को ब्राह्मण कहता है, उस को देने में दूना और पढ़े हुवे को देने में १ लक्षगुणा और पूर्ण वेद पढ़े ब्राह्मण को देने से अनन्त फल होता है॥" ( यह नाममात्र के ब्राह्मणब्रुवों ने बनाया जान पड़ता है ) ॥८५॥ वेदाध्ययनादि पात्र के विशेष से और श्रद्धा की अतिशयता के अनुसार थोड़ा वा बहुत परलोक में दान का फल मिलता है ॥

(८६ वें से आगे दो श्लोक हैं, जिन में से पहिला ३ पुस्तकों और दूसरा १ पुस्तक और मेधातिथि के तथा राघवानन्दी टीके में पाया जाता है:-

[एष एव परोधर्मः कृत्स्नोराज्ञ उदाहृतः । जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ १॥ देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्। पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम्॥२॥]

राजा का सारा परम धर्म यही है कि संग्राम से धन जीत कर द्विजों को बांट दे ॥ १ ॥ देशकाल के विधान से श्रद्धासहित द्रव्य जो कुछ पात्र को दिया जाता है वह धर्म का श्रृङ्गार है ॥ २ ॥ यह दानपात्र द्विजों ने पीछे से बढ़ा दिये जान पड़ते हैं जो कि सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, न सब की टीका इन पर है और आश्चर्य नहीं कि ८३ । ८४ वें भी इन्हीं दानपात्रों ने बनाये हों ) ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमैराजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः। ननिवर्तेतसंग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥८७॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥

अर्थ-प्रजा का पालन करता हुवा राजा, सम उत्तम वा हीन शत्रु के साथ बुलाने पर क्षत्रियधर्म को स्मरण करता हुवा युद्ध से न हटे ॥ ८७ ॥ संग्राम से न भागना और प्रजा का पालन करना तथा ब्राह्मणों की सेवा; ये राजा के परम कल्याण करने वाले कर्म हैं ॥ ८८ ॥

आहवेषुमिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तोमहीक्षितः । युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ८९ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानोरणेरिपून् । नकर्णिभिर्नापिदिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ९०

अर्थ-संग्रामों में एक को एक मारने की इच्छा करते हुवे राजा लोग परम शक्ति से लड़ते हुवे पीछे न हटने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ लड़ता हुवा रण में शत्रुओं को कूट ( छिपे ) आयुधों से न मारे और कर्णी ( बाण जो फिर निकलने कठिन हों ) उन से और विष में बुझाये हुवों तथा जलतों से भी न मारे ॥ ( पूर्व श्लोकों में योद्धा को स्वर्गप्राप्ति कही थी, अब उस संग्राम के ऐसे नियमों का वर्णन है जो अदृष्टार्थ हैं अर्थात् जिन नियमों से लड़ने वालों को मानुषी स्वाभाविक अक्रूरता से लड़ते हुवे अदृष्ट पारलौकिक फल मिल सकता है क्योंकि केवल राज्यलोभार्थ जैसे बने वैसे जीत कर लेने वाले स्वार्थी योद्धा उत्तम गति के अधिकारी नहीं हो सकते)॥९०॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥९१॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

अर्थ-( रथ से उतरे ) भूमि पर स्थित को न मारे, न नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुवे को, न सिर के बाल खुले हुवे को, न बैठे हुवे को और न "तुम्हारा हूं" ऐसे कहते को ( मारे ) ॥९१॥ न सोते को, न कवच उतारे हुवे को, न नङ्गे को, न बे हथियार को, न ग्रलड़ने वाले को, न (तमाशा) देखने वाले को और न दूसरे से समागन करने वाले को ( मारे ) ॥९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्। न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः। भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

अर्थ-न टूटे आयुध वाले को, न ( पुत्रादि मरने से ) आर्त को, न जिस के बहुत घाव हुवे हों उस को, न डरपोक को और न भागने वाले को, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ ( मारे )॥ ९३ ॥ जो योद्धा युद्ध में डर कर पीछे हटा हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है उस सब को पाता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्। भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥९५॥रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः। सर्वद्रव्याणि कुप्यं च योयज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

अर्थ-पीछे हटके मरे का जो कुछ परलोक के लिये उपार्जन किया हुआ सुकृत है वह सम्पूर्ण स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥ रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन धान्य, ( बैल आदि ) पशु, स्त्रियों और सब द्रव्यों तथा घृत, तैलादि; (इन में से ) जो जिस को जीते वह उस का है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्योदातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

अर्थ-( लूट में से ) उत्तम धन और वाहनादि राजा को देवें, यह वेदों से सुना है। साथ मिलकर जीती वस्तु विभागपूर्वक राजा सब योद्धों को देदेवे ॥ ( ९७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[भृत्येभ्योविभजेदर्थान्नैकः सर्वहरोभवेत।
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥ ]

(राजा) नौकरों को धन बांट दे, अकेला ही सब न लेले। क्योंकि राजा को तौ छत्र और नाममात्र से प्रसन्न होना चाहिये ) ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तोयोधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियोघ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

अर्थ—यह सनातन अनुपस्कृत=अनिन्दित योद्धाओं का धर्म कहा। रण में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म को न छोड़े ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।रक्षितं वर्धयेच्चैववृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥९९॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्। अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो नहीं मिला है, उस के लेने की इच्छा करे, मिले हुवे की प्रयत्न से रक्षा करे और जो रक्षित है, उस को बढ़ावे और बढ़े को अच्छे योग्य पात्रों को देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकार का पुरुषार्थ प्रयोजन जाने। आलस्यरहित होकर नित्य अच्छे प्रकार इस का अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया। रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः। नित्यं संवृतसर्वार्थोनित्यं छिद्रानुसार्यरेः॥१०२॥

अर्थ—जो नहीं प्राप्त है, उस को दण्ड से ( जीतने की ) इच्छा करे और प्राप्त की देखने से रक्षा करे और रक्षित को व्यापार से बढ़ावे और बढ़े को दान से जमा कर देवे ॥ १०१ ॥ सदा दण्ड को उद्यत रक्खे और सदा फैले पुरुषार्थ वाला रहे और सदा अपने सम्पूर्ण अर्थों को गुप्त रक्खे और शत्रु के छिद्रों को सदा देखे॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजतेजगत्। तस्मात्सर्वाणिभूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥१०३॥ अमाययैव वर्त्तेत न कथञ्चन मायया। बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥

अर्थ—नित्य उद्यत दण्ड वाले राजा से सम्पूर्ण जगत डरता है, इस लिये दण्ड ही से सम्पूर्ण जीवों को स्वाधीन करे ॥१०३॥ छल से रहित व्यवहार

करे, किसी प्रकार छल से न करे और अपनी रक्षा करता हुवा शत्रु के किये छल को जानता रहे ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परोविद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

अर्थ-( ऐसा यत्न करे कि जिस में ) अपने छिद्रों को शत्रु न जाने, परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जाने । कछवे के समान राजा अपने (राज्यसम्बन्धी) अङ्गों को गुप्त रक्खे और अपने छिद्र का संरक्षण करे ॥ ( १०५ में आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ ]

अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर अति विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से काट देता है ) ॥ १०५ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ-बगला सा अर्थों ( प्रयोजनों ) का चिन्तन करे और सिंह सा पराक्रम करे और वृक सा मारडाले और शश सा भाग जावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥१०७॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः । दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥१०८॥

अर्थ-इस प्रकार विजय करने वाले राजा के जो विरोधी हों, उन को सामादि उपायों से वश में करे ॥१०७॥ यदि प्रथम के तीन (साम दान भेद) उपायों से न माने तो दण्ड से ही बल करके क्रम से वश में लावे ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः। सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥१०९॥ यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति। तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः॥११०

अर्थ-पण्डित लोग सामादि चार उपायों में सदा राज्य की वृद्धि के लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥ १०९ ॥ जैसे खेती नलाने वाला धान्यों की रक्षा करता है और तृण को उखेड़ डालता है, वैसे ही राजा राष्ट्र की रक्षा और विरुद्ध चलने वालों का नाश करे ॥ ११० ॥

मोहाद्राजास्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया। सोऽचिराद्भ्रश्यतेराज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥१११॥शरीरकर्षणात्प्राणाःक्षीयन्ते प्राणिनां यथा।तथाराज्ञामपिप्राणाःक्षीयन्तेराष्ट्रकर्षणात् ११२

अर्थ-जो राजा अज्ञान से विना विचारे अपने राज्य को दुःख देता है वह शीघ्र ही राज्य तथा जीवन और बान्धवों से भ्रष्ट हो जाता है ॥१११॥ जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं, वैसे राजाओं के भी प्राण राष्ट्र को पीड़ा देने से क्षीण होते हैं ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्। सुसंगृहीतराष्ट्रोहि पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्। तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥

अर्थ-राज्य के संग्रहार्थ यह उपाय ( जो आगे कहते हैं ) करे, क्योंकि अच्छे प्रकार सुरक्षित राष्ट्र वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता है ॥११३॥ दो, तीन, पांच तथा सौ ग्रामों के बीच में संग्रह करने वाले पुरुषों का समूह स्थापन करे। ( अर्थात् कलक्टरी इत्यादि राष्ट्र के स्थानों का स्थापन करे ) ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा। विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैःस्वयम्। शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशोविंशतीशिनम्॥११६॥ विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्। शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥११७॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥११८॥

अर्थ-एक गांव का अधिपति नियत करे, वैसे ही दश गांव का, और बीस का, और सौ का, तथा हज़ार का ॥ ११५ ॥ ग्रामाधीश उत्पन्न हुवे

ग्रामों के दोषों को आप धीरे से जान कर ( अपने योग्य न समझे ) तौ दश ग्राम के अधिपति को सूचित करे। इसी प्रकार दश ग्राम वाला बीस ग्राम वाले को ॥ ११६ ॥ और बीस वाला यह सब सौ वाले को और सौ वाला हज़ार वाले को स्वयं सूचित करे ॥ ११७ ॥ और अन्न पान इन्धनादि जो ग्रामवासियों को प्रतिदिन देने योग्य हों उन को उस २ ग्राम पर नियत राजपुरुष ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च। ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥११९॥ तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि। राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०॥

अर्थ-(छः बैल का एक मध्यम हल, ऐसे दो हलों से जितनी पृथिवी जोती जाय उस को "कुल" कहते हैं) दश ग्राम वाला एक 'कुल" का भोग ग्रहण करे। और बीस गांव वाला पांच कुल का। और सौ ग्राम वाला एक मध्यम ग्राम तथा हज़ार गांव वाला एक मध्यम नगर का भोग ग्रहण करे (अर्थात् यह २ उन २ की जीविका हो ) ॥११९॥ उन के ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य कामों को एक प्रीति वाला राजा का ( प्रतिनिधि ) मन्त्री आलस्यरहित होकर देखे ॥१२०॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्। उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१२१॥ सताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

अर्थ–प्रति नगर में एक एक बड़े कुल का प्रधान, सेना आदि से भय का दे सकने वाला और तारों में ( शुक्रादि ) ग्रह सा तेजस्वी, कार्य का द्रष्टा नगराधिपति नियत करे ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सर्वदा आप उन सब ग्रामाधिपतियों के ऊपर दौरा करे और राष्ट्र में उन के समाचारों को उस विषय में नियुक्त दूतों से जाने ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः। भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४॥

अर्थ-क्योंकि रक्षा के लिये नियत राजा के नौकर प्रायः दूसरों के द्रव्य को हरण करने वाले और वञ्चक होते हैं। राजा उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १२३ ॥ जो पापबुद्धि कार्यार्थियों से द्रव्य ही ग्रहण करते हैं उन को राजा सर्वस्व हरण करके देश के बाहर निकाल देवे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च। प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥१२५॥पणोदेयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्। षाण्मासिकस्तथाच्छादोधान्यद्रोणस्तु मासिकः॥१२६॥

अर्थ-राजा के काम में नियुक्त स्त्रियों और काम करने वाले पुरुषों की उन के कर्म के अनुसार पदवी और वृत्ति सदा नियत किया करे ( अर्थात् वेतन में घटी वा वृद्धि आदि करे ) ॥ १२५ ॥ निकृष्ट चाकर को वेतन एक पण ( जो आगे कहेंगे ) देवे और छः महीने में दो कपड़े और एक महीने में द्रोण भर धान्य देवे और उत्कृष्ट=उत्तम काम वाले को छः गुणा देवे ( मध्यम को तिगुणा समझलो ॥ ५ पुस्तकों में वेतनं=भक्तकम्, पाठ है ) ॥१२६॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान् ॥१२७॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्। तथावेक्ष्य नृपोराष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥

अर्थ-बेचना ख़रीदना और रास्ते के ख़र्च, रक्षादि के ख़र्च, और उन के निर्वाह को देख कर बनियों से कर दिवावे ॥ १२७ ॥ कामों के करने वाले और राजा, दोनों को फल अच्छा रहे, ऐसा विचार कर सदा राज्य में कर ( टैक्स ) लगावे ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः। तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्योराष्ट्राद्राज्ञाब्दिकःकरः॥१२९ पञ्चाशद्भाग आदेयोराज्ञा पशुहिरण्ययोः। धान्यानामष्टमोभागःषष्ठोद्वादशएववा॥१३०॥

अर्थ-जैसे जोक, बछड़ा और भौंरा धीरे २ अपनी ख़ुराक को खींचते हैं, वैसे राजा भी थोड़ा २ करके राष्ट्र से वार्षिक कर ग्रहण करे ( अर्थात् थोड़ा कर लेवे, उजाड़ न दे ) ॥१२९॥ पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग और धान्य का आठवां वा छठा वा बारहवां भाग ( पैदावार के श्रम को देख कर ) राजा ग्रहण करे ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥१३१॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च। मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

अर्थ—वृक्ष 'मांस' मधु घृत गन्ध ओषधि रस पुष्प मूल फल और—॥ १३१ ॥ पत्र शाक तृण चर्म और मिट्टी वा पत्थर की चीज़ों की आमदनी का छठा भाग लेवे ( दो पुस्तकों में द्रुमांस=द्रुमाणां, पाठ है ) ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् १३३ यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा। तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥१३४॥

अर्थ—मरता हुवा भी राजा, श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे और इस के राज्य में रहता हुआ श्रोत्रिय क्षुधासे पीड़ित न हो ॥ १३३ ॥ जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) क्षुधा से पीड़ित होता है उस की क्षुधा से उस राजा का राज्य भी थोड़े ही दिनों में बैठ जाता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्। संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१३५॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्ममन्वहम्। तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

अर्थ—राजा इसका वेदाध्ययनपूर्वक कर्मानुष्ठान जानकर धर्मयुक्त जीविका नियत कर देवे और सब प्रकार इस की रक्षा करे। जैसे पिता औरस पुत्र की (रक्षा करता है)॥१३५॥ क्योंकि राजा से रक्षा किया हुवा यह (श्रोत्रिय) नित्य धर्म करता है, उस पुण्य से राजा की आयु, धन और राज्य बढ़ता है ॥१३६॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्। व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१३७॥ कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः। एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥

अर्थ—राजा अपने राज्य में व्यापार वाले से भी कुछ वार्षिक थोड़ा सा कर दिलावे ॥ १३७ ॥ लोहार बढ़ई आदि और दासों से राजा महीने में एक २ काम ( राजकर के बदले ) करावे ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनोमूलं परेषां चातितृष्णया।उच्छिन्दन्ह्यात्मनोमूलमात्मानंतांश्चपीडयेत्॥१३९॥तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चस्यात्कार्यं वीक्ष्यमहीपतिः।तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः॥१४०॥

अर्थ—( प्रजा के स्नेह से अपना कर न लेना ) अपना मूलच्छेद और लालच से (बहुत कर ग्रहण करना) औरों का मूलच्छेद (है)। ये दोनों काम राजा न करे, अपना मूलच्छेद करता हुवा ( कोश के क्षीण होने से ) आप क्लेश को प्राप्त होगा और (अधिक कर ग्रहण करने से ) प्रजा क्लेश को प्राप्त होगी ॥ १३९ ॥ राजा काम को देख कर न्यायानुसार तीक्ष्ण और नम्र हो जाया करे क्योंकि इस प्रकार का राजा सब के संमत होता है ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्। स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नःकार्येक्षणे नृणाम्॥१४१॥ एवं सर्वं विधायेदमिति कर्त्तव्यमात्मनः।युक्तश्चैवाऽप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाःप्रजाः॥१४२।

अर्थ—आप मनुष्यों के कामों के देखने में खिन्न ( रोगादिवश मुक़दमों को न देख सकता) हो तो मुख्य मन्त्री जो धर्म का जानने वाला बुद्धिमान् जितेन्द्रिय और कुलीन हो, उस को उस जगह मनुष्यों के काम देखने पर योजना करे ॥१४१॥ अपने संपूर्ण कर्त्तव्य को इस प्रकार पूरा करके प्रमाद-रहित और युक्त राजा इन प्रजाओं की सब से रक्षा करे ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्योयस्यराष्ट्राद्ध्रियन्तेदस्युभिःप्रजाः।संपश्यतःसभृत्यस्य मृतःस न तु जीवति॥१४३॥क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम्। निर्दिष्टफलभोक्ताहि राजा धर्मेण युज्यते॥१४४॥

अर्थ—भृत्यों के सहित जिस राजा के देखते हुवे चिल्लाती हुई प्रजा चोरों से लूटी जाती हैं, वह राजा जीता नहीं किन्तु मरा है ॥ १४३ ॥ प्रजा का पालन ही क्षत्रिय का परम धर्म है। इस लिये अपने धर्म ही से राजा को फलभोग करना ठीक है ॥ १४४ ॥

उत्थायपश्चिमेयामे कृतशौचःसमाहितः।हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्सशुभांसभाम्॥ १४५॥ तत्रस्थितःप्रजाःसर्वाःप्रतिनन्द्य विसर्जयेत्। विसृज्य च प्रजाः सर्वामन्त्रयेत्सहमन्त्रिभिः॥१४६॥

अर्थ-( राजा ) पहरभर के तड़के उठ कर शौच (मुखमार्जन स्नानादि) कर, एकाग्रचित्त हो, अग्निहोत्र और ब्राह्मणों का पूजन करके सुन्दर सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥ उस सभा में स्थित संपूर्ण प्रजा को निवटेरे से प्रसन्न करके विसर्जन करे, अनन्तर मन्त्रियों से ( राजसम्बन्धी सन्धिविग्रहादि ) मन्त्र ( सलाह ) करे ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः। अरण्येनिःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोपिपार्थिवः॥१४८

अर्थ-पर्वत पर चढ़ कर वा एकान्त घर में वा वृक्षरहित वन में वा एकान्त में, जहां भेद लेने वाले न पहुंच सकें, मन्त्र करे ॥ १४७ ॥ जिस के मन्त्र को मिल कर अन्य मनुष्य नहीं जान पाते, वह कोशहीन राजा भी सम्पूर्ण पृथिवी को भोगता है ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान्।स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥१४९॥ भिन्दन्त्यवमतामन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च।स्त्रियश्चैवविशेषेण तस्मात्तत्राद्दृतोभवेत्॥१५०॥

अर्थ-जड़ मूक अन्ध बधिर पक्षी आदि, वृद्ध स्त्री म्लेच्छ रोगी और विकृत अङ्ग वालों को मन्त्र के समय में (वहां से) हटा देवे ॥१४९॥ पूर्वोक्त जड़ादि अपमान को प्राप्त हुवे मन्त्रभेद कर देते हैं। ऐसे ही शुक सारिकादि पक्षी और विशेष करके स्त्री मन्त्रभेदक हैं। इस लिये उन को ( अपमान न करे ) आदरपूर्वक हटादेवे ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेर्धरात्रेवा विश्रान्तोविगतक्लमः।चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेकएव वा ॥१५१॥ परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्। कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ-दोपहर दिन में वा अर्धरात्रि में चित्त के खेद और शरीर के क्लेश से रहित हुआ मन्त्रियों के साथ वा अकेला धर्म अर्थ काम का चिन्तन करे ॥ १५१ ॥ यदि धर्म अर्थ काम परस्पर विरुद्ध हों तौ इन के विरोधदोष के परिहार द्वारा उपार्जन और कन्याओं के दान और पुत्रों के रक्षण शिक्षणादि ( का चिन्तन करे ) ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च। अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥ कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः। अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

अर्थ-परराज्य में दूत भेजने और शेष कामों तथा अन्तःपुर अर्थात् महल में जो प्रचार हो रहा है उस का और प्रतिनिधियों के काम का (विचार करे) ॥१५३॥ सम्पूर्ण अष्टविधकर्म और पञ्चवर्ग का तत्त्व से विचार करे और अमात्यादि के अनुराग विराग को जाने और मण्डल के प्रचार (कौन लड़ना चाहता है और कौन सुलह करना चाहता है) को विचारे। (यहां आठ प्रकार के या पांच प्रकार के कामों की गिनती नहीं लिखी है इस लिये हम मेधातिथि के भाष्य से उद्धृत करके उशनःस्मृति के श्लोकों को सार्थ लिखना उचित समझते हैं:-

[ आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥
दण्डशुद्ध्योस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिकोनृपः। ]

भेंट वा कर लेना, वेतन वा पारितोषिकादि देना, दुष्टों को त्यागना=पृथक् करना, अधिकारियों के मतभेद का स्वीकार न करना (या विधि और निषेध), बुरी प्रवृत्तियों को नाहीं करना (अपील में रद्द करना), व्यवहार पर दृष्टि, अपराधियों को दण्ड और पराजितों की भूल के प्रायश्चित्त करना, ये आठ हैं॥ और दूसरे प्रकार से भी मेधातिथि ने गणना की है। यथा-व्यापार, पुल बांधना, क़िले बनवाना, उन की स्वच्छता का ध्यान, हाथी पकड़ना, खानि खोदना, जङ्गलों को बसाना और वन कटवाना॥८॥ अन्य भी कई प्रकार से भाष्यकारों ने गणना की है॥ अब पांच की गणना सुनिये-कोई तो मानते हैं कि १ कर्मारम्भोपाय २ पुरुषसंपत्ति ३ हानि का प्रतिकार ४ देश काल का विभाग ५ कार्यसिद्धि। और कोई कहते हैं कि १ कापटिक २ उदासीन ३ वैदेह ४ गृहपति ५ तापस; ये ५ प्रकार के बनावटी साधु वेष बनाये अन्य राजों की ओर से अन्य राजों का भेद जानने को फिरा करते हैं, उन के लिये वैसे ही अपने यहां रक्खे॥ इसी भाव के २ श्लोक नन्दन की टीका में मिलते हैं:-

[वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः। परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरंपराः॥ परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः। चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चारूढसंज्ञिताः ] ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्चचेष्टितम् । उदासीनप्रचारंच शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥ एताःप्रकृतयोमूलं मण्डलस्य समासतः । अष्टौचान्याःसमाख्याता द्वादशैव तु ताःस्मृताः ॥ १५६ ॥

अर्थ–१ मध्यम, २ जीतने की इच्छा करने वाले, ३ उदासीन और ४ शत्रु के प्रचार को प्रयत्न से ( राजा विचारे ) ॥ १५५ ॥ ये चार प्रकृतियां संक्षेप से मण्डल की मूल हैं और आठ अन्य कही गई हैं ( इन ४ के मित्र ४ और ४ के शत्रु ४=८ ) ये सब बारह हैं ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोःपरम् ॥ १५८ ॥

अर्थ–अमात्य देश दुर्ग कोश और दण्ड; ये पांच और भी (प्रकृति) हैं। पूर्वोक्त मूल प्रकृति चार और शाखा प्रकृति आठ, ऐसे ) बारह की पांच २ प्रत्येक की प्रकृति हैं ( ये मिलकर साठ होती हैं और वे मूल बारह मिला कर ) संक्षेप से बहत्तर होती हैं ॥१५७॥ शत्रु और शत्रु के सेवियों को समीप ही जाने । उस के अनन्तर मित्र को जाने । पश्चात् उदासीन को अर्थात् इन पर उत्तरोत्तर दृष्टि रक्खे ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । व्यस्तैश्चैवसमस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥ सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च । द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

अर्थ–उन सब को सामादि उपायों से वश में करे । एक एक उपाय से या सब से और पुरुषार्थ तथा नीति से (वश में करे) ॥१५९॥ १ मेल, २ लड़ाई ३ शत्रु पर चढ़ जाना, ४ उस की राह देखना, ५ अपने दो भाग कर लेना और ६ दूसरे का आश्रय कर लेना; इन छः गुणों को सर्वदा विचारे ॥१६०॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च । कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१६१॥ सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजाविग्रहमेव च । उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अर्थ—आसन यान सन्धि विग्रह द्वैध और आश्रय; इन गुणों को अवसर देख कर जब जैसा उचित हो तब वैसा करे ॥ १६१ ॥ सन्धि दो प्रकार की जाने और विग्रह भी दो प्रकार का। यान, आसन और संश्रय भी दो दोप्रकार के हैं ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च। तदात्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयोद्विलक्षणः ॥१६३॥ स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकालेकाल एव वा। मित्रस्य चैवापकृते द्विविधोविग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

अर्थ—तत्काल वा आगामी समय के फल लाभ के लिये, जहां दूसरे राजा के साथ किसी और राजा पर चढ़ाई की जाती है उस को) "समानयान-कर्मा" सन्धि और ( "हम इस पर चढ़ाई करगे, तुम उस पर करो" इस प्रकार मेल करके दो भिन्न २ राज्यों पर चढ़ाई करने के लिये जो मेल किया जाता है उस को ) "असमानयानकर्मा" कहते हैं, इन दो को दो प्रकार की सन्धि जाने ॥ १६३ ॥ शत्रु के जयरूप कार्य के लिये ( शत्रु के व्यसनादि जान कर उचित मार्गशीर्षादि ) काल में वा विना काल में स्वयं युद्ध करना, एक विग्रह और अपने मित्र के अपकार होने से (उस की रक्षा को) जो युद्ध है सो दूसरा है, ( ऐसे ) दो प्रकार का विग्रह कहा है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया। संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्व कृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥

अर्थ—दैवयोग से अत्यावश्यक कार्य में अकेला शत्रु पर चढ़ाई करना या मित्र के साथ होकर शत्रु पर चढ़ाई करना, यह दो प्रकार का "यान" ( धावा ) है ॥ १६५ ॥ पूर्व जन्म के दुष्कृत से वा यहीं की बुराई से क्षीण राजा का चुप चाप बैठा रहना १ आसन है और मित्र के अनुरोध से चुप चाप बैठे रहना २ दूसरा, ये दो प्रकार के आसन कहे हैं ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये। द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥ अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः। साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१६८॥

अर्थ—अर्थसिद्धि के लिये कुछ सेना को एक स्थान पर स्थापित करके शेष सेना के साथ राजा दुर्ग में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध षड्गुणज्ञ लोग कहते

हैं ॥१६७॥ शत्रुओं से पीड़ित राजा को प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी का शरण लेना और सज्जनों के साथ व्यपदेश के लिये शरण लेना (अर्थात् विना शत्रु पीड़ा भी किसी बड़े राजा के आश्रय रहना, जिस से अन्य राजों को उस बड़े के आश्रय का भय रहे ) ऐसे दो प्रकार का संश्रय कहा है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः। तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत्॥१६९॥यदाप्रकृष्टामन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।अत्युच्छ्रितंतथात्मानं तदा कुर्वीतविग्रहम्।१७०।

अर्थ—जब भविष्यत्काल में निश्चय अपना आधिक्य जाने और वर्त्तमान समय में अल्पपीड़ा देख पड़े, उस समय में सन्धि का आश्रय करे ॥१६९॥ जब ( अमात्यादि ) सब प्रकृति अत्यन्त बढ़ी हुई (उन्नत) जाने और अपने को अत्यन्त बलिष्ठ देखे तब विग्रह करे ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्। परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति॥१७१॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणोवाहनेन बलेन च। तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

अर्थ—जब अपनी सेना हर्षयुक्त और ( द्रव्यादि से) पुष्ट प्रतीत हो और शत्रु की निर्बल हो, तब शत्रु के सामने जावे ॥१७१॥ परन्तु जब वाहन और बल से आप क्षीण हो, तब धीरे २ शत्रुओं को प्रयत्न से शान्त करता हुवा आसन पर ठहरा रहे ॥ १७२ ॥

मन्येतारिंयदाराजा सर्वथाबलवत्तरम्।तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥१७३॥ यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्। तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

अर्थ—जब लड़ाई में राजा शत्रुओं को सर्वथा अतिबलवान् समझे तब कुछ सेना के साथ आप क़िले का आश्रय करे और कुछ सेना लड़ने को मोरचों पर रक्खे, इन दोनों प्रकार से अपना कार्य साधे ॥१७३॥ जब शत्रु सेना की बहुत चढ़ाई हो ( और आप क़िले के आश्रय से भी न बच सके) तब शीघ्र किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय ( पनाह) लेवे ॥ १७४ ॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च । उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१७५॥ यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् । सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ-जो मित्र, प्रकृतियों का और अपने शत्रुओं के बल का निग्रह करे, उस का सदा सम्पूर्ण यत्नों से गुरुवत सेवन करे ॥१७५॥ परन्तु यदि आश्रय किये जाने से भी दोष देखे ( अर्थात् उस में भी कुछ धोका समझे ) तब उस के साथ भी निःशङ्क होकर युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथाकुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः। यथास्याभ्यधिका नस्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥१७७॥ आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।अतीतानांचसर्वेषां गुणदोषौचतत्त्वतः ॥१७८॥

अर्थ नीति का जानने वाला राजा सामादि सब उपायों से ऐसा करे कि जिस में उस के मित्र उदासीन और शत्रु बहुत न होवें ॥१७७॥ सम्पूर्ण भावी गुण दोष और वर्त्तमान समय के कर्त्तव्य और सब व्यतीत हुवों को भी विचारे कि ठीक २ किस २ में क्या २ गुण दोष निकले ॥ १७८ ॥

आयत्यांगुणदोषज्ञस्तदात्वेक्षिप्रनिश्चयः। अतीतेकार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीन शत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिकोनयः ॥१८०॥

अर्थ-जो होने वाले कार्यों के गुण दोष को जानने वाला ( अच्छे का प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है ) और उस समय के गुण दोषों को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और हुवे कार्यों के शेष कर्त्तव्य का जानने वाला है, वह शत्रु से नहीं दबता॥ १७९ ॥ जिस में मित्र उदासीन और शत्रु अपने को दबाने न पावें, वैसे सब विधान करे। यह संक्षेप से नीति है ॥१८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः। तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८१॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।फाल्गुनंवाऽथ चैत्रंवा मासौ प्रति यथाबलम्॥१८२॥

अर्थ—जब राजा शत्रु के राज्य में जाने को यात्रा (चढ़ाई) करे तब इस विधि से धीरे२ शत्रु के राज्य में गमन करे ( कि– ) ॥ १८१ ॥ जैसी अपनी सेना वा अन्य बल हो, तदनुसार शुभ मार्गशीर्ष अथवा फाल्गुन वा चैत्र के महीने में राजा यात्रा करे ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपितुकालेषु यदापश्येद्ध्रुवं जयम्। सदायायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥१८३॥कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च॥१८४॥

अर्थ-और दूसरे कालों में भी जब निश्चय जय समझे तब यात्रा करे, चाहे तो अपनी ओर से ही युद्ध ठान कर अथवा जब शत्रु की ओर से उप- द्रव चठे ॥ १८३ ॥ अपने राज्य और दुर्ग की रक्षा करके और यात्रासम्बन्धी ठीक ठीक विधान करके डेरा तम्बू आदि लेकर और दूतों को भले प्रकार नियत कर ( यात्रा करे ) ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्। सांपरायिक कल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८५॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरोभवेत्। गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरोरिपुः ॥१८६॥

अर्थ-(जल, स्थल, आकाश; वा ऊंचे, नीचे, सम) तीन प्रकार के मार्गों का शोधन करके और छः प्रकार का अपना बल लेकर संग्रामकल्प की विधि से धीरे २ शत्रु के नगर को यात्रा करे। ( ६ प्रकार का बल यह है–१ मार्ग रोकने वाले वृक्षादि कटवाना, २ गढ़ों को बराबर करना, ३ नदी वा झीलों के पुल बांधना वा नौकादि रखना, ४ मार्ग रोकने वालों को नष्ट करना, ५ जिन से शत्रु को सहारा मिलना सम्भव हो उन्हें अपना बनाना, ६ रसद और सेनादि तैयार रखना अथवा १ हस्त्यारोही, २ अश्वारोही, ३ रथारोही, ४ पैदल सेना, ५ कोश और ६ नौकर चाकर ) ॥१८५॥ जो मित्र छिपकर शत्रु से मिला हुवा हो और जो पहिले छुड़ाया फिर आया हुवा (नौकर) हो, इन से सचेत रहे क्योंकि ये ( दोनों शत्रुता करें तो ) बड़ा दुःख दे सक्ते हैं ॥१८६॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा। वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥१८७॥यतश्च भयमाशङ्केत्ततोविस्तारयेद्द

बलम्। पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

अर्थ-( दण्ड के आकार व्यूह की रचना दण्डव्यूह कहलाती है । ऐसे ही शकटादि व्यूह भी जानिये । उस में आगे सेना के अफ़सर, बीच में राजा, पीछे सेनापति, दोनों बगल हाथी, उन के पास घोड़े और उन के आसपास पैदल । इस प्रकार लम्बी रचना दण्डव्यूह कहाती है । ऐसे) दण्डव्यूह से मार्ग चले अथवा शकट, वराह, मकर, सूची और गरुड़ के तुल्य आकृति वाले व्यूह से ( जहां जैसा उचित समझे वहां वैसे यात्रा करे )॥१८७॥जिस ओर डर समझे उस ओर सेना बढ़ावे । सर्वदा आप ( कमलाकार ) पद्मव्यूह में रहे ॥१८८॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्। यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥१८९॥गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृत संज्ञान्समन्ततः। स्थानेयुद्धेचकुशलानभीरूनविकारिणः॥१९०॥

अर्थ-सेनापति और सेनानायकों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा में भय समझे उसे पहली (पूर्व) दिशा कल्पना करे॥१८९॥सेना के स्तम्भ के समान दृढ आप्त पुरुषों को भिन्न २ संज्ञा धरकर सब ओर स्थापित करे जो स्थान और युद्ध में प्रवीण तथा निर्भय हों और बिगड़ने वाले न हों ॥१९०॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्। सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥१९१॥स्यन्दनाश्वैःसमे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा। वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥१९२॥

अर्थ-अल्प योद्धा हों तो उन को इकट्ठा करके युद्ध करावे और बहुतों को चाहे फैलाकर लड़ावे। पूर्वोक्त सूच्याकार वा वज्राकार व्यूह से रचना करके इन से युद्ध करावे ॥ १९१ ॥ बराबर की पृथिवी पर रथों और अश्वों से युद्ध करे पानी की जगह हाथी और नावों से, वृक्ष लताओं से घिरी पृथिवी पर धनुषों और कण्टकादिरहित स्थल में खड्गचर्मादि आयुधों से ( लड़े ) ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान्। दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत्॥१९३॥प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्। चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

अर्थ—कुरुक्षेत्रनिवासी और मत्स्यदेश के निवासी तथा पाञ्चाल और शूरसेनदेशनिवासी नाटे और ऊंचे मनुष्यों को सेना के आगे करे (क्योंकि ये रणकर्कश वीर होते हैं)॥ १९३॥ व्यूह की रचना करके उन को उत्साहित करे और उन की परीक्षा करे। शत्रुओं से लड़ते हुवे भी उन की चेष्टाओं को जाने (कि कैसे लड़ते हैं)॥ १९४॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्। दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥१९५॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा। समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१९६॥

अर्थ—शत्रुओं को घेर कर देश को उच्छिन्न करे और निरन्तर घास, अन्न जल और इन्धन को नष्ट करे॥ १९५॥ तालाब और शहरपनाह और घेरे भी तोड़ डाले और शत्रु को निर्बल करे और रात्रि में कष्ट देवे॥१९६॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्। युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः॥ १९७॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८॥

अर्थ—शत्रु के मन्त्री आदि को तोड़ कर भेद लेवे। और उस के इसी काम का भेद जाने। यदि दैव सहायक हो तो निडर होकर जय की इच्छा करने वाला ऐसा युद्ध करे॥१९७॥(हो सके तो) साम, दान, भेद, इन में से एक२ से वा तीनों से शत्रु को जय करने का प्रयत्न करे, (पहले) युद्ध से कभी नहीं ॥१९८॥

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्ध्यमानयोः। पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥१९९॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे। तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा॥२००॥

अर्थ—(संग्राम में) लड़ने वालों के जय पराजय अनित्य देखे जाते हैं। इस लिये (अन्य उपायों के होते) युद्ध न करे॥ १९९॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों से जय संभव न हो तो संपन्न (हस्ती अश्वादि से युक्त) जिस प्रकार शत्रुओं को जीते, उस प्रकार लड़े॥ २००॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्। प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन

चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

अर्थ-परराज्य को जीत कर वहां देवता और धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन करे और उस देश वालों को परिहार ( लड़ाई के समय जिन दीन पुरुषों की हानि हुई हो, उन के निर्वाहार्थ) देवे और अभय की प्रसिद्धि करे ॥ २०१॥ (शत्रु राजा और ) उन सब के ( मन्त्र्यादि के ) अभिप्राय को संक्षेप से जान कर उस (शत्रु) राजा के वंश में हुवे पुत्रादि को उस गद्दी पर बैठावे और " यह करो, यह न करो" तथा उस के अन्य विषयों के नियम (अहद) स्वीकार करावे ॥२०२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान्यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैःसह ॥२०३॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ-उन के यथोदित धर्मों ( रिवाजों ) को प्रमाण करे और रत्नों से प्रधान पुरुषों के साथ उस का पूजन करे ( अर्थात् मये वज़ीरों के उस गद्दी पर बैठाये राजा को ख़िलत देवे ) ॥ २०३ ॥ यद्यपि अभिलषित पदार्थों का लेना अप्रिय और देना ( सब को ) प्रिय है । तथापि समय विशेष में लेना और देना दोनों अच्छे हैं ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥२०५॥

अर्थ-यह सम्पूर्ण कर्म दैव तथा मनुष्य के आधीन है । परन्तु उन दोनों में दैव अचिन्त्य है ( उस की चिन्ता व्यर्थ है ) इस लिये मनुष्य के अधीन अंश में कार्य किया जाता है ॥

( २०५ से आगे छहों भाष्यों में प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि का भाष्य इन ३ श्लोकों पर अधिक है जो कि अब अन्य भाष्यों वा मूल पुस्तकों में नहीं पाये जाते। प्रतीत होता है कि ये श्लोक पीछे से नष्ट होगये वा किये गये:-

[दैवेन विधिनाऽयुक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्त्तते । परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १ ॥ संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् । विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥ २ ॥ चन्द्रार्कोद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च । इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

जब कभी दैव की विमुखता में पुरुषार्थ किया जाता है, तब भी अधिक कष्ट उठाने से काम बन ही जाता है॥१॥ और दैव की अनुकूलता में पुरुषार्थ न किया जाय तो जैसे बोया हुवा ही बीज खेती से मिलता है, (वैसे पूर्व पुरुषार्थ का ही फल होता है)॥२॥ चन्द्र सूर्य आदि ग्रह,वायु और अग्नि तथा बादल सब संसार में यत्नपूर्वक ईश्वरीय पुरुषार्थ से ही सध रहे हैं॥३॥)॥२०५॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्॥ २०६॥

अर्थ–अथवा मित्रता, सुवर्ण, भूमि; यह तीन प्रकार का यात्रा का फल देखते हुवे उस के साथ सन्धि करके वहां से गमन करे (अर्थात् मित्रता या कुछ रुपया या भूमि लेकर उसके साथ प्रयत्न से सुलह कर चला आवे)॥ २०६॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले। मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्॥२०७॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते। यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥२०८॥

अर्थ–(जो पराये राज्य का जय करते राजा के पीछे राज्य दबाता हुवा राजा आये उस को) मण्डल में "पार्ष्णिग्राह" (कहते हैं) और (जो उस को ऐसा करने से रोके उस को) "क्रन्द" (कहते हैं) दोनों को देख कर मित्र से वा अमित्र से यात्रा का फल ग्रहण करे (ऐसा न करे जिस से पार्ष्णि ग्राह वा क्रन्द अपने से बिगड़ जावें)॥ २०७॥ राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसा (वर्त्तमान) दुर्बल भी आगामी काल में काम देने योग्य स्थिर मित्र को पाकर बढ़ता है॥ २०८॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च। अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते॥ २०९॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च। कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः॥ २१०॥

अर्थ–धर्मज्ञ, कृतज्ञ,प्रसन्नचित,प्रीति करने वाला,स्थिर कार्य का आरम्भ करने वाला, छोटा मित्र अच्छा होता है॥२०९॥ बुद्धिमान्, कुलीन,शूर,चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्य वाले शत्रु को विद्वान् लोग कठिन कहते हैं॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता। स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि। परित्यजेन्नृपोभूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२॥

अर्थ—सभ्यता, मनुष्यों की पहिचान, शूरता, कृपालुता और मोटी २ बातों पर ऊपरी लक्ष्य रखना; यह उदासीन गुणों का उदय है ॥ २११ ॥ कल्याण करने वाली, संपूर्ण धान्यों को देने वाली और पशुवृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिये विचार न करता हुवा छोड़ देवे ॥२१२॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥२१३॥ सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्। संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् बुधः ॥ २१४ ॥

अर्थ—आपत्ति(की निवृत्ति) के लिये धन की रक्षा करे और धनों से स्त्रियों की रक्षा करे और अपने को स्त्री और धनों सेभी निरन्तर रक्षित करे॥२१३॥ बहुत सी आपत्ति एक साथ उत्पन्न होती देखे तौ (उन के हटाने को)बुद्धिमान् (सामादि) सब ही उपाय अलग २ वा मिलकर करे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः। एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः। व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् २१६

अर्थ—उपाय करने वाले और उपाय के योग्य साध्य और उपाय इन तीनों का ठीक २ आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिये प्रयत्न करे ॥ २१५ ॥ उक्त प्रकार से सम्पूर्ण वृत्त को राजा मन्त्रियों के साथ विचार कर स्नान तथा (शस्त्र के अभ्यास द्वारा) व्यायाम ( कसरत ) करके मध्याह्न में भोजन को अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैःकालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥२१७॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्। विषघ्नानि च रत्नानि नियतोधारयेत्सदा ॥२१८॥

अर्थ—उस अन्तःपुर में भोजनकाल के भेद जानने वाले, टूट कर शत्रुपक्ष में न मिल जाने योग्य,अपने सेवकों के द्वारा सिद्ध कराया हुवा और (चको-

रादि पक्षियों से ) परीक्षित और विष के दूर करने वाले मन्त्रों ( गुप्त विचारों ) से शुद्ध हुवे अन्न का भोजन करे ॥ २१७ ॥ राजा के सब भोज्य द्रव्यों में विष का नाश करने वाली दवा डाले और विष के दूर करने वाले रत्नों का नियम से सदा ( राजा ) धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः। वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९॥ एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने। स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

अर्थ-परीक्षा की हुई, वेष आभूषणों से शुद्ध, एकाग्रचित्त स्त्रियां पङ्खा, पानी, धूप, गन्ध से राजा की सेवा करें ॥ २१९ ॥ इसी प्रकार का (परीक्षादि) प्रयत्न वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और सब अलङ्कारों में भी करे ॥ २२० ॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तः पुरे सह। विहृत्य तु यथाकालं पुनःकार्याणिचिन्तयेत्॥२२१॥ अलंकृतश्चसंपश्येदायुधीयं पुनर्जनम्। वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२२२॥

अर्थ-भोजन करके इसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर टहले, फिर ( राजसम्बन्धी ) कामों का विचार करे ॥ २२१ ॥ शस्त्राभूषणादि अलङ्कार धारण किये हुवे, आयुध से जीने वालों (सवार सिपाही आदि) और संपूर्ण वाहनों तथा शस्त्रों और आभूषणों को देखे ॥ २२२ ॥

संध्यांचोपास्यशृणुयादन्तर्वेश्मनिशस्त्रभृत्। रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनांचचेष्टितम्॥२२३॥गत्वाकक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्। प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः॥२२४॥

अर्थ-फिर सन्ध्योपासन करके निवासगृह के एकान्त स्थान में शस्त्र धारण किये हुवे, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों और प्रतिनिधियों के समाचार और कामों को सुने ॥२२३॥ अन्य कमरे में उन का विसर्जन कर अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ फिर से भोजन के लिये अन्तःपुर में जावे ॥ २२४ ॥

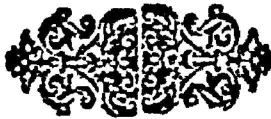
तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः। संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः। अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां) राजधर्मोनाम सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ-वहां भोजन करके फिर थोड़े गाने बजाने से प्रसन्न किया हुवा उचित काल में शयन करे, पुनः (४घड़ी के तड़के) विश्रान्त होकर उठे ॥२२५॥ रोगरहित राजा यह सब इस प्रकार से (आप ही) करे और यदि अस्वस्थ हो तो भृत्यों से यह सब कार्य करावे ॥ २२६ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥



ओ३म्

# अथाष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥१॥तत्रासीनः स्थितोवापिपाणिमुद्यम्य दक्षिणम्। विनीतवेषाभरणःपश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥२॥

अर्थ–विशेष करके नीति से सुशिक्षित राजा व्यवहारों के देखने को ब्राह्मणों और मन्त्र (सलाह) के जानने वाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करे॥१॥ विनययुक्त, वेष आभूषण धारण करके उस (सभा) में बैठा या खड़ा हुवा दाहिने हाथ को उठा कर काम वालों के कामों को देखे॥२॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक्॥३॥

अर्थ–(जो कि) अष्टादश १८ व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं, उन को देशव्यवहार और शास्त्रद्वारा समझे हुवे हेतुओं से पृथक् २ नित्य (विचारे) वे अठारह आगे कहे हैं। इस में "निबद्धानि=विविधानि" यह पाठभेद मेधातिथि ने व्याख्यात किया है। तथा एक पुस्तक में इस तीसरे श्लोक से आगे एक श्लोक यह अधिक पाया जाता है:–

[ हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति।
स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः]॥

कोई किसी की हिंसा करे वा देने योग्य न देवे, ये दो [फ़ौजदारी व दीवानी] विवाद के मुख्य स्थान हैं। फिर अष्टादश १८ प्रकार का विवाद है)॥३॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥४॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयोविवादः स्वामिपालयोः॥५॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव

स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥६॥ स्त्रीपुंधर्मोविभागश्च द्यूतमाह्वयएव च। पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह७ एषुस्थानेषुभूयिष्ठंविवादंचरतां नृणाम्।धर्मंशाश्वतमाश्रित्यकुर्यात्कार्यविनिर्णयम्

अर्थ-उन में पहिला १ ऋणाऽदान है कि ऋण लेकर न देना वा विना दिये मांगना, २ निक्षेप=धरोहर, ३ विना स्वामी होने के बेचना, ४ साझे का व्यापार, ५ दान दिये को फिर लेलेना ॥४॥ ६ नौकरी का न देना, ७ इक़रारनामें के विरुद्ध चलना, ८ ख़रीदने बेचने का झगड़ा, ९ पशु स्वामी और पशुपाल का झगड़ा ॥५॥, १० सरहद्द की लड़ाई, ११ कड़ी बात कहना, १२ मारपीट, १३ चोरी, १४ ज़बरदस्ती धनादि का हरण करना, १५ परस्त्री का ले लेना ॥६॥ १६ स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था, १७ धन का भाग, १८ जुवा और जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाव लगाना। संसार में ये अठारह व्यवहार प्रवृत्ति के स्थान हैं ॥७॥ ( इन ऋणाऽदानादि ) व्यवहारों में बहुत झगड़ने वाले पुरुषों का सनातनधर्म के अनुसार कार्यनिर्णय करे ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्। तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः। सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थितएव वा ॥१०॥

अर्थ-जब राजा आप ( किसी कारण ) कार्यदर्शन न कर सके ( अर्थात् कार्याधिक्यादि में आप सब मुक़द्दमों को न देख सके) तब विद्वान् (नीतिज्ञ) ब्राह्मण को कार्य देखने में नियुक्त करे, ॥९॥ वह ब्राह्मण तीन सभ्य पुरुषों के ही साथ, सभा में ही प्रवेश करके, एकाग्र खड़े हुवे वा बैठ कर राजा के देखने के सब कामों को देखे ॥ १० ॥

यस्मिन्देशेनिषीदन्तिविप्रावेदविदस्त्रयः। राज्ञश्चाधिकृतोविद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥११॥ धर्मोविद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते। शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥१२॥

अर्थ-जिस देश में वेदों के जानने वाले ३ ब्राह्मण ( राजद्वार में ) रहते हैं और राजा के अधिकार को पाया हुवा १ विद्वान् ब्राह्मण रहता है, उस को ब्रह्मा की सभा जानते हैं ॥ ११ ॥ जिस सभा में अधर्म से धर्म को

बींधा जाता है (उस सत्य को क्लेश देने वाले) शल्य (कांटे) को जो सभासद् नहीं निकालते, तब उसी अधर्मरूप कांटे से वे सभासद् बिंधते हैं (अर्थात् सभासद् लोग मुक़द्दमें की पेचीदगी को न निकालें तो पापभागी होते हैं। एक पुस्तक में यह पाठभेद है कि "निकृन्तन्ति विद्वांसोऽत्र सभासदः" इस पक्ष में यह अर्थ है कि उस कांटे को विद्वान् सभासद् निकालते हैं ) ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरोभवति किल्बिषी ॥ १३ ॥ यत्र धर्मोह्यऽधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥१४॥

अर्थ-या तो सभा (कचहरी) न जाना, जावे तो सच कहना। कुछ न बोले या झूठ तो मनुष्य पापी होता है। (८ पुस्तकों में "सभा वा न प्रवेष्टव्या" पाठभेद है और एक में "सभायां न प्रवेष्टव्यम्" पाठभेद भी देखा जाता है)। ॥ १३ ॥ जिस सभा में सभ्यों के देखते हुवे धर्म, अधर्म से और सच, झूंठ से नष्ट होता है, वहां के सभासद् ( उस पाप से ) नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

धर्मएव हतोहन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मोन हन्तव्यो मा नोधर्मोहतोऽवधीत् ॥१५॥ वृषोहि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१६॥

अर्थ-नष्ट हुवा धर्म ही नाश करता है और रक्षित हुवा धर्म रक्षा करता है। इस लिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये, जिस से नष्ट हुवा धर्म हमारा नाश न करे ॥ १५ ॥ भगवान् धर्म को " वृष " कहते हैं, उस को जो नष्ट करता है उस को देवता " वृषल " जानते हैं। इस लिये धर्म का लोप न करे ॥१६॥

एकएव सुहृद्धर्मोनिधनेऽप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१७॥ पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति। पादः सभासदः सर्वान् पादोराजानमृच्छति ॥१८॥

अर्थ-एक धर्म ही मित्र है, जो मरने पर भी साथ चलता है, अन्य सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥१७॥ ( दुर्व्यवहार के करने से, अधर्म के चार भाग हैं, उन में ) एक भाग अधर्म करने वाले को लगता है, दूसरा भाग झूंठा साक्ष्य देने वाले को, तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को लगता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः। एनोगच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥१९॥जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः। धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन॥२०॥

अर्थ-जिस सभा में असत्यवादी वा पापकर्त्ता की ठीक ठीक बुराई ( निन्दा ) की जाती है, वहां राजा और सभासद् निष्पाप हो जाते हैं और ( उस अधर्म ) करने वाले को ही पाप पहुंचता है॥ १९॥ जिस की जातिमात्र से जीविका है ( किन्तु वेदादि का पूर्ण ज्ञान नहीं ) ऐसा अपने को ब्राह्मण कहने वाला पुरुष चाहे (अभाव में) धर्म का प्रवक्ता हो, परन्तु शूद्र कभी नहीं॥ ( इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मणकुलोत्पन्न कुपढ़ लोग धर्मप्रवक्ता हों, किन्तु एक तो ऐसा पुरुष हो जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न मात्र हुवा है, वेदाध्ययनादि विशेष विद्या नहीं रखता; दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न हो और वह भी विशेषविद्या से हीन हो तो इन दोनों में वह उत्तम है जो कि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न है )॥ २०॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञोधर्मविवेचनम्। तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥२१॥यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्त-मद्विजम्। विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥२२॥

अर्थ-जिस राजा के यहां धर्म का निर्णय शूद्र करता है, उस का वह राज्य, देखते हुवे कीचड़ में गौ सा (फंस)पीड़ा को प्राप्त हो जाता है॥२१॥ जिस राज्य में शूद्र और नास्तिक अधिक हों और द्विज न हों, वह सम्पूर्ण राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीडित हुवा शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है॥२२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गःसमाहितः। प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥२३॥अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥२४॥

अर्थ-(राजा) धर्मासन ( गद्दी ) पर बैठ कर, शरीर ढके, स्वस्थचित्त, लोकपालों ( जिन ८ दिव्यगुणों से राजा को युक्त होना चाहिये ) को नमस्कार ( आदर ) करके काम देखना आरम्भ करे ( अर्थात् अच्छी तरह इजलास पर बैठ कर मुक़द्दमों को देखे)॥२३॥ अर्थ, अनर्थ दोनों को तथा केवल

धर्म और अधर्म को जानकर वर्णक्रम से ( अर्थात् प्रथम ब्राह्मण का, फिर क्षत्रिय का–इस क्रम से ) कार्य वालों के सम्पूर्ण कार्यों को देखे ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्। स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥२५॥ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ–मनुष्यों के बाहर के लक्षण-स्वर (आवाज़) और (शरीर) का वर्ण और नीचे ऊपर देखना, आकार (पसीना रोमाञ्च आदि ) और चक्षु तथा चेष्टा से भीतरी अभिप्राय को समझे ॥२५॥ आकार, इशारे, गति, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुख के विकारों से मन का भेद जाना जाता है ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत्। यावत्सस्यात्समावृत्तोयावच्चातीतशैशवः ॥२७॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च। पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

अर्थ–बालक के दायभाग का द्रव्य, राजा तब तक (जैसे कोर्ट आफ़वार्ड्स में ) पालन करे, जब तक वह समावर्त्तन वाला ( पढ़ लिखकर होशियार ) हो और जब तक लड़कपन जाता रहे (अर्थात् जब तक बालिग़ हो) ॥२७॥ वन्ध्या, अपुत्रा, सपिण्डरहिता, पतिव्रता और विधवा तथा स्थिररोगिणी स्त्री में भी ऐसा ही हो (उनके द्रव्य की भी राजा रक्षा करे ॥

२८ वें से आगे मेधातिथि के भाष्यानुसार एक यह श्लोक अधिक है:–

[ एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ] ॥

यही विधि पतित स्त्रियों में करे कि वस्त्र अन्न पान और घर के समीप रहने की जगह दी जावे ) ॥ २८ ॥

जीवन्तीनांतुतासांयेतद्धरेयुःस्वबान्धवाः। ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२९॥ प्रणष्टस्वामिकंरिक्थं राजात्र्यब्दं निधापयेत्। अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्॥३०॥

अर्थ–उन जीवती हुई स्त्रियों का वह धन, जो बान्धव हरण करें उन को चोरदण्ड के समान धार्मिक राजा दण्ड देवे ॥ २९॥ जिस का स्वामी न हो

उस ( लावारिस ) धन को राजा तीन वर्ष तक रक्खे, तीन वर्ष के भीतर ( उस के ) स्वामी ( का पता लगे तौ वह ) लेलेवे, अनन्तर राजा ग्रहण ( ज़ब्त ) करे ( अर्थात् ढंढोरा पीटने से कि "जिस की हो ले जाओ" ३ वर्ष तक कोई लेने वाला न मिले तौ वह धन राजा का हो जावे ) ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि। संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१॥ अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः। वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥३२॥

अर्थ-जो कहे कि यह धन मेरा है, तब उस से राजा यथाविधि पूछे कि क्या स्वरूप है और कितना है, वा कैसा है इत्यादि। जब यह सब सही कहे, तब उस धन को उस का स्वामी पावे ॥३१॥ नष्ट द्रव्य का देश काल वर्ण रूप प्रमाण ( अर्थात् कहां, कब, कौनसा रङ्ग, कैसा आकार, कितना यह सब अच्छे प्रकार न जानता हो तौ उसी के बराबर दण्ड पाने योग्य है (अर्थात् झूंठा दावा करने वाले को उस धन के बराबर दण्ड दिया जावे, जिस धन पर उसने दावा किया हो ) ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३३॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्। यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥३४॥

अर्थ-नष्ट द्रव्य फिर पावे तो उस में उस द्रव्य का छठा भाग वा दशवां वा बाहरवां, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ राजा ग्रहण करे ॥ ३३ ॥ जो द्रव्य किसी का गिरा, राजपुरुषों को पाया, पहरे में रक्खा हो, उस को जो चोर चुरावें, उन को राजा हाथी से मरवा डाले ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः। तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥३५॥ अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्। तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥३६॥

अर्थ-जो पुरुष सचाई से कहे कि "यह निधि मेरा है" उस के निधि से राजा छठा वा बारवां भाग ग्रहण करे, ( शेष उस को देदेवे ) ॥३५॥ ( यदि वह पराये को "मेरा है" ऐसा) असत्य कहे तौ अपने धन का आठवां भाग दण्ड के योग्य है वा गिनकर उसी धन के अल्प भाग पर दण्ड के योग्य

है (निधि उस को कहते हैं जो पुराना बहुत काल का धन पृथिवी में दबा हुवा रक्खा हो। दैवयोग से वह कभी किसी को मिलजावे, तो वह राजा का धन है और यदि उस पर कोई अपनेपन का दावा करे और सत्य २ सिद्ध हो जावे तौ छठा भाग राजा ले, शेष उसे देदेवे। यदि झूंठा दावा हो तौ दावा करने वाले की जितनी हैसियत हो उस का अष्टमांश वा उस निधि का कुछ अंश दावा करने वाले पर दण्ड किया जावे)॥ ३६॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणोदृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः॥ ३७॥

अर्थ-यदि विद्वान् ब्राह्मण, पूर्वकालस्थापित निधि को पावे तौ वह सब लेले, क्योंकि वह सब का स्वामी है (अर्थात् उस में से छठा भाग राजा न लेवे॥

३७ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।
तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादऽनिवेदयन्]

यदि ब्राह्मण भी निधि को पावे तौ शीघ्र राजा को विदित करदे। फिर जब राजा उसे देदेवे तौ भोग लगावे और राजा को निवेदन न करता हुवा [किन्तु चुपचाप भोगता हुवा] चोर समझा जावे)॥ ३७॥

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद् द्विजेभ्योदत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥ ३८॥

अर्थ-राजा पड़ी हुई भूमि में जो पुरानी निधि को (स्वयं) पावे तौ उस में से आधा द्विजों को दान देकर आधा कोश में रक्खे॥ ३८॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ। अर्धभाग्रक्षणा-द्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥३९॥दातव्यं सर्ववर्णेभ्योराज्ञा चौरै-र्हृतं धनम्। राजातदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम्॥४०॥

अर्थ-पुरानी निधि (ब्राह्मण से भिन्न को पाई हुई) और सुवर्णादि के उत्पत्तिस्थानों का, राजा आधे का भागी है। क्योंकि भूमि की रक्षा करने से वह उस का स्वामी है॥३९॥ जो धन चोरों ने हरण किया है, उस को राजा पाकर धन के स्वामी को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, देदेवे। उस धन का यदि राजा स्वयं भोग करे तौ चोर के पाप को पाता है॥ ४०॥

जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥४१॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः। प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ४२

अर्थ-धर्म का जानने वाला ( राजा ) जातिधर्म देशधर्म और श्रेणीधर्म (वणिग्वृत्त्यादि) और कुलधर्म, इन को अच्छे प्रकार देख कर, (इन के विरुद्ध न हो) राजधर्म को प्रचरित करे (यहां धर्म शब्द रिवाजों का वाचक है, जो रिवाज वैदिक धर्म के विरुद्ध न हों ) ॥ ४१ ॥ जाति, देश और कुल के धर्मों और अपने कर्मों को करते हुवे अपने अपने कर्म में वर्त्तमान दूर रहते हुये लोग भी, लोक ( सोसाइटी ) के प्रिय होते हैं ( अर्थात मनुष्य कहीं किसी विलायत में भी रहता हुआ, अपने देशादि धर्म कर्म करता रहे तो सोसा-इटी का प्रिय रहता है। इस लिये इस को न छोड़े, न छुड़ावे ) ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः। न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्। नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-राजा और राजपुरुष (कामदार) भी ऋणाऽदानादि का झगड़ा स्वयं उत्पन्न न करावे और यदि कोई पुरुष विवाद को प्रस्तुत ( पेश ) करे तो राजा और राजपुरुष उस की उपेक्षा ( हज़म ) न करें। ( वा रिश्वत लेकर ख़ारिज न कर देवें ) ॥ ४३ ॥ जैसे मृग के रुधिरपात के मार्ग से खोजता हुवा व्याध ठिकाने को प्राप्त होता है, वैसे ही राजा अनुमान से धर्म के पद ( मुआमले की असलियत ) को प्राप्त होवे ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः। देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥४५॥ सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः। तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-व्यवहार ( मुआमला, मुक़द्दमा ) के देखने में प्रवृत्त ( राजा वा राजपुरुष) सत्य अर्थ ( गोहिरण्यादि ) तथा आपे और साक्षियों तथा देश रूप और काल को देखे ( विचारे ) ॥४५॥ जो धार्मिक सत्पुरुष द्विजातियों से आचरण किया हुआ हो और कुल जाति तथा देश के विरुद्ध न हो ऐसा व्यवहार का निर्णय करे ॥ ४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः । तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥ धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् । न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ-अधमर्ण (क़र्ज़दार) से ऋण=क़र्ज़ का धन मिलने के लिये उत्तमर्ण=महाजन के क़रज़दार से महाजन का निश्चित धन दिलावे ॥ ४७ ॥ जिन २ उपायों से महाजन अपना रुपया पासके उन उन उपायों से ऋण संग्रह करके दिवावे ॥ ४८ ॥ या तो धर्म से या व्यवहार=राजद्वार या छल की चाल से या आचरित (लेन देन के दवाव) से या पांचवें बलात्कार से यथार्थ धन का साधन करे ( अदा करादे ) ॥ ४९ ॥ जो महाजन आप क़रज़दार से रुपया निकाललें तो उस पर राजा अभियोग ( मुक़दमा क़ायम ) न करे, जब कि वह ठीक २ अपना धन निकाल रहा हो ॥ ५० ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥५१॥ अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि । अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ-धन के विषय में नकार करने वाले से लेख साक्ष्यादि द्वारा प्रमाणित कर महाजन का रुपया और यथाशक्ति थोड़ा दण्ड भी (राजा) दिलावे ॥५१॥ प्रथम सभा में अभियोक्ता (धर्मासनस्थ) क़रज़ लेने वाले से कहे कि महाजन का रुपया दे । उस पर जब वह कहे कि मैं नहीं जानता, तब राजा साक्षी ( गवाह ) वा अन्य कुछ साधन ( तमस्सुक आदि ) के प्रस्तुत करने की उत्तमर्ण को आज्ञा देवे ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः । यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥५३॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति । सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः। निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत्॥५५॥ ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्। न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते॥५६॥

अर्थ-जो झूंठ गवाह या काग़ज़ पत्र को निर्देश (पेश) करता है और जो निर्देश करके नकार करता है और जो कि आगे पीछे कहे का ध्यान नहीं रखता, ॥५३॥ और जो बात को उलटता है, अपने प्रतिज्ञात किये हुवे तात्पर्य को धर्मासनस्थ के पूछने से फिर नकार करता है ॥५४॥ और जो एकान्त में गवाहों के साथ बात चीत करता है, जो बात के सत्य होने की जांच के लिये अभियोक्ता (अदालत) के पूछने को अच्छा न समझे और जो इधर उधर विना प्रयोजन बात को न मानता हुआ घूमे ॥५५॥ और पूछने पर कुछ न कहे और जो कहे तौ दृढ़ता के साथ न कहे और जो पूर्वापर बात को न जाने, वह अपने अर्थ (धन) को हार जाता है ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्तिमेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः। धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत्॥५७॥ अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः। न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः॥५८॥

अर्थ-मेरे साक्षी (हाज़िर) हैं, ऐसा कहकर जब (धर्माधिकारी) कहे कि लावो, तब (उन को) न लावे तौ धर्मस्थ (अदालत) इन कारणों से उसको भी पराजित (हारा) कहदे ॥ ५७ ॥ जो अभियोक्ता (मुद्दई) राजद्वार में निवेदन करके न बोले (अर्थात् नालिश करके ज़बानी न बोले। तब (छोटे बड़े मुक़द्में के अनुसार) बन्ध वा जुर्माने के योग्य हो और यदि उस पर मुद्दआ-इलह डेढ़ महीने के भीतर झूंठे दावे से हुई हानि की नालिश न करे तौ धर्मतः (क़ानून से) हार जावे ॥ ५८ ॥

योयावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्यायावतिवावदेत्। तौनृपेणह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥५९॥ पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा। त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ॥६०॥

अर्थ-जो (मुद्दआइलह असल धन में से) जितने धन को न दे और जो (मुद्दई असल धन से) जितना बढ़ाकर दावा करे, उस (घटाये बढ़ाये) धन का

दूना ( अर्थात् घटाने वाले से घटाने का दूना और बढ़ाने वाले से बढ़ाने का दूना ) दण्ड उन दोनों अधर्मियों से राजा दिलावे ॥ ५९ ॥ राजा और ब्राह्मण के सामने पूछा जावे और नकार करे तौ महाजन कम से कम तीन गवाहों से सिद्ध करे ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः। तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं चतैः ॥६१॥ गृहिणः पुत्रिणोमौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।अर्थ्युक्ताःसाक्ष्यमर्हन्ति नयेकेचिदनापदि ६२

अर्थ–मुक़द्दमों में महाजनों को जैसे गवाह करने चाहियें और उन ( गवाहों ) को जैसे सच बोलना चाहिये सो भी आगे कहता हूं ॥ ६१ ॥ कुटुम्बी, पुत्र वाले, उसी देश के रहने वाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण वाले;ये लोग जब कि अर्थी ( मुद्दई ) कहे कि मेरे साक्षी हैं, तब साक्ष्य के योग्य होते हैं, हर कोई नहीं, जब तक कि कुछ आपत्ति न हो। ( यहां ब्राह्मण को गवाही में इस लिये नहीं कहा है कि सांसारिक कार्यों में पड़ने से उस के पारमार्थिक कामों में बाधा न पड़े और यदि अन्य साक्षी न मिल सकें तौ ब्राह्मण साक्षी वैसे तौ सर्वोत्तम है, इस लिये आगे "ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्" कहेंगे ) ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याःकार्येषु साक्षिणः।सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तुवर्जयेत् ॥६३॥ नार्थसंबन्धिनोऽनाप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाःकर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥

अर्थ–सब वर्णों में जो यथार्थ कहने वाले और सम्पूर्ण धर्म के जानने वाले हों, उन को कामों में साक्षी करना चाहिये और इन से विपरीतों को नहीं ॥६३ ॥ धन के सम्बन्धी, असत्यवादी, नौकर आदि सहायक, शत्रु, दूसरी जगह जानकर झूंठी गवाही देने वाले, रोगी और ( महापातकादि से ) दूषितों को ( गवाह ) न करे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥६५॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्। न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥

अर्थ-राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी को भी साक्षी न बनावे ॥६५॥ परतन्त्र,बदनाम, दस्यु, निषिद्ध कर्म करने वाला,वृद्ध, बालक और १ एक ही और चण्डाल और जिस की इन्द्रियें स्वस्थ न हों उसे ( साक्षी ) न करे ॥ ६६ ॥

नार्तोनमत्तोनोन्मत्तोनक्षुत्तृष्णोपपीडित:।नश्रमार्तोनकामार्तो न क्रुद्धोनापि तस्कर:॥६७॥स्त्रीणांसाक्ष्यंस्त्रिय: कुर्युर्द्विजानां सदृशाद्विजा: शूद्राश्चसन्त:शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनय:॥६८॥

अर्थ-दुःखी, मद्यादिमत्त, पागल, क्षुधा तृषा से पीड़ित, थका, कामपीड़ित, क्रोध वाला और चोर;(ये भी साक्षी योग्य नहीं हैं) ॥६७॥स्त्रियों का साक्ष्य स्त्री करें। द्विजों का (साक्ष्य) उन के सदृश द्विज करें। शूद्रों का ( साक्ष्य ) सज्जन शूद्र करें और चण्डालों का ( साक्ष्य ) चण्डाल करें ॥६८॥

अनुभावीतुय:कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यंविवादिनाम्। अन्तर्वेश्मन्यरण्येवा शरीरस्यापिचात्यये॥६९॥स्त्रियाप्यसंभवेकार्यं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

अर्थ-घर के भीतर, वन में, शरीर के अन्त ( खून ) में; इन झगड़ों में जो कोई भी अनुभव करने वाला हो, वही साक्षी किया जा सक्ता है॥६९॥ (मकान के भीतर आदि स्थानों में ऊपर लिखे साक्ष्य के ) न होने पर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और नौकर चाकर भी साक्ष्य करें ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥७१॥ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिण: ॥७२॥

अर्थ-बाल, वृद्ध, आतुर और चलचित्त लोग साक्ष्य में झूंठ बोलें तो इन की वाणी को स्थिर न जाने ॥ ७१ ॥ संपूर्ण साहसों ( डाका, मकान जलाना इत्यादि ) में, चोरी परस्त्रीसङ्ग, गाली और मारपीट में साक्षियों की परीक्षा न करे ( अर्थात् ६१ से ६८ श्लोक तक जिस प्रकार के साक्षी कहे हैं, वैसों ही का नियम नहीं ) ॥ ७२ ॥

बहुत्वंपरिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधेनराधिपः। समेषुतुगुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति। तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥७४॥

अर्थ-परस्परविरुद्ध साक्षियों में जिस बात को बहुत कहें उस को राजा ग्रहण करे और विरुद्ध कहने वाले साक्षी जहां संख्या में समान हों वहां अधिक गुण वालों का और यदि गुण वाले विरुद्ध कहें तो वहां द्विजोत्तमों (ब्राह्मणों) का प्रमाण करे ॥७३॥ सामने देखने से और सुनने से भी साक्ष्य सिद्ध होता है, उस में सच बोलने वाला साक्षी धर्म अर्थ से नहीं हारता ॥७४॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि। अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन। पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-आर्यों की सभा में देखे सुने से विरुद्ध कहने वाला साक्षी अधोमुख नरक में जाता और मर कर भी स्वर्ग से हीन हो जाता है ॥ ७५ ॥ जिस ( मुक़द्दमें ) में न भी कहा हुवा हो (कि तुम इस में साक्षी हो) उस में भी जो देखे और सुने, उस को पूछने पर जैसा देखे सुने, वैसा ही कहे ॥७६॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यःशुच्योऽपि न स्त्रियः। स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि येवृताः ७७ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यंव्यावहारिकम्। अतोयदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थंतदपार्थकम् ७८

अर्थ-एक ही साक्षी लोभादिरहित हो तो पर्याप्त है परन्तु स्त्रियां बहुत और पवित्र भी होवें तो भी नहीं, क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती। और दोषों से युक्त अन्य लोगों को भी साक्षी न करे ॥ ७७ ॥ साक्षी स्वभाव से ( अर्थात् भयादि से रहित होकर ) जो कहे, वह व्यवहार के निर्णय में ग्राह्य है और इस से विपरीत ( भय लोभादि से ) जो विरुद्ध वाद कहें सो व्यवहार के निर्णयार्थ निरर्थक है ॥ ७८ ॥

सभान्तःसाक्षिणःप्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ। प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीतविधिनानेनसान्त्वयन् ७९ यद्द्वयोरनयोर्वेत्थकार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः। तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥

अर्थ—सभा के बीच प्राप्त हुवे साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के सामने प्राड्विवाक ( वकील आदि ) धैर्य देकर आगे कहे प्रकार से पूछे कि ॥७९॥ इन दोनों ( मुद्दई मुद्दआइलह ) ने आपस में इस काम में जो कुछ किया हो उस को तुम जो कुछ जानते हो सो सब सचाई से कहो क्योंकि तुम्हारी इस में गवाही है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्। इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम्। विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥

अर्थ साक्ष्य कर्म में सच बोलता हुवा साक्षी उत्कृष्ट (ब्रह्मादि) लोकों और इस लोक में उत्तम कीर्त्ति को प्राप्त होता है क्योंकि यह सत्य वाणी ब्रह्म=वेद से पूजी हुई है ॥ ८१ ॥ क्योंकि साक्ष्य में असत्य कहने वाला वरुण के पाशों से परतन्त्र हुवा शतजन्मपर्यन्त अत्यन्त पीड़ित होता है ( अर्थात् जलोदरादि से पीड़ित होता है ) इस कारण सच्चा साक्ष्य ( गवाही ) दे ॥

( ८२ वें से आगे ३ श्लोक अधिक भी पाये जाते हैं । जिन में से पहिला और तीसरा एक एक पुस्तक में और दूसरा तीन पुस्तकों में मिलता है:-

[ ब्राह्मणोवै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि । शिरोवा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥१॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्। साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात् सत्यं विशिष्यते ॥ २ ॥ एकमेवाऽद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नाव बुध्यते। सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥३॥ ]

जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, आकाश के तारागणों में सूर्य और अन्य सब अङ्गों में शिर, ( ऐसा ही ) धर्मों में सत्य उत्तम है ॥ १ ॥ सत्य से बढ़ कर धर्म नहीं है, असत्य से बढ़ कर पाप नहीं । विशेष कर साक्षी के धर्म में । इस कारण सत्य उत्तम है ॥२॥ जो एक सत्य ही कहता है, दूसरी बात नहीं कहता वह भूलता नहीं । सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है, जैसे समुद्र में नौका ॥३॥ ) ॥८२॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते। तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः। मावसंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ८४

अर्थ—सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है और सत्यभाषण से धर्म बढ़ता है। इस लिये सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ (शुभ और अशुभ कर्मों में) आत्मा ही अपना साक्षी है और आप ही अपनी गति (शरण) है। इस लिये हे मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूंठ साक्ष्य से) अपमान मत कर ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः।तांस्तु देवाःप्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥८५॥ द्यौर्भूमिरापोहृदयं चन्द्रार्काग्नि यमानिलाः। रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥८६॥

अर्थ—पाप करने वाले जानते हैं कि हम को कोई देखता नहीं, परन्तु उन को देवता (जो अगले श्लोक में गिनाये हैं) देखते हैं और अपने ही शरीर का भीतर वाला पुरुष देखता है ॥ ८५ ॥ आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म;ये सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं ॥ (इस लिये साक्षी असत्य न बोले ॥ इन जड़ पदार्थों का अधिष्ठातृदेव (परमात्मा) ज्ञाता समझो। प्रपञ्चपूर्वक कथन प्रभावार्थ है)॥८६॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णेवैशुचिःशुचीन्॥८७॥ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तुपातकैः॥८८॥

अर्थ—देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्वमुख वा उत्तरमुख कराके आप शुद्ध स्वस्थचित्त हुवा अभियोक्ता, सबेरे के समय सच सच वृत्तान्त पूछे ॥ ८७ ॥ "कहो" ऐसा ब्राह्मण से पूछे और "सच बोलो" ऐसा क्षत्रिय से पूछे। और "गाय, बीज, सुवर्ण के चुराने का पातक तुम को होगा जो झूंठ बोलोगे तो" ऐसा कह कर वैश्य से पूछे। "सब पातक तुम को लगेंगे जो झूंठ बोलोगे तो" ऐसा कह कर शूद्र से पूछे ॥८८॥

ब्रह्मघ्नोयेस्मृतालोका ये च स्त्रीबालघातिनः।मित्रद्रुहःकृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतोमृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम्। तत्ते सर्वं शुनोगच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ।९०॥

अर्थ—ब्राह्मण के मारने वाले और स्त्रीघाती तथा बालघाती और मित्रद्रोही और कृतघ्न को जो २ लोक प्राप्त होने कहे हैं, वे ही झूंठ बोलने वाले को हों ॥८९॥ हे भद्र ! तू ने आयु भर जो कुछ पुण्य किया है, वह सब तेरा पुण्य कुत्ते पावें, जो तू इस विषय में अन्यथा कहे ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ यमोवैवस्वतोदेवोयस्तवैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥९२॥

अर्थ—हे भद्रपुरुष ! 'मैं एकला ही हूं' ऐसा यदि अपने को मानता है, तौ तेरे हृदय में नित्य पाप पुण्यों का देखने वाला मुनि ( परमात्मा ) तौ स्थित है ॥९१॥ वैवस्वत यम (परमात्मा) जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उस के साथ यदि विवाद नहीं है, तौ (पाप के प्रायश्चित्त वा दण्डभोगार्थ) गङ्गा और कुरुदेशों को मत जा । (ऐसा जान पड़ता है कि आर्य राजों ने गङ्गातट और कुरुदेशों में विकर्मफल भोगने के स्थान विशेष नियत कर रक्खे थे ॥ और एक प्रकार से तौ यह श्लोक पीछे का ही जान पड़ता है क्योंकि गङ्गा को भगीरथ ने प्रकट किया, मनु के समय में तौ यह गङ्गा का प्रवाह ही न था) ॥९२॥

नग्नोमुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः । अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥९३॥ अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥९४॥

अर्थ—जो झूंठ गवाही देवे वह कपड़े से नङ्गा, सिर मुंडा, कपाल हाथ में लिये, भिखमँगा, क्षुधा पिपासा से पीड़ित और अन्धा होकर शत्रुकुल में गमन करे ॥९३॥ जो धर्म निर्णय के लिये पूछा हुवा असत्य बोले, वह पापी अधोमुख बड़े अन्धकाररूप नरक में जावे ॥ ९४ ॥

अन्धोमत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह । योभाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥९५॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

अर्थ—जो सभा में आकर विना देखी बात को झूंठी बना कर बोलता है, वह अन्धा होकर कांटों सहित मछली सी खाता है ॥ ९५ ॥ जिस के

बोलते हुवे चेतन जीवात्मा शङ्का नहीं करता, उस से बढ़ कर देवता लोग दूसरे को अच्छा नहीं मानते ॥ ९६ ॥

यावतोबान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्। तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः॥९७॥पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥९८॥

अर्थ-हे सौम्य! ( साक्षिन् ) जिस साक्ष्य में झूंठ बोलने वाला जितने बान्धवों को मारने का फल पाता है,उस में क्रमशः उतनों को गिनती से सुन। (देखिये यहां से भी भूल होती हैं। इस श्लोक में "सौम्य!"यह सम्बोधन स्पष्ट प्रकरणानुसार गवाह ( साक्षी ) के लिये है, परन्तु प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि कहते हैं कि यह सम्बोधन मनु ने भृगु को दिया है। एक पुस्तक में इस से आगे १ प्रक्षिप्त श्लोक भी मिलता है, परन्तु हमने व्यर्थ सा समझ कर उद्धृत नहीं किया)॥९७॥ पशु के विषय में झूंठ बोलने से पांच बान्धवों के मारने का फल पाता है। गौ के विषय में दश। घोड़े में विषय में सौ। और पुरुष के विषय में सहस्र (बान्धवों के हनन का पातक प्राप्त होता है)॥९८॥

हन्ति जातानऽजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यऽनृते हन्ति मा स्म भूम्यऽनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

अर्थ-सुवर्ण के लिये असत्य बोलने वाला, उत्पन्न हुवों और न हुवों (होने वाले पुत्रादि) के मारने के फल को पाता है और भूमि के लिये असत्य बोलने वाला संपूर्ण प्राणियों के हनन का फल पाता है, इसलिये तू भूमि के लिये भी झूंठ मत बोल। (९९ वें से आगे नन्दन के टीके वाले पुस्तक में डेढ़ श्लोक यह अधिक प्रक्षिप्त हुवा है:-

[ पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यच्चान्यत्पशुसंभवम्। गोवद्वत्सहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च। अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु ]

शहद और घृत के विषय में झूंठी गवाही देने वाले को पशु विषयक पातक के समान पातक लगता है। और अन्य भी जो कुछ पशु से उत्पन्न ( दुग्धादि ) पदार्थ हैं, उन में भी। बछड़ों वा सुवर्ण के विषय में गौ के तुल्य; धान्य, पुष्प और फलों के विषय में भी। गधा, ऊंट, वतरादि सब सवारियों के विषय में झूंठे गवाह को घोड़े के विषय में कहे असत्यजनित पातक के तुल्य पातक लगता है ) ॥ ९९ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

अर्थ-(तालाव, बावड़ी इत्यादि) जलाशय के विषय में और स्त्रियों के भोग मैथुन में और (मौक्तिकादि) जलोत्पन्न रत्नों के विषय में तथा हीरा आदि पत्थरों के विषय में (झूंट बोलने का) भूमि क्षेप तकसमान (पातक) है। १०० वें के आगे भी ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:-

[ पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानेषु च तथाऽश्ववत् ।
गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ] ॥

शहद और घृत में पशु के तुल्य, सवारियों में घोड़े के तुल्य, चांदी और वस्त्रों में गौ के तुल्य और धान्य के विषय में असत्य गवाही देने वाले को ब्राह्मणविषयक पाप के समान पाप होता है ) ॥ १०० ॥

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥१०१॥ गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥१०२॥

अर्थ—इन सब झूंठ बोलने में पातकों को समझ कर, जैसा देखा और सुना है वही सब शीघ्र कह ॥१०१॥ गौ रखाने वाले, बनिये, लुहार, बढ़ई आदि के काम वा रसोई करने वाले, गाने बजाने वाले, हलकारे की नौकरी करने वाले और व्याज से जीने वाले ब्राह्मणों से भी (राजा) शूद्र के समान प्रश्न करे ( १०२ वें से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ येऽप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ] ॥

जो लोग अपने वर्णधर्मों को छोड़ कर पराई जीविका करने लगे हों और द्विज होने की इच्छा करें उन को राजा शूद्र के तुल्य सम्बोधन करे। इसी तात्पर्य का श्लोक एक अन्य पुस्तक में इसी जगह मिलता है। यथा-

[ येऽप्यपेताः स्वकर्मभ्यः परकर्मोपजीविनः ।
द्विजा धर्मं विजानन्तस्तांश्च शूद्रवदाचरेत् ] ॥ १०२ ॥

"तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः। न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥ शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥१०४॥"

"अर्थ-जो पुरुष जानता हुआ भी धर्म के व्यवहारों में अन्यथा कहने वाला है, वह स्वर्ग लोक से भ्रष्ट नहीं होता क्योंकि उस (असत्य) को देववाणी कहते हैं॥१०३॥ जिस मुकद्दमे में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों का सच बोलने से वध हो, वहां झूंठ बोलना चाहिये, क्योंकि वह सच से अधिक है ॥१०४॥"

"वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्। अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्॥१०५॥ कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि। उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा॥१०६॥"

"अर्थ-उस झूंठ बोलने के पाप का अत्यन्त प्रायश्चित्त करते हुवे (वे साक्षी) वाग्देवतासम्बन्धी चरु से सरस्वती का यजन करें ॥ १०५ ॥ अथवा कूष्माण्डों ( यद्देवादेवहेडनम् इत्यादि यजु० २० । १४ मन्त्रों ) से यथाविधि घृत को अग्नि में हवन करे। वा "उदुत्तमं वरुणपाशम०" यजु० १२ । १२ इस वरुण देवता वाले मन्त्र से, वा ( आपोहिष्ठा० यजुः ११ । ५० ) इन जल देवता की ३ ऋचाओं से ( पूर्वोक्त आहुति करें ॥"

( १०३ से १०६ तक ४ श्लोक ठीक नहीं जान पड़ते। १०३ में असत्य साक्ष्य से भी धर्मनिमित्त बोलने में दोष नहीं बताया, फिर १०४ में उस धर्मनिमित्त को स्पष्ट किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों को सत्य साक्ष्य देने से बध दण्ड होता देखे तो झूंठ बोलदे। वह झूंठ, सच से बढ़ कर है। १०५। १०६ में उस झूंठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त है। धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि अन्यायोपार्जित धनादि के व्यय से पुण्यकार्य करने में पुण्य नहीं है, जैसा कि पूर्व मनु ही कहते आये हैं। फिर चारों वर्ण किसी को मार डालें और राजा के सामने कोई सच्ची गवाही न दे तो कदाचित् चण्डालादि ही शेष बचे बधदण्ड पा सकें, अन्य तो ४ वर्ण छूट ही गये। फिर यह भी विचारना चाहिये कि यदि यह झूंठ सच से बढ़ कर है तो पाप के होते हुवे प्रायश्चित्त किस बात का कहा है? इस विषय में मेधातिथि ने १०० श्लोकों के बराबर इन्हीं चार श्लोकों पर भाष्य बढ़ा कर समाधान का उद्योग किया है, परन्तु उस समाधान से सन्तोष नहीं होता )॥ १०६ ॥

त्रिपक्षाद ब्रूवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥१०७॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्योदमं च सः ॥१०८॥

अर्थ–व्याधि आदि विघ्नरहित मनुष्य लेन देन के विषय में डेढ़ महीने तक गवाही न देवे तौ महाजन का कुल ऋण ( रुपया ) देवे और उस सब रुपये का दशवां भाग राजा को दण्ड देवे ॥ १०७ ॥ जिस गवाही देकर गये हुवे साक्षी के सात दिन के भीतर रोग, अग्नि और पुत्रादि का मरण होजाय तौ वह महाजन को रुपया और राजा को दण्ड देने योग्य है ॥

( सब भाष्यकारों ने ऐसे साक्षी को इस हेतु से झूंठा माना है कि दैवी आपत्तियां उस की झूंठी गवाही का प्रमाण हैं। सर्वज्ञनारायण भाष्यकार ने इतना अधिक लिखा है कि(तत्प्रागनुपजातनिमित्तकतं ग्राह्यम्)अर्थात् "जब कि रोगोत्पत्ति, गृहादि में अग्नि लगने और पुत्रादि की मृत्यु का हेतु गवाही देने से पहला न हो तब उसे झूंठा गवाह समझना चाहिये" परन्तु यह भी युक्ति दुर्बल जान पड़ती है और प्रायः रोगादि के हेतु बहुत प्राचीन होते हैं और जाने नहीं जा सकते, उस दशा में बड़ा अन्याय होगा। तथा वैद्यादि के भरोसे बड़ा कार्य जा पड़ेगा और अग्नि लगने के हेतु जानने में तथा पुत्रादि की मृत्यु का हेतु जानने में भी असंख्य कठिनाई हैं और फिर भी पूरा निश्चय होना कठिन ही है। इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में तौ राजद्वारादि लौकिक निर्णयों में दैवानुमान उचित नहीं है ) ॥ १०८ ॥

असाक्ष्यकेषु त्वर्थेषु मिथोविवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥
"महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे वै यवने नृपे ॥११०॥"

अर्थ–विना गवाह के मुक़द्दमों में आपस में झगड़े वाले दोनों के सत्य वृत्तान्त ज्ञात न होने पर शपथ ( हलफ़ ) से भी निर्णय करलेवे ॥ १०९ ॥ "क्योंकि महर्षि और देवतों ने कार्य के लिये शपथें कीं, वसिष्ठ जी ने भी यवन राजा के सामने शपथ किया था ॥ " ( कहां वसिष्ठ ! कहां यवन ! और कहां मनु ! यह सब पश्चात् की रचना स्पष्ट है) ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।
वृथा हि शपथं कुर्यात्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥
"कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

अर्थ–थोड़े अर्थ में भी पण्डित मिथ्या शपथ न करे क्योंकि वृथा शपथ करने वाला इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥ "सुरत लाभ को कामिनी के विषय में, विवाहों में, गौवों के चारे, इन्धन और ब्राह्मण की रक्षा के लिये ( वृथा ) शपथ करने में पातक नहीं है ॥"

( यह अपवाद भी अन्यायप्रवर्त्तक, असत्यपोषक तथा धर्मशास्त्र के सत्य सिद्धान्त का बाधक है और "ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ, ब्राह्मणस्य विपत्तौ, ब्राह्मणावपत्तौ"। ये तीन पाठ भी भिन्न २ प्रकार से मिलते हैं ) ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥
"अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥"

अर्थ–ब्राह्मण को सत्य की शपथ ( क़सम ) करावे। क्षत्रिय को वाहन तथा आयुध ( हथियार ) की, वैश्य को गाय या बैल, बीज और सौने की और शूद्र को सम्पूर्ण पातकों से [ शपथ ( क़सम ) करावे ] ॥ ११३ ॥ "जलते अग्नि को इस ( शूद्र साक्षी ) से उठवावे और पानी में इस को डुबावे और पुत्र स्त्री के शिर पर अलग २ इस से हाथ धरावे ॥ ११५ ॥"

"यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च। न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा। नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ११६"

"अर्थ–जिस को जलती आग नहीं जलाती और पानी जिस को नहीं डुबाते और जिस को पुत्रादि के वियोगजनित बड़ी पीड़ा जल्दी नहीं प्राप्त होती वह ( शूद्र ) शपथ में सच्चा जानना चाहिये ॥ ११५ ॥ क्योंकि पूर्वकाल में वत्स ऋषि को छोटे भ्राता ने कहा कि ( तू शूद्रा का लड़का है, ब्राह्मण का

नहीं, इस कहने से वत्स ने जगत् के शुभाशुभ जानने वाले अग्नि में प्रवेश किया, सो सत्य के कारण) अग्नि ने उस का एक रोम भी नहीं जलाया" ॥

( ११४ । ११५ । ११६ भी असंभवादि दोषों से चिन्त्य होने के अतिरिक्त वत्स ऋषि के इतिहास से अत्यन्त स्पष्ट है कि पीछे से मिलाये गये । इस प्रकरण में ८२ से आगे ३, ९९ से आगे १॥, १०० वें से आगे १, १०२ से आगे १, और दूसरे पुस्तक में १, मव ७॥ श्लोक तो स्पष्ट ही सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, इस पर इन इतिहासों से और भी निश्चित होता है कि हमारे प्रक्षिप्त बताये हुवे श्लोक जो सब पुस्तकों में अब मिल रहे हैं, वे भी अवश्य पीछे से ही मिले हैं ) ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्। तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥ लोभान्मोहाद्भयान्मैत्र्यात्कामात् क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ११८

अर्थ-जिस मुक़द्दमे में गवाहों ने झूंठी गवाही दी, ऐसा निश्चय हो, उस मुक़द्दमे को फिर से दोहरावे और जो दण्डादि कर चुका हो उसे नहीं किया समझे ( फिर से विचार हो ) ॥ ११७ ॥ लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान तथा लड़कपन से गवाही झूंठी कही जाती है ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥११९॥ लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम्१२०

अर्थ-इन लोभादि में से किसी कारण मुक़द्दमे में जो झूठी गवाही दे, उस के दण्ड विशेष क्रम से आगे कहता हूं ॥११९॥ लोभ से (मिथ्या गवाही देने वाले पर) "हज़ार" पण [ १५॥=) ] दण्ड हो और मोह से कहने वाले को "प्रथम साहस" [ ३॥।=) ] दण्ड देवे और भय से कहने वाले को "दो मध्यम साहस" [१५॥=)] दण्ड और मैत्री से (झूंठ कहने वाले को) "प्रथम साहस का चतुर्गुण" [ १५॥=) ] दण्ड देवे ( " " चिन्हित परिमाण संज्ञा आगे १३१ से १३८ तक संज्ञाप्रकरण में कहे अनुसार जानिये ) ॥ १२० ॥

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्। अज्ञानाद्द्वेशते पूर्णे

ञ्चालिश्याच्छतमेवतु॥१२१॥एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान् मनीषिभिः। धर्मस्याऽव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥१२२॥

अर्थ–कामनिमित्त(असत्य गवाही दे तौ) "प्रथम साहस दशगुण" [३९-)] और क्रोध से (झूंठी गवाही दे तौ) "तिगुना उत्तम साहस" [ ४६॥=)] और अज्ञान से (झूंठी गवाही दे तौ) सौ पण [ १॥-)] दण्ड पावे॥ (हमने पण को एक पैसा कल्पित करके ये रक़म लिखी हैं परन्तु इस में कुछ अन्तर है। आज कल का सिक्का उस में ठीक नहीं मिलता)॥ १२१॥ सत्यरूप धर्म के लोप न होने और असत्यरूप अधर्म के दूर होने के लिये झूंठे साक्षी को ये दण्ड विद्वानों ने कहे हैं॥ १२२॥

कौटसाक्ष्यंतुकुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिकोनृपः। प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणंतुविवासयेत्॥१२३॥दशस्थानानिदण्डस्य मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत्।त्रिषुवर्णेषुयानिस्युरक्षतोब्राह्मणोव्रजेत्॥१२४॥

अर्थ–धार्मिक राजा झूंठी गवाही देने वाले तीनों वर्णों को दण्ड देकर देश से बाहर निकाल देवे और ब्राह्मण को (केवल) निकाल दे॥१२३॥ जो दण्ड के १० स्थान स्वायंभुव मनु ने कहे हैं, वे क्षत्रियादि तीन वर्णों को हैं। और ब्राह्मण को विना चोट के (केवल) निकाल देवे॥ (मनुरब्रवीत्० से संदेह तौ स्पष्ट है कि यह अन्यकृत है)॥ १२४॥

उपस्थमुदरंजिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्। चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ १२५॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥१२६॥

अर्थ–लिङ्ग, उदर, जीभ, हाथ, पांचवें पैर और आंख, नाक, कान, धन और देह (ये १० दण्ड के स्थान हैं)॥१२५॥ प्रकरण (सिलसिले) को समझ कर, देशकाल को ठीक २ जान कर और (धन शरीरादि) सामर्थ्य तथा अपराध को देख कर, दण्ड के योग्यों को दण्ड देवे॥ १२६॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम्। अस्वर्ग्यंच परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥१२७॥ अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशोमहदाप्नोति नरकंचैवगच्छति॥१२८॥

अर्थ-क्योंकि अधर्म से दण्ड देना लोगों में इस जन्म में यश और (आगे को) कीर्त्ति का नाश करने वाला है और परलोक में स्वर्ग का अहित करने वाला है। इस कारण उसे न करे (अर्थात् बेइन्साफ़ी से सज़ा न देवे) ॥१२७॥ अदण्डनीयों को दण्ड देता हुवा और दण्डनीयों को छोड़ देने वाला राजा बड़े अपयश को पाता और नरक में भी जाता है ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डं तु बधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥ बधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् । तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अर्थ-प्रथम वाग्दण्ड देवे (अर्थात् यह कहे कि तूने यह बुरा किया, इस कहने पर न माने तो) दूसरी वार धिक्कार दण्ड देवे। तीसरी वार धनदण्ड (जुरमाना) करे। चौथी वार बधदण्ड=(अपराधानुसार) देहदण्ड देवे ॥१२९॥ यदि देहदण्ड से भी इन को वश में न कर सके तो इन पर वाग्दण्डादि सब चारों दण्ड करे ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि। ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

अर्थ-तांबा, चांदी और सोने की जो (पणादि) संज्ञा लोगों के व्यवहार के लिये पृथिवी में प्रसिद्ध हैं, उन सब को (दण्डप्रकरणोपयोगी होने से) आगे कहता हूं ॥१३१॥ मकान के रोशनदान में सूर्य की धूप में जो बारीक२ छोटे रज (ज़र्रे) दीखते हैं, इस मापे को प्रमाणों में पहिला (परिमाण) "त्रसरेणु" कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः। ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥१३३॥ सर्षपाः षड्यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्। पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥

अर्थ-आठ त्रसरेणु की एक "लिक्षा" और तीन लिक्षा की एक "राजसर्षप"= राई और तीन राई का एक "श्वेत सरसों" जानिये ॥१३३॥ और छः सरसों

का एक समझना "यव" और तीन यव का एक "कृष्णल" और पांच कृष्णल का एक "माष" और सोलह माषों का एक "सुवर्ण" होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश । द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः । कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥

अर्थ-चार सुवर्ण का एक "पल" । दश पल का १ "धरण" । बराबर के दो कृष्णलों को १ "रौप्यमापक" (चांदी का मापक) जाने॥१३५॥ सोलह मापक का १ "रौप्यधरण" और चांदी का "पुराण" भी होता है । तांबें के कर्ष भर के पण (पैसे) "कार्षापण" को "ताम्रिक, कार्षिक, पण" जाने ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः । चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१३७॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

अर्थ-दश धरण का १ चांदी का "शतमान" जाने और प्रमाण से चार सुवर्ण को १ " निष्क " जाने ॥ १३७ ॥ दो सौ पचास पणों का " प्रथम साहस " कहा है और पांच सौ पणों का " मध्यमसाहस " तथा १ सहस्र पणों का " उत्तम साहस " जाने ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति । अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

अर्थ-यदि क़रज़दार सभा में कहदे कि मुझे महाजन का रुपया देना है तो पांच प्रति सैकड़ा दण्ड योग्य है । और नकार करे ( परन्तु सभा में फिर प्रमाणित हो ) तो दश प्रति सैकड़ा दण्ड देने योग्य है । इस प्रकार ( मुझ ) मनु की आज्ञा है ॥ १३९ ॥ धन को बढ़ाने वाली वसिष्ठोक्त वृद्धि ( सूद ) अस्सीवां भाग सौ पर ब्याज खाने वाला मासिक ग्रहण करे (अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज ले ॥ १३९ व १४० में भी नवीनता की झलक तो है क्योंकि "मनु की आज्ञा " और " वसिष्ठ " का नाम आया है ) ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन्। द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥१४१॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम्। मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

अर्थ-सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण कर (बड़ों का नाम ले) दो रुपया सैकड़ा व्याज ग्रहण करे। दो रुपया सैकड़ा व्याज ग्रहण करने वाला उस धन से पापी नहीं होता ॥१४१॥ ब्राह्मणादि वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और पांच रुपये सैकड़ा माहवारी व्याज ग्रहण करे ॥ १४२ ॥

नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्। न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥१४३॥ न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्। मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥१४४॥

अर्थ-(भूमि गौ धन आदि) भोगयुक्त पदार्थ बन्धक गिरवी रक्खे तो पूर्वोक्त व्याज न ग्रहण करे और बहुत दिन होने पर भी उस के अन्य को देदेने या बेचने का (धनी को) अधिकार नहीं है ॥१४३॥ आधि (गिरवी की चीज़) को ज़बरदस्ती भोग न करे। यदि भोग करे तो व्याज छोड़ देवे या मूल्य से उस (वस्तुस्वामी) को (उन वस्त्रालङ्कारादि को भोगने से जो घाटा हो गया है, उस का मूल्य देकर) प्रसन्न करे, नहीं तो बन्धकचोर कहलावे ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः। अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥ संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन। धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ-आधि=बन्धक (गिरवी) और उपनिधि (अमानत=प्रीतिपूर्वक उपभोग के लिये दीहुई वस्तु) इन दोनों में काल बीतने से स्वत्व नष्ट नहीं होता। बहुत दिन की भी रक्खी को जब स्वामी चाहे तब ले सकता है ॥१४५॥ प्रीतिपूर्वक (अन्यों से) उपभोग किये जाते गाय, ऊंट, घोड़ा, बैल आदि कामों में लाये जावें तो इन पर का स्वामित्व नहीं जाता रहता ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी। भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७॥ अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते। भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥१४८॥

अर्थ–यदि किसी वस्तु को अन्य लोग दश वर्ष तक वर्त्तते रहें और उस का स्वामी चुपचाप देखता रहे तो फिर वह उसे नहीं पा सकता ॥ १४७ ॥ जो (वस्तुस्वामी) पागल न हो और न पौगण्ड (बालक) हो और उसी के सामने वस्तु को पर पुरुष भोगता रहे, तो अदालत से उस का अधिकार नहीं रहता किन्तु भोक्ता ही उस को पाने योग्य है ॥ १४८ ॥

आधिःसीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः।राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति १४९ यःस्वामीनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेविचक्षणः।तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्यभोगस्यनिष्कृतिः१५०

अर्थ–बन्धक (गिरवी), सीमा, बालधन, धरोहर, प्रीतिपूर्वक भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन तथा श्रोत्रिय का धन, इन को (दश वर्ष) भोगने से भी भोग करने वाला नहीं पा सकता (इस से आगे १ पुस्तक में एक श्लोक अधिक है) ॥१४९॥ जो चालाक मनुष्य आधि (गिरवी) को विना स्वामी के कहे भोगता है, उसे उस भोग के बदले आधा सूद लेना चाहिये ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता। धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्॥१५१॥कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति। कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ–(रुपयों का) सूद एक वार लेने पर मूल धन से दूने से अधिक नहीं हो सकता और धान्य, वृक्ष के मूल और फल, ऊन और वाहन, पांच गुने से अधिक नहीं हो सकते ॥ १५१ ॥ ठहराये से अधिक व्याज शास्त्र के विपरीत नहीं मिल सकता। व्याज का मार्ग इसी को कहा है कि (अधिक से अधिक) पांच रुपये सैंकड़ा लिया जा सकता है ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्। चक्रवृद्धिःकालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥१५३॥ऋणं दातुमशक्तोयःकर्त्तुमिच्छेत् पुनःक्रियाम्। स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्त्तयेत्॥१५४॥

अर्थ–एक वर्ष हो जाने पर (जो माहवारी सूद ठहरा हो, ग्रहण करले) अधिक समय न बढ़ावे, और सूद पर सूद और माहवारी सूद और सूद के दबाव से ऋण कराके उस पर सूद और शरीर से कोई काम सूद में न ले ॥१५३॥

जो ऋण देने को असमर्थ है और फिर से हिसाब करना चाहे, वह चढ़ा हुवा सूद देकर दूसरा करण ( क़ाग़ज़=तमस्सुक ) बदल देवे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥१५५॥ चक्रवृद्धिं समारूढोदेशकालव्यवस्थित: । अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

अर्थ-यदि सूद भी न दे सके तौ सूद के धन को मूल में जोड़ देवे और फिर जितनी संख्या व्याज सहित हो उतनी देने योग्य है ॥१५५॥ चक्रवृद्धि का आश्रय करने वाला महाजन देश काल से नियमित हुवा ही फल पावे, किन्तु नियत देश वा काल को उल्लङ्घित करने वाले फल को नहीं प्राप्त हो, ( मियाद गुज़रने पर हक़दार न रहे) ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः । स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥ योयस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः । अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥१५८॥

अर्थ-समुद्रपथ के यान में कुशल और देश काल अर्थ के जानने वाले ( अर्थात् इतनी दूर, इतने दिन तक, इस काम के करने में, यह लाभ होता है, इस को जानने वाले महाजन) जिस वृद्धि का स्थापन करते हैं, वही उस में प्रमाण है ॥१५७॥ जो मनुष्य जिस का हाज़िर करने के लिये प्रतिभू (ज़ामिन) हो , वह उस को सामने न करे तौ अपने पास से उस का ऋण दे ॥१५८॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकंचयत्।दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रोदातुमर्हति ॥१५९॥ दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिःस्यात् पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१६०॥

अर्थ-प्रतिभू होने (ज़मानत) का धन और वृथा दान तथा जुवे का रुपया मद्य का रुपया और दण्ड शुल्क का शेष, (ये सब पिता के मरने पर उस के बदले) पुत्र देने योग्य नहीं है॥१५९॥सामने कर देने के प्रातिभाव्य (ज़मानत) में ही पूर्वोक्त विधि है (अर्थात् पिता की ज़मानत पिता ही देवे) और धन देने का प्रतिभू ( ज़ामिन ) मरजावे तौ उस के वारिसों से भी दिलावे ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्। पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥१६१॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः। स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥

अर्थ–अदाता प्रतिभू (जिस ने देने की ज़मानत न की हो किन्तु अधमर्ण को सामने कर देना मात्र स्वीकार किया हो। जिस की प्रतिज्ञा दाता ने जान भी रक्खी है (कि वह देने का प्रतिभू नहीं बना था) उस के मर जाने पश्चात् (उस के पुत्रादि दायादों से) दाता अपना ऋण किस हेतु से पाना चाहे? (किसी से भी नहीं) ॥१६१॥ यदि [प्रतिभू] (ज़ामिन) को अधमर्ण रुपया सौंप गया हो इसलिये प्रतिभू के पास वह रुपया हो, पर अधमर्ण ने आज्ञा न दी हो [ कि तुम उत्तमर्ण को देदेना, तौ वह ] निरादिष्ट प्रतिभू (ज़ामिन) अपने पास से अवश्य उत्तमर्ण का ऋण देवे। यह निर्णय है ॥१६२॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा। असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥१६३॥ सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता। बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१६४॥

अर्थ– मत्त, उन्मत्त, आर्त्त, परतन्त्र, बाल और वृद्धों का तथा पूर्वापर विरुद्ध किया हुवा व्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥१६३॥ आपस की भाषा (शर्त वा इक़रार) चाहे लिखा पढ़ी से वा ज़बानी ठहरी भी हो तौ भी यदि धर्म (क़ानून) या परम्परा के रिवाज के विरुद्ध ठहरी हो तौ सच्ची नहीं मानी जाती ॥१६४॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः। दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

अर्थ–छल से किये हुवे बन्धक (गिरवी), विक्रय, दान, प्रतिग्रह और निक्षेप=धरोहर भी लौटा देवे ॥१६५॥ कुटुम्ब के लिये ऋण लेकर व्यय करने वाला यदि मरजावे तौ उस के बान्धव विभाग किये हुवे वा न विभाग किये हुवे हों अपने धन में से उस के बदले ऋण देवें ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्। स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥ बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्। सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

अर्थ-जो कोई अधीन (पुत्रादि) भी कुटुम्ब के लिये स्वदेश वा विदेश में कुछ व्यवहार=लेन देन करले तो उस का वड़ा (अधिष्ठाता) उसे विच लित न करे (क़बूल ही करे) ॥ १६७ ॥ बलात्कार से दिया, बलात्कार से भोग किया और बलात्कार से जो कुछ लिखाया तथा बलात्कार से कराये सब काम नहीं किये के समान (सुफ़) मनु ने कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्। चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः ॥१६९॥ अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः। न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥१७०॥

अर्थ-तीन दूसरे के लिये क्लेश पाते हैं साक्षी, प्रतिभू तथा कुल। और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा ॥ १६९ ॥ क्षीण धन वाला भी राजा लेने के अयोग्य धन को न ग्रहण करे और समृद्ध भी (राजा) उचित थोड़े धन को भी न छोड़े ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्। दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥१७१॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात्। बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥१७२॥

अर्थ-अग्राह्य के ग्रहण तथा ग्राह्य के त्याग से राजा की दुर्बलता (ढील) प्रसिद्ध हो जाती है। इस कारण वह इस लोक और परलोक में नष्ट होता है ॥१७१॥ (न्यायोचित) धन के ग्रहण करने और वर्णों के नियम में रखने और निर्बलों के संरक्षण से राजा को बल होता है। इस से वह (राजा) इस लोक तथा परलोक में वृद्धि पाता है ॥ १७२ ॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये। वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः। अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥

अर्थ-इस लिये यमराज के तुल्य राजा जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर अपने प्रिय अप्रिय को छोड़कर यमराज (न्यायी ईश्वर) के सी (सब में सम) वृत्ति से वर्ते ॥१७३॥ जो राजा अज्ञानवश अधर्म से व्यावहारिक कार्य करता है, उस दुष्टात्मा को थोड़े ही दिनों में शत्रु वश में कर लेते हैं ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति। प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः॥१७५॥ यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ १७६॥

अर्थ–जो ( राजा ) काम क्रोधों को छोड़ कर धर्म के कार्यों को देखता है, प्रजा उस के अनुकूल रहती है, जैसे समुद्र के नदियां॥१७५॥ जो अधमर्ण स्वतन्त्रता से अपना रुपया वसूल करते हुवे उत्तमर्ण की राजा से सूचना ( शिकायत ) करे, उस अधमर्ण से राजा वह रुपया और उस का चतुर्थांश दण्ड अधिक दिलावे॥ १७६॥

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः। समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥१७७॥ अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्। साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥१७८॥

अर्थ–समान जाति वा हीन जाति ( क़रज़दार, महाजन का रुपया न देसके तौ ) काम करके पूरा करदेवे और उत्तम जाति धीरे २ रुपया दे देवे॥१७७॥ राजा परस्पर झगड़ा करने वाले मनुष्यों के मुक़द्दमे काग़ज़ आदि और गवाहों से ऐसे बराबर न्याय को प्राप्त करे॥ १७८॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि। महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥१७९॥ यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः। स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथाग्रहः॥ १८०॥

अर्थ–सत्कुल में उत्पन्न हुवे, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्यभाषण करनेवाले, बड़े पक्ष वाले, धनवान्, आर्य के पास बुद्धिमान् पुरुष धरोहर रक्खे॥१७९॥ जो मनुष्य जिस प्रकार जिस द्रव्य को जिस के हाथ रक्खे, उस को उसी प्रकार ग्रहण कराना योग्य है। जैसा देना, वैसा लेना,॥१८०॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति। स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ॥१८१॥ साक्ष्यऽभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः। अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः॥१८२॥

अर्थ–जो धरोहर रखने वाले की धरोहर मांगने पर नहीं देता, उस से न्यायकर्त्ता राजपुरुष धरोहर रखने वाले के पीछे (सामने नहीं) मांगे॥१८१॥

यदि धरोहर रखने वाले का कोई साक्षी न हो तो राजा अपने नौकरों से जो कि अवस्था और स्वरूप से भले मानुष प्रतीत हों, उन के हाथ बहाने बनवा कर ( कि हमारे धन की धरोहर रख लीजिये, हमारे यहां इस की रक्षा नहीं हो सकती इत्यादि ) अपना धन उस धरोहर न देने वाले के यहां रखवावे जैसे कि ठीक २ धरोहर रक्खी जाती हैं ॥ १८२ ॥

सयदिप्रतिपद्येत यथान्यस्तंयथाकृतम् । न तत्र विद्यते किञ्चि-द्यत्परैरभियुज्यते ॥१८३॥ तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथा-विधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

अर्थ–यदि वह (राजा का भेजा हुवा पुरुष) ज्यों का त्यों अपनी धरोहर मांगने से पा जावे तो राजा जानले कि और लोगों ने जो धरोहर न देने की नालिश (अभियोग) की है, उन का उस पर कुछ नहीं चाहिये ॥१८३॥ और यदि उन ( राजपुरुषों ) का यथाविधि धरोहर न देवे तो राजा पकड़वा कर उस से दोनों को दिलावे (अर्थात् पहिली भी नालिश सच समझे) यह धर्म का निर्णय है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते ता-वनिपाते त्वनाशिनौ ॥१८५॥ स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यन-न्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥

अर्थ–धरोहर और मँगनी धरने और देने वाले के वारिसों को न दे और यदि धरने वाला और मँगनी देने वाला विना अपने वारिसों को कहे मर जावे तो वे धरोहर और मँगनी नष्ट होजाती हैं, परन्तु जीवते हुवे अविनाशी हैं ॥१८५॥ जो स्वयं ही मरे हुवे के वारिसों को रखने वाला उस का धरोहर वा मँगनी का धन दे देवे तो राजा और धरोहर वाले वारिसों को कुछ रोक टोक ( मदाख़लत ) करनी योग्य नहीं है ॥ ॥१८६॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥ निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्प-रिसाधने । समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥१८८॥

अर्थ-यदि उस के पास द्रव्य हो तौ छलरहित प्रीतिपूर्वक ही लेना चाहे वा इस का वृत्तान्त समझ कर सीधेपन से ही उस से प्राप्त (बरामद) करे ॥१८७॥ इन सब धरोहरों में सही करने की यह विधि है। और (मुहर) चिन्हसहित दिये हुवे में यदि कुछ मुहर (चिन्ह) को हरण न करे तौ कुछ शङ्का नहीं पाई जाती ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा। न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्त्तारमऽनिक्षेप्तार-मेव च। सर्वैरुपायैरऽन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ-जो चोरों ने चुराया और जो पानी में डूब गया तथा आग में जल गया, वह द्रव्य धरनेवाला न देवे, यदि उस में से उस ने स्वयं कुछ नहीं लिया है तौ ॥ १८९ ॥ धरोहर के हरण करने वाले और धरोहर विना रक्खे मांगने वाले को राजा सम्पूर्ण ( सामादि ) उपायों और वैदिक शपथों ( हलफ़ों ) से पता लगाने का उद्योग करे ॥ १९० ॥

योनिक्षेपंनार्पयति यश्चानिक्षिप्ययाचते। तावुभौ चौरवच्छा-स्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥ निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम्। तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अर्थ-जो धरोहर नहीं देता और जो विना रक्खे जाल करता है वे दोनों चोर के समान दण्ड देने योग्य हैं वा उस धन के समान जुरमाना देने योग्य हैं ॥१९१॥ धरोहर (अमानत) हरण करने वाले को राजा उसी के समान दण्ड देवे तथा पूर्वोक्त उपनिधि के हरण करने वाले को भी यह दण्ड देवे ॥१९२॥

उपधाभिश्चयःकश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः। ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशंविविधैर्वधैः ॥१९३॥ निक्षेपोयः कृतो येन यावांश्चकुल सन्निधौ। तावानेव स विज्ञेयोविब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

अर्थ-("तुम पर राजा अप्रसन्न है, उस से हम तुम को बचाते हैं, हमको धन दो" इत्यादि धोखा वा दबाव) उपधा देकर दूसरे का धन जो कोई लेताहै वह सहायकों सहित नाना प्रकार की ताड़ना देकर प्रत्यक्ष मारने योग्य है ॥१९३॥ जो सुवर्णादि जितना जितने साक्षियों के सामने धरोहर रक्खा हो

उस में (तौल का बखेड़ा होने पर) साक्षी जितना कहे, उतना ही जानना चाहिये ( उस में ) तकरार करने वाला दण्ड धरने योग्य है ॥ १९४ ॥

मिथोदायःकृतोयेन गृहीतोमिथएव वा। मिथएव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥१९५॥निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च। राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१९६॥

अर्थ-जिस ने एकान्त में धरोहर रक्खी और लेने वाले ने भी एकान्त में ली हो, वह एकान्त ही में देने योग्य है। जैसे लेवे वैसे देवे ॥१९५॥ धरोहर का धन और प्रीति से उपभोग के लिये रक्खे धन का राजा धरोहरधारी को पीड़ा न देता हुवा ऐसे निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।न तंनयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥ अवहार्योभवेच्चैव सान्वयः षट्शतंदमम्।निरन्वयोऽनपसरःप्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥१९८

अर्थ-दूसरे की वस्तु जिसने विना स्वामी की आज्ञा के वेची हो, अपने को साहु मानने वाले उस चोर को साक्षी न करे ॥ १९७ ॥ दूसरे की वस्तु का वेचने वाला यदि धनस्वामी के वंश में हो तो उसे छः सौ पण दण्ड दे और यदि सम्बन्धी न हो तथा वेचने को प्रतिनिधि ( मुख़ार ) न हो तो चोर के समान अपराधी है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतोयस्तु दायोविक्रयएव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयोव्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

अर्थ-विना स्वामी जो दिया तथा वेचा, वह सब व्यवहार की जैसी मर्यादा है तदनुसार दिया वा वेचा नहीं समझा जावे॥

( १९९ से आगे १३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ अनेन विधिना शास्ता कुर्वन्नस्वामिविक्रयम्।
अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति ] ॥

उक्त विधि से राजा अस्वामिविक्रयकर्त्ता को शासन करे यदि विना जाने किसी ने अस्वामिविक्रय किया हो, परन्तु जान बूझ कर करने वाला चोर के तुल्य दण्ड योग्य है॥१९९ में "दायोविक्रयएववा=क्रयोविक्रयएववा १ पाठभेद भी चार पुस्तकों में देखा जाता है ) ॥ १९९॥

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

अर्थ-जिस वस्तु का संभोग तो देखा जाता हो और क्रयादि आगम नहीं, वहां आगम प्रमाण है, संभोग नहीं। यह शास्त्र की मर्यादा है (अर्थात् जिस ने जिस वस्तु को ख़रीदने आदि के उचित [ जाइज़ ] द्वार से नहीं पाया, केवल भोग रहा है, उस में ख़रीदने आदि से प्राप्त करने वाला ठीक समझा जायगा। भोक्ता नहीं ) ॥ २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ। क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥ अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रय शोधितः। अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२॥

अर्थ-जो कुल के सामने वेचने से ख़रीद कर कुछ धन ग्रहण करे, वह ख़रीदारी को सिद्ध करके राजा के न्याय से उस धन को पाता है ॥२०१॥ विना स्वामी वेचने वाले से प्रत्यक्ष ख़रीद करने वाला शुद्ध पुरुष यदि वेचने वाले को न भी ला सके तो भी राजा का अदण्ड्य है। परन्तु नष्ट धन का स्वामी उस धन को ( ख़रीदने वाले से ) पाता है ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥२०३॥

"अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्यावोढुः कन्या प्रदीयते।

उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥२०४॥

अर्थ-एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तो भी उस को उस के धोके से वेचना योग्य नहीं है और न सड़ी हुई, न तोल में कम और न विना दिखाये ढकी को वेचना योग्य है ॥२०३॥ "ठहराव में किसी और कन्या को दिखलावे और विवाह समय वर को अन्य कन्या देदे तो वे दोनों कन्यायें एक ही ठहराये मूल्य पर विवाह ले, ऐसा मनु ने कहा था" (मनु ने कन्या विक्रय वर्जित किया है, इस लिये भी यह वचन मनु का नहीं माना जा सकता) ॥२०४॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना। पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥ ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्। तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥२०६॥

अर्थ-पगली, कोढ़िन और योनिविद्धा कन्या के दोषों को प्रथम न बता कर कन्या का दाता दण्ड के योग्य है ॥ २०५ ॥ यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक् (बीमारी आदि से) कुछ कर्म करके छोड़ दे तो उस को काम किये के अनुसार कर्त्ताओं के साथ दक्षिणा का अंश देना योग्य है ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्। कृत्स्नमेव लभेतांश-मन्येनैव च कारयेत्॥२०७॥यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः। सएव ता आददीत भजेरन्सर्वएव वा॥२०८॥

अर्थ-दक्षिणा देदेने पर (याजक व्याधि आदि से पीड़ित होने के कारण) अपने कर्म को समाप्त न करे तो संपूर्ण दक्षिणा पावे और शेष कर्म को दूसरे से करा देवे ॥ २०७ ॥ जिस कर्म में जो प्रत्यङ्ग दक्षिणा कहीं हैं, उन को वही उस कर्म का कर्त्ता लेवे, अथवा बांट कर ग्रहण करलें ॥ २०८ ॥

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्। होता वापि हरेदश्व-मुद्गाता चाप्यनः क्रये॥२०९॥सर्वेषामर्धिनोमुख्यास्तदर्धेना-र्धिनोऽपरे। तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः॥२१०॥

अर्थ-आधान में रथ को अध्वर्यु ग्रहण करे और ब्रह्मा अश्व को और होता भी अश्वको और उद्गाता सोमक्रय धारण करने के लिये शकट (गाड़ी) को ग्रहण करे ॥ २०९ ॥ संपूर्णों में दक्षिणा का आधा भाग लेने वाले (चार) मुख्य ऋत्विज् होते हैं और उस से आधी दक्षिणा ग्रहण करने वाले दूसरे (चार) ऋत्विज् होते हैं। ऐसे ही तीसरे भाग को ग्रहण करने वाले (चार) और चतुर्थ को ग्रहण करने वाले (चार, ऐसे सोलह ऋत्विक् होते हैं)॥२१०॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः। अनेन विधियो-गेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना॥२११॥धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचि-द्याचते धनम्। पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्नदेयं तस्यतद्भवेत्॥२१२॥

अर्थ-मिल कर काम करने वाले मनुष्यों को यहां इस विधि से बांट करना योग्य है ॥ २११ ॥ जिस ने किसी मांगने वाले को धर्मार्थ जो धन दे दिया, फिर वह उस का दुबारा दान नहीं कर सकता क्योंकि वह दिया हुवा धन उस का नहीं रहा ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः। राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम्॥२१४॥

अर्थ-यदि दान किये हुवे धन को लोभ से वा अहङ्कार से छीने तौ राजा उस चोरी की निष्कृति को "सुवर्ण" का दण्ड दे॥ २१३॥ यह दिये हुवे के उलट फेर करने का ठीक २ धर्मानुकूल निर्णय कहा। इस के उपरान्त वेतन (तन्ख़ाह) न देने का निर्णय करता हूं॥ २१४॥

भृतोनार्त्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्। स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्॥२१५॥ आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभतैव वेतनम्॥२१६॥

अर्थ-जो नौकर विना बीमारी के अहङ्कार से कहे हुवे काम को न करे, वह आठ "कृष्णल" दण्ड के योग्य है। और वेतन भी उस को न देवे ॥२१५॥ यदि व्याध्यादि पीडारहित नौकर जैसा काम कहा वैसा ठीक ठीक करता रहे तौ बीमार होने पर बहुत दिन का भी वेतन पावे॥ २१६॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः॥२१७॥ एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनाऽदानकर्मणः। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥ २१८॥

अर्थ-जो काम जैसा ठहरा हो वैसा स्वयं बीमार हो और दूसरे से भी न करावे या स्वस्थ (तन्दुरुस्त) हुवा आप न करे तौ उस के थोड़े ही काम शेष रहने पर भी सब काम का वेतन न देना चाहिये॥२१७॥ वेतन के न देने का यह संपूर्ण धर्म कहा, अब इस के आगे प्रतिज्ञाभेदियों का धर्म कहता हूं:-॥२१८॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्। विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥२१९॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्। चतुःसुवर्णान्षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम्॥२२०॥

अर्थ-जो मनुष्य ग्राम वा देश के समूहों का सत्य से समय (इक़रार, प्रतिज्ञा, ठेका वा पट्टा) करके लोभ के कारण उस को छोड़ देवे तौ उस को राजा राज्य से निकाल दे॥२१९॥ और उक्त समयव्यभिचारी को पकड़वा कर राजा चार सुवर्ण और छः निष्क और १ चांदी का शतमान दण्ड दे॥२२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः । ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् २२१ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् । सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥२२२॥

अर्थ-धार्मिक राजा ग्राम और जाति के समूहों में प्रतिज्ञा के व्यभिचार करने वालों को ऐसे दण्ड देवे ॥२२१॥ कोई द्रव्य ख़रीद कर वा बेच कर दश दिन के बीच में पसन्द न हो तो वापिस करदे और ले सकता है ॥२२२॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानिषट् ॥२२३॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥२२४॥

अर्थ-दश दिन के ऊपर न देवे न दिलावे, नहीं तो देने और लेने वाले दोनों राजा से ६०० पण के दण्डयोग्य हैं ॥ (२२३ से आगे दो पुस्तकों में ३ श्लोक तथा एक पुस्तक में पहला एक ही श्लोक अधिक है । परन्तु कुछ विशेष प्रयोजनीय नहीं होने से हमने उद्धृत नहीं किये ) ॥ २२३ ॥ जो दोष वाली कन्या का विना कहे विवाह करता है, उस पर राजा आप ९६ पण दण्ड करे ॥२२४॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयाद्दण्ड तस्या दोषमदर्शयन् ॥२२५॥ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु क्वचिन्नॄणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥२२६॥

अर्थ-जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या ( दुष्टा ) कहे. वह सौ पण दण्ड पावे, यदि उस के कन्यात्वभङ्ग के दोष को न सिद्ध करे ॥२२५॥ क्योंकि मनुष्यों के पाणिग्रहणसम्बन्धी वैदिक मन्त्र कन्या के ही विषय में कहे हैं, अकन्या के विषय में कहीं नहीं । क्योंकि विवाह के पूर्व दूषित कन्याओं की धर्मक्रिया लुप्त हो जाती है ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥२२७॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् । तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

अर्थ-पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय दार (स्त्री) हो जाने के लक्षण हैं। इन मन्त्रों की समाप्ति सप्तपदी के ७ वें पद में विद्वानों को जाननी चाहिये

॥ २२७ ॥ जिस जिस किये काम में पीछे पसन्द न हो उस को राजा इस (उक्त) विधि से धर्ममार्ग में स्थापन करे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे। विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः॥२२९॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे। योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्॥२३०॥

अर्थ—पशुओं के विषय में पशुस्वामी और पशुपालों के बिगाड़ में यथावत धर्मतत्त्व के विवाद कहता हूं-॥ २२९ ॥ दिन में चरवाहे पर और रात्रि में स्वामी के घर में स्वामी पर जवाबदेही है। और कुछ चारे की कमी आदि हो तो भी जवाबदेह चरवाहा हो ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्। गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः॥२३१॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्। हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥२३२॥

अर्थ—जो गोपाल दूध पर ही भृत्य हो, वह स्वामी की अनुमति से १० गौओं में श्रेष्ठ १ गौ को भृति (तनख़ाह) के लिये दोहन करले, वही उस का वेतन है। (उसी एक गौ के दोहन से दश गाय का पालन करे) ॥२३१॥ जो पशु खोया जावे वा कीड़े पड़कर ख़राब हो जावे, कुत्तों से मारा जावे या पांव ऊपर नीचे पड़ने से मर जावे, या पुरुषार्थहीन हो जावे तो (स्वामी को) गोपाल ही पशु देवे ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति। यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥२३३॥ कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्। पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत्॥२३४॥

अर्थ—यदि चोर ज़बरदस्ती छीन लें तो गोपाल को (पशु देना) योग्य नहीं है, यदि अपने स्वामी से उस का वृत्तान्त उचित देश काल में कह दे ॥२३३॥ और यदि स्वयं पशु मर जावे तो उन के अङ्ग स्वामी को गोपाल दिखला दे और कान, त्वचा, बाल, बस्ति, स्नायु और रोचना; स्वामी को देदेवे ॥२३४॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति। यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत्किल्बिषं भवेत्॥२३५॥ तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने। यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥२३६॥

अर्थ—बकरी और भेड़ को भेड़िये रोकलें और चरवाहा छुड़ाने को न जावे, इस पर जिन को भेड़िया मार डाले, उन का पातक चरवाहे को हो ॥ २३५ ॥ परन्तु यदि उन (चरवाहे से) घेरी हुई बकरी भेड़ों को एकाएक आकर भेड़िया मार डाले तौ उस का पातकी चरवाहा न हो ॥ २३६ ॥

धनुःशतंपरीहारोग्रामस्य स्यात्समन्ततः । शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणोनगरस्य तु॥२३७॥ तत्राऽपरिवृतंधान्यं विहिंस्युः पशवोयदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम्॥२३८॥

अर्थ—ग्राम के आस पास चार सौ हाथ वा ३ वार लाठी फैंकने की दूरी तक छुटी भूमि (परिहार) और नगर के आस पास उस की तिगुनी रखनी उचित है ॥ २३७ ॥ उस परिहार स्थान में बाड़रहित धान्य को यदि पशु नष्ट करें तौ राजा चरवाहों को दण्ड न करे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥२३९॥ पथिक्षेत्रेपरिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ—उस खेत के बचाने को इतनी ऊंची (कांटों की) बाड़ करे जिस में ऊंट न देख सके और बीच के छिद्र रोके, जिन में कुत्ते और सुवर का मुख न जा सके ॥२३९॥ बाड़ दिये हुवे मार्ग के पास के क्षेत्र में वा ग्रामसमीपवर्त्ती क्षेत्र में यदि चरवाहा साथ होने पर पशु खेत चरें तौ चरवाहा १०० पण दण्ड के योग्य है और विना चरवाहे पशुओं को खेत का रखवाला हांकदे ॥२४०॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति।सर्वत्र तु सदोदेयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा । सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत्॥२४२॥

अर्थ—अन्य खेतों को पशु भक्षण करे तौ चरवाहा सपाद (सवा) पण दण्ड के योग्य है और सब जगह जितनी हानि हुई हो उतनी खेत वाले को दे, यह निश्चय है ॥२४१॥ दश दिन के भीतर की वियाई हुई गाय, सांड, देवतासंबन्धी पशु (जो देवकार्य हवनार्थ घृतादि सम्पादनार्थ गौ आदि पाले रहते हों) के रखवाले के साथ वा विना पशुपाल के किसी का खेत खाने पर (मुक्त) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डोभागाद्दशगुणोभवेत। ततोऽर्धदण्डोभृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥२४३॥ एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवी पतिः। स्वामिनांचपशूनांच पालानांचव्यतिक्रमे।२४४।

अर्थ यदि खेत वाले के अपने पशु खेत चरें तो उस को राजभाग से दशगुणा दण्ड हो और खेती वाले के अज्ञान से नौकरों की रक्षा में पशु भक्षण करें तो उस से आधा दण्ड हो ॥२४३॥ स्वामी और पशु तथा चरवाहे के अपराध में धार्मिक राजा इस प्रकार विधान करे ॥२४४॥

सीमांप्रतिसमुत्पन्नेविवादेग्रामयोर्द्वयोः।ज्येष्ठेमासिनयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थ किंशुकान्। शाल्मलीन्शालतालांश्चक्षीरिणश्चैव पादपान् ।२४६

अर्थ—दो ग्रामों की सरहद्द के झगड़े उत्पन्न होने पर ज्येष्ठ मास में जब तृणादि शुष्क होने से सरहद्द के चिह्न सुप्रकाशित हों तब उस का निश्चय करे ॥ २४५ ॥ सीमा ( सरहद्द ) का चिह्न वट, पीपल, पलाश, सेंभर, साल और ताल तथा अन्य दूध वाले वृक्ष स्थापित करे ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्चविविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च। शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥२४७॥तडागान्युदपानानिवाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानिच।२४८

अर्थ—गुल्म, नाना प्रकार के बांस, शमी, वल्लीस्थल, शर और कुब्जकगुल्म स्थापित करे, जिस से सीमा नष्ट न हो ॥२४७॥ तड़ाग, कूप, बावड़ी, झरना और यज्ञमन्दिर सीमा के जोड़ों पर बनावे (जिस से कि बहुत से मनुष्य जलपानादि करने तथा यज्ञार्थ परम्परा से सुन के आते रहें, इसी से वे सब साक्षी हों ) ॥२४८॥

उपच्छन्नानिचान्यानि सीमालिङ्गानिकारयेत्।सीमाज्ञानेनृणां वीक्ष्य नित्यं लोकेविपर्ययम्॥२४९॥अश्मनोऽस्थीनिगोवालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः।करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करावालुकास्तथा ॥२५०॥यानिचैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्नभक्षयेत्।तानिसन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा

विवदमानयोः। पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥२५२॥

अर्थ—सीमा निर्णय में सर्वदा इस लोक में मनुष्यों को भ्रम देख कर अन्य गूढ सीमाचिन्ह भी स्थापित करावे ॥२४९॥ पत्थर, हड्डी, गोबाल, तुष, भस्म, खपड़ा, आरना, ईंट, कोयला, शर्करा और बालु ॥२५०॥ और जोकि इस प्रकार की वस्तु हों, जिन्हें बहुत दिनों में भी भूमि न खा जावे, उनको सीमा की सन्धियों में गुप्त करावे, ॥२५१॥ राजा इन चिन्हों और पूर्वभोग तथा नदी आदि से जल के मार्ग इत्यादि चिन्हों से लड़ने वालों की सीमा का निर्णय करे ॥२५२॥

यदि संशयएवस्याल्लिङ्गानामपि दर्शने। साक्षिप्रत्ययएवस्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥ ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः। प्रष्टव्याःसीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥

अर्थ—चिन्हों के देखने पर भी संशय रहे तो साक्षी के प्रमाण से सीमाविवाद का निश्चय करे ॥२५३॥ ग्राम के कुलों और वादी प्रतिवादियों (मुद्दई मुद्दा-लह) के समक्ष सीमा में साक्षियों से सीमा के चिन्ह पूछने योग्य हैं ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताःसीम्नि निश्चयम्। निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैवनामतः२५५शिरोभिस्तेगृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः।सुकृतैःशापिताःस्वैःस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥

अर्थ—सीमा के विषय में निश्चय के लिये वे पूछे हुवे लोग जैसा कहें वैसे ही सब सीमा को बांधे और उन सब साक्षियों के नाम लिखले ॥ २५५ ॥ वे साक्षी फूलों की माला और लाल कपड़ा पहिर कर शिर पर मिट्टी के ढेले उठा कर कहें कि जो हमारा सुकृत है सो निष्फल हो जो हम असत्य कहें ॥२५६॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः। विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याःस्युर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥ साक्ष्यभावेतुचत्वारोग्रामाःसा-मन्तवासिनः। सीमाविनिर्णयंकुर्युः प्रयताराजसन्निधौ॥२५८॥

अर्थ—वे सत्यप्रधान साक्षी शास्त्रोक्त विधि से निर्णय में सहायक रह कर निष्पाप होते हैं। और असत्य से निश्चय कराने वालों को दो सौ पण दण्ड दिलावे ॥ २५७ ॥ साक्षी के अभाव में आस पास के ज़मींदार ४ ग्राम के निवासी धर्म से राजा के सामने सीमा का निर्णय करें ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्। इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् २५९ व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान्। व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः २६०

अर्थ-सामन्त=आस पास के जड़ साक्षियों के अभाव में इन वनचर पुरुषों को भी साक्षी करले:-॥ २५९ ॥ व्याध, शाकुनिक, गोप, कैवर्तक, मूल खोदने वाले और सपेरे तथा उञ्छवृत्ति और दूसरे वनचारियों को ॥२६०॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम्। तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च। सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

अर्थ-वे पूछे हुवे लोग जैसे सीमासन्धि का लक्षण बतावें, राजा धर्म से दोनों ग्रामों के बीच में सीमा का वैसे ही स्थापन करे ॥ २६१ ॥ क्षेत्र, कूप, तड़ाग, बाग़ और गृहों के सीमासेतु के निर्णय में सामन्त=समीपवासियों की प्रतीति करे ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्। सर्वे पृथक्पृथग् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥ गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः ॥२६४॥

अर्थ-विवाद करने वाले मनुष्यों के सेतु निर्णय में यदि सामन्त झूठ बोलें तो राजा सब को "मध्यमसाहस" ७॥।-) अलग २ दण्ड दे ॥ २६३ ॥ घर तड़ाग बाग़ वा क्षेत्र को भय देके जो हरण करे उस को पांच सौ पण दण्ड दे और अज्ञान से हरण करने में दो सौ पण दण्ड दे ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

अर्थ-सीमा का कोई पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर धर्म का जानने वाला राजा स्वयं ही उपकार से इन की भूमि बांट दे। यह मर्यादा है ॥

( २६५ से आगे यह श्लोक दो पुस्तकों में अधिक है:-

[ ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ] ॥२६५॥

एषोऽखिलेनाभिहितोधर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

अर्थ–यह संपूर्ण सीमानिश्चय का धर्म कहा, अब वाणी की क्रूरता (गाली) का निर्णय कहता हूं ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियोदण्डमर्हति । वैश्योप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु बधमर्हति ॥ २६७ ॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणोदण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशकोदमः ॥ २६८ ॥

अर्थ–ब्राह्मण को गाली देने से क्षत्रिय सौपण दण्डयोग्य है । और वैश्य भी डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड, और शूद्र तो (बेंत आदि से) पीटने योग्य है ॥२६७॥ और ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली दे तो पचास पण, वैश्य को गाली दे तो पचीस पण और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्डयोग्य है ॥२६८॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

अर्थ–द्विजातियों को अपने समान वर्ण में गाली आदि देने पर बारहपण दण्ड दे (मा बहिन की गाली आदि) न कहने योग्य गाली प्रदानादि में उस का दूना (२४पण दण्डदे)॥इससे आगे ३ पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:–

[विप्रक्षत्रियवत्कार्यो दण्डोराजन्यवैश्ययोः । वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रेयः क्षत्रशूद्रयोः । समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाःराजन्यवैश्यशूद्राणां घनवर्जमितिस्थितिः] ॥२६९॥

"एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवोहि सः ॥२७०॥"

अर्थ–"यदि शूद्र द्विजातियों को गाली दे तो जीभ के छेदन का दण्ड प्राप्त हो क्योंकि वह निकृष्ट से उत्पन्न है" (यह दो सौ ६८ के विरुद्ध है)॥२७०॥

"नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । निक्षेप्योयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः॥२७१॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः । तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥"

अर्थ—"जो शूद्र द्विजातियों के नाम और जाति का उच्चारण करें उसके मुह में जलती हुई दश अङ्गुल की लोहे की कील ठोकनी चाहिये।२७१।जो शूद्र अहङ्कार से ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश करे, उस के मुख और कान में राजा गरम तैल डलवावे ॥ ( ये दोनों श्लोक भी २७० के तुल्य उसी शैली के हैं ) ॥ २७२ ॥"

श्रुतं देशं च जातिं च कर्मशारीरमेव च। वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥२७३॥ काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्। तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् २७४

अर्थ—श्रुत=पढ़ाई=और देश तथा जाति और शारीरक कर्म झूंठ बतलाने वाले को राजा दो सौ पण दण्ड दे ॥ २७३ ॥ काणा तथा लङ्गड़ा और अन्य कोई इसी प्रकार का अङ्गहीन हो, उस को सच भी उसी दोष से पुकारने वाला एक " कार्षापण " तक दण्ड के योग्य है ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्। आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः॥२७५॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता । ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥२७६॥

अर्थ—माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र और गुरु को अभिशाप=गाली देने तथा गुरु को मार्ग न छोड़ने वाला सौ पण दण्ड के योग्य है ॥२७५॥ ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली गलौज करने में धर्म का जानने वाला राजा दण्ड करे तो उस में ( ब्राह्मण का अपराध हो तो ) ब्राह्मण को " प्रथम साहस " तथा क्षत्रिय को " मध्यम साहस " दण्ड दे ॥ २७६ ॥

" विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥२७७॥ "

"अर्थ—वैश्य शूद्रों को आपस में इसी प्रकार गाली गलौज करने में अपनी २ जाति के प्रति ठीक२ छेदरहित दण्ड का प्रयोग करे। इस प्रकार निर्णय है ॥"

(२७७ का कथन यहां अस्तव्यस्त है । प्रथम तो वैश्य शूद्रों के गाली देने का कथन है, फिर स्वजाति का वर्णन है। परन्तु स्वजाति में शूद्र को जिह्वा-छेद दण्ड का विधान प्रक्षिप्त २७० में भी नहीं । इस लिये स्वजाति में जिह्वा-छेदवर्ज कहना व्यर्थ है । तथा दण्ड का ब्योरा भी इस श्लोक में नहीं है ॥

इन कारणों से यह श्लोक २७० के तुल्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है। इस के आगे भी एक श्लोक है जो कि केवल दो पुस्तकों में पाया जाता है। यथा-

[ पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥ ]

(व्यवहारमयूख में इस को नारद का वचन बताया है ) ॥ २७७ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तोवाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥

अर्थ-यह वाक्पारुष्य की ठीक २ दण्डविधि कही। अब दण्डपारुष्य विधि ( मार पीट का निर्णय ) कहता हूं ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः। छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥२७९॥ पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदन मर्हति। पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

अर्थ-अन्त्यज लोग जिस किसी अङ्ग से द्विजातियों को मारें, उन का वही अङ्ग कटवाना चाहिये। यह (मुझ) मनु का अनुशासन है ॥ २७९ ॥ हाथ वा लाठी उठा कर मारें तो हाथ काटना योग्य है ( न कि लाठी, काटी जावे ) और क्रोध से लात मारें तो पैर काटना योग्य है ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः। कट्यांकृताङ्कोनिर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥२८१॥ अवनिष्ठीवतोदर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः। अवमूत्रयतोमेढ्रमवशर्धयतोगुदम् ॥ २८२ ॥

अर्थ-उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कटी(कमर)में(दाग़) चिन्ह करके निकाल दे वा उस के चूतड़ को थोड़ा कटवा देवे (जिस में मरे न) ॥२८१॥ अहङ्कार से नीच-उच्च के ऊपर थूके तो राजा उस के दोनों होठ काटे और उस पर मूत्र डाले तो लिङ्ग और पादे तो उस की गुदा का छेदन करे ॥२८२॥

केशेषु गृह्णतोहस्तौ छेदयेदऽविचारयन्। पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥२८३॥ त्वग्भेदकःशतं दण्ड्योलोहितस्य च दर्शकः। मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः॥२८४॥

अर्थ—अहङ्कार से ( मारडालने का ) बाल पकड़ने वाले के दोनों हाथों को विना विचारे ( शीघ्र ) कटवादे और पैर, डाढ़ी, ग्रीवा तथा अण्डकोश को (मारडालने के विचार से) पकड़ने वाले के भी (हाथ कटवा दे) ॥२८३॥ त्वचा का भेद करने वाले पर सौ पण दण्ड करना चाहिये और रक्त निकालने वाले को भी सौ पण दण्ड दे तथा मांस के भेदन करने वाले को छः "निष्क" दण्ड दे और अस्थिभेदक को देश से निकाल दे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा। तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति। यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा २८६॥

अर्थ—सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग करे वैसा २ हिंसा (हानि) में दण्ड दिया जावे। यह मर्यादा है २८५। मनुष्यों और पशुओं को पीड़ा के लिये प्रहार करने पर जैसे २ पीड़ाऽऽधिक्य हो वैसे २ दण्ड भी अधिक करे ॥२८६॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा। समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा। स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

अर्थ—अङ्गों ( चरणादि ) और व्रण तथा रक्त की पीड़ा होने पर चोट करने वाला स्वस्थ होने का सम्पूर्ण ख़र्च दे अथवा पूर्ण दण्ड दे ॥ २८७ ॥ जो जिस की वस्तु का जान कर वा बेजाने नुक़सान करे, वह उस को प्रसन्न करे और राजा को उसी के बराबर दण्ड दे ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च। मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥२८९॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च। दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ—चाम और चमड़े के बने मशकादि वर्त्तन तथा मट्टी और लकड़ी की बनी वस्तुओं के मोल से पांच गुणा दण्ड ले। और पुष्प मूल फलों में भी (ऐसा ही करे) ॥२८९॥ सवारी के चलाने वाले तथा स्वामी को दश अवस्थायें ( देखो अगला श्लोक ) छोड़ कर शेष अवस्थाओं में दण्ड कहा है ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक् प्रतिमुखागते। अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥२९१॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्त-

धेत्र च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२९२॥

अर्थ-नाथ के टूटने, जुवे के टूटने, नीचे ऊंचे के कारण टेढे वा अड़ कर चलने, रथ के धुरे टूटने और पहिये के टूटने-॥२९१॥ और बन्धनादि यन्त्र टूटने और गले की रस्सी टूटने, लगाम टूटने पर और "हटो बचो" ऐसा कहते हुवे (सारथि) से कोई किसी का नुक़सान होने पर (सुफ़) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥२९३॥ प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्ड-मर्हति । युग्यस्था: प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥२९४॥

अर्थ-जहां सारथि के कुशल ( होशियार ) न होने से रथ इधर उधर चलता है, उस में हिंसा (नुक़सान) होने पर, स्वामी दो सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ २९३ ॥ और यदि सारथि कुशल हो तो वही ( सारथि ) दो सौ पण दण्ड योग्य है और सारथि कुशल न होते हुवे, यान पर सवार होने वाले सब सौ २ पण दण्ड योग्य हैं ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा । प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥२९५॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् । प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

अर्थ-वह सारथि यदि पशुओं से वा अन्य रथ से रुके हुवे भी रथ को चलावे उस से जीव मरजावें तो उस को विना विचारे दण्ड दे॥२९५॥(सारथि के रथ चलाने से) मनुष्य के मरजाने में चोर का (उत्तम साहस) दण्ड दे और बड़े पशु बैल हाथी ऊंट घोड़ों के मरजाने पर अर्ध (पांच सौ पण) दण्ड दे॥२९६॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥२९७॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्च-माषिकः । माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातिते ॥ २९८ ॥

अर्थ-क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ (पण ) दण्ड हो और अच्छे मृग पक्षियों ( की हिंसा ) में पचास ( पण ) दण्ड हो ॥ २९७ ॥ गधा, बकरी, भेड़ के मरजाने में पांच "माषक" दण्ड और कुत्ते वा सुवर के मरजाने में एक "माषक" दण्ड देवे ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥२९९॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन। अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम्॥३००

अर्थ-भार्या, पुत्र, दास, हलकारा और छोटा सहोदर भाई अपराध करने पर रस्सी वा बांस की छड़ी से ताड़नीय हैं ॥२९९॥ ( परन्तु इन को ) शरीर के पीठ की ओर मारे, शिर में कभी न मारे। इस से विपरीत मारने वाला चोर का दण्ड पावेगा ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः। स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये॥३०१॥ परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः। स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

अर्थ-यह सम्पूर्ण मार पीट का निर्णय कहा। अब चोर के दण्ड का निर्णय कहता हूं ॥ ३०१ ॥ राजा चोरों के निग्रह के लिये बड़ा यत्न करे। चोरों के निग्रह से इस का यश और राज्य बढ़ता है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः। सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाऽभयदक्षिणम् ॥३०३॥ सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

अर्थ-जो अभय का देने वाला राजा है, वह सदा पूज्य है। उस का यह सत्र ( यज्ञ ) अभय रूपी दक्षिणा से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ३०३ ॥ रक्षा करने वाले राजा को सब से धर्म का छठा भाग और रक्षा न करने वाले राजा को भी सब से अधर्म का छठा भाग मिलता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति। तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्। यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः॥३०६॥

अर्थ-जो कोई वेदपाठ, यज्ञ, दान, गुरुपूजनादि करता है, उस का छठा भाग अच्छे प्रकार रक्षा करने से राजा पाता है ॥३०५॥ प्राणियों की धर्म से रक्षा करता हुआ और वध्यों को दण्ड देता हुआ राजा मानो प्रतिदिन लक्षदक्षिणायुक्त यज्ञों को करता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः। प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥३०७॥ अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्। तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥ ३०८॥

अर्थ—जो रक्षा न करता हुवा राजा धान्य का छठा भाग, चुङ्गी कर तथा दण्ड का भाग लेता है, वह शीघ्र नरक में जावेगा (४ पुस्तकों में—"प्रतिभोगम्" पाठ है) ॥३०७॥ जो राजा रक्षा नहीं करता और धान्य का छठा भाग लेता है, उस को सब लोगों का सम्पूर्ण पाप होने वाला कहते हैं ॥३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्। अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम्॥३०९॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः। निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च॥३१०॥

अर्थ—(शास्त्र की) मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले, नास्तिक, अनुचित दण्डादि धन को ग्रहण करने वाले, रक्षा न करने वाले (कर आदि) भक्षण करने वाले राजा को अधोगामी जाने ॥ ३०९ ॥ अधार्मिक पुरुष का तीन उपायों से यत्नपूर्वक निग्रह करे। एक कारागार (हवालात,) दूसरा बन्धन, और तीसरा विविध प्रकार वध (बेत आदि लगवाना) ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च। द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः॥३११॥ क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्। बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥ ३१२॥

अर्थ—पापियों के निग्रह और साधुओं के संग्रह से राजा सदा पवित्र होते हैं। जैसे यज्ञ करने से द्विज॥३११॥ (दुःख से) आक्षेप करने वाले कार्यार्थी तथा बाल वृद्ध आतुरों को अपने हित की इच्छा करने वाला राजा क्षमा करे॥३१२॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते। यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति॥३१३॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता। आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्माऽस्मि शाधि माम्॥३१४॥

अर्थ—जो राजा दुःखितों से आक्षेप किया हुवा सहता है वह स्वर्ग में पूजा जाता है और जो ऐश्वर्य के मद से क्षमा नहीं करता, उस से वह नरक को

जाता है ॥ ३१३ ॥ चोरी करने वाला सिर के बाल खोले हुवे और दौड़ता हुवा राजा के पास जाकर उस चोरी को कहता हुवा यह कहे कि मुझे दण्ड दो, मैं इस काम का करने वाला हूं ॥ ३१४ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥३१५॥

अर्थ-खैर की लकड़ी के मूसल वा लट्ठ, वा जिस में दोनों ओर धार हो ऐसी बरछी वा लोहे का दण्डा कन्धे पर उठा कर (कहे कि इस से मुझे मारो। ३१५ से आगे एक पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है । यथा-

[ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ] ॥३१५॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥३१६॥

अर्थ-तब चोर शासन से वा छोड़ देने से चोरी के अपराध से छूट जाता है और यदि राजा उस को दण्ड न दे तो उस चोर के पाप को पाता है ॥३१६॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी। गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ३१७ राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३१८॥

अर्थ-भ्रूणहत्या वाले का पाप उस के अन्न खाने वाले को और व्यभिचारिणी स्त्री का पाप पति को और शिष्य का पाप गुरु को तथा यज्ञ करने वाले का कराने वाले को (उपेक्षा करने से) लगता है। वैसे ही चोर का पाप (छोड़ने से) राजा को होता है ॥३१७॥ पाप करके भी राजा से उचित दण्ड पाये हुवे मनुष्य, निष्पाप होकर स्वर्ग को जाते हैं । जैसे पुण्य करने से सन्त ॥३१८॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम्। स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ३२०

अर्थ-जो कुवे पर से रस्सी और घड़े को चुरावे और जो प्याऊ को तोड़े उस को सोने का एक "माष" दण्ड हो और उस रज्जु और घड़े को उसी

से रखवावे और व्याज को भी वही बनवावे ॥३१९॥ ( बीस द्रोण का एक कुम्भ, ऐसे ) दश कुम्भों से अधिक धान्य का चुराने वाला अधिक वध ( पीटने ) के योग्य है और शेष में उस का ११ गुणा धन दिलवावे ॥ ३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः। सुवर्णरजतादीना-मुत्तमानांचवाससाम्॥३२१॥पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदन-मिष्यते। शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥३२२॥

अर्थ-जैसे धान्य में वध कहा है, वैसे ही (तराजू वा कांटा) तुलादि से तोलनेयोग्यसुवर्ण चांदी आदि और उत्तम वस्त्र चुराने पर भी १०० से अधिकपर दण्ड जानो॥३२१॥ और पचास ( पल ) से ऊपर चुराने से हाथ काटने चाहियें। शेष ( एक से उनंचास तक ) चुराने में उस के मूल्य से ११ गुणा दण्ड देवे॥३२२॥

पुरुषाणांकुलीनानां नारीणांचविशेषतः।मुख्यानांचैवरत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौप-धस्य च। कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत्॥३२४॥

अर्थ-बड़े कुल के पुरुषों और विशेष कर स्त्रियों और अधिक मूल्य के रत्नों के चुराने में वध (देहदण्ड) योग्य है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओं और शस्त्र तथा औषध के चुराने में काल और कार्य को देख कर राजा दण्ड देवे ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने। पशूनां हरणे चैव सद्यःकार्योर्धपादिकः॥३२५॥सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च। दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥३२६॥

अर्थ-ब्राह्मण की गौवों के हरण और नाक काटने और पशुओं के हरण में शीघ्र अर्धपाद के छेदन का दण्ड करे ॥ ३२५ ॥ सूत, कपास, मदिरा की गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, तृण ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च। मृण्मयानां च हरणे मृदोभस्मन एव च॥३२७॥ मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च। मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥३२८॥

अर्थ-बांस की नली और बरतनों, नमक, मट्टी के बरतनों की चोरी और मट्टी, राख-॥३२७॥मछली, पक्षी, तेल, घृत, मांस, मधु और जो कुछ पशु से उत्पन्न होता है-( चाम सींग आदि ) ॥ ३२८ ॥

अन्येषांचैवमादीनामाद्यानामोदनस्य चापक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणोदमः ॥३२९॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च। अन्येष्वपरिपूतेषु दण्ड स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥

अर्थ-और भी इसी प्रकार की खाने की चीज़ों, चावलों के भात और सम्पूर्ण पक्वान्नों की भी चोरी में इन के मूल्य से दूना दण्ड होना चाहिये ॥ ३२९ ॥ पुष्पों और हरे धान्य तथा गुल्म वल्ली वृक्षों और अन्य जिन के तुषादि दूर करके अमनियां नहीं किये गये (उन की चोरी करने वाले को) पांच "कृष्णल" दण्ड हो ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च। निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥ स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्। निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥३३२॥

अर्थ-पवित्र शोधित धान्य और शाक मूल फल के चुराने में, वंशसम्बन्धरहितों को शत १०० दण्ड और वंश में चोर हों तो पचास ५० दण्ड हो ॥३३१॥ जो धान्यादि को सामने बल से कुटुम्बियों के समान छीन लेवे, वह "साहस" है। और (स्वामी के पीछे) ऊपरियों के समान लेवे, वह चोरी है तथा लेकर जो मुकार करे वह भी चोरी ही है ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः। तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥३३३॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते। तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

अर्थ-जो मनुष्य इन बनाई हुई चीज़ों और अग्नि को चुरावे उसको राजा "प्रथम साहस" दण्ड दे ॥३३३॥ जिस २ अङ्ग से जिस २ प्रकार चोर चोरी करता है, राजा उस का आगे को प्रसङ्गनिवारण के लिये वही अङ्ग छिन्न करे ॥३३४॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

अर्थ-पिता आचार्य मित्र माता भार्या पुत्र और पुरोहित; इन में जो स्वधर्म में न रहे, वह राजा को अदण्ड्य नहीं है (दण्डयोग्य है) ॥३३५॥

जिस अपराध में अन्य लोग "कार्षापण" दण्ड के योग्य हैं, उसी अपराध में राजा को "सहस्र पण दण्ड हो" यह मर्यादा है ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥३३७॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुः षष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥

अर्थ-शूद्र को चोरी में अठगुणा पाप होता है, वैश्य को सोलहगुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ॥३३७॥ ब्राह्मण को चौंसठ गुणा, वा पूरा सौ गुणा, वा एक सौ अट्ठाइस गुणा पाप होता है, क्योंकि वह चोरी के दोष गुण जानने वाला है॥३३८॥

"वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्योग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत्" ॥३३९॥
योऽदत्तादायिनोहस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणोधनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥

अर्थ-"वनस्पतिसम्बन्धी मूल फल और जलाने को काष्ठ और गायों के लिये घास, यह चोरी नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है" ॥३३९॥ जो ब्राह्मण चोर के हाथ से यज्ञ कराने और पढ़ाने से भी धन लेने की इच्छा करे, तो जैसा चोर है वैसा ही वह है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके। आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति॥३४१॥असन्धितानां सन्धाता सन्धितानां च मोक्षकः। दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥३४२॥

अर्थ खर्च से तङ्ग मार्ग का चलने वाला द्विज दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली ग्रहण करलेने वाला दण्ड देने योग्य नहीं है ॥३४१॥ खुले हुवे दूसरे के पश्वादि का बांधने वाला और बंधों को खोल देने वाला और दास अश्व और रथ का हरण करने वाला चोर के दण्ड को प्राप्त हो ॥३४२॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्। यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥३४३॥ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्। नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥३४४॥

अर्थ-इस प्रकार चोरों का निग्रह करने वाला राजा इस लोक में यश और परलोक में अनुत्तम सुख को पावेगा ॥ ३४३ ॥ इन्द्र के स्थान की इच्छा करने वाला और अक्षय यश का चाहने वाला राजा साहस करने वाले मनुष्य की क्षण भर भी उपेक्षा न करे (तुरन्त दण्ड दे) ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः। साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः। स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥

अर्थ-वाक्पारुष्य (गाली गलौज) करने वाले, चोर तथा दण्ड द्वारा मारने वाले से "साहस" (ज़बरदस्ती) करने वाले मनुष्य को अधिक पापकारी जाने ॥ ३४५ ॥ साहस करने वाले को जो राजा क्षमा करता है वह शीघ्र विनाश और लोगों में द्वेष को प्राप्त होता है ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्। समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते। द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥३४८॥ आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥

अर्थ-मित्र के कारण वा बहुत धन की प्राप्ति से भी राजा सब लोगों को भय देने वाले साहसी मनुष्यों को न छोड़े ॥३४७॥ ब्राह्मणादि तीन वर्णों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये, जिस समय कि वर्णाश्रमियों का धर्म रोका जाता हो और त्रैवर्णिकों के मध्य विप्लव (बलवे) में ॥ ३४८ ॥ और अपनी रक्षा के लिये, दक्षिणा के छीनने पर, स्त्रियों और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्मानुसार शत्रुओं की हिंसा करने वाला दोषभागी नहीं होता ॥ ३४९ ॥ गुरु वा बालक वा वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण, इन में कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उस को राजा विना विचारे (शीघ्र) मारे ॥

(३५० से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

[ अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥ ]

अग्नि से स्थानादि जलाने वाला, विष देने वाला, ( मारने को ) शस्त्र हाथ में लिये हुवे, धन छीनने वाला, खेत और स्त्री का हरने वाला, ये छः "आततायी" हैं ॥ इस में छः को आततायी कहने से जान पड़ता है कि बस ये ही आततायी हैं, विशेष नहीं। परन्तु किसी ने दो नीचे लिखे श्लोक आततायी के लक्षण के और भी बढ़ा दिये हैं जिन में से पहला ३ और दूसरा २ पुस्तकों में पाया जाता है:-

[ उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ ]

अर्थात्–प्रहारार्थ खड्ग उठाने वाला, विष और अग्नि से मारने वाला, शाप के लिये हाथ उठाता हुवा, अथर्ववेद के मन्त्र से मारने वाला, राजा से झूंठी चुग़ली करने वाला ॥ स्त्रीधन का छीनने वाला, छिद्र ढूंढने में तत्पर इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें ) ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषोहन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥३५१॥ परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः। उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ- लोगों के सामने वा एकान्त में मारने को तैयार हुवे के मारने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वह क्रोध उस क्रोध को प्राप्त होता है ॥ ३५१ ॥ परस्त्रीसंभोग में प्रवृत्त पुरुषों को डराने वाले दण्ड देकर और अङ्ग भङ्ग करके राजा देश से निकालदे ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थोहि लोकस्य जायते वर्णसंकरः। येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥३५३॥ परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः। पूर्वमाक्षारितोदोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ–उसी ( परस्त्रीगमन ) से लोगों में वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं क्योंकि मूल का नाश करने वाला अधर्म सब के नाश करने में समर्थ है ॥३५३॥ पहले दबनाम हुवा पुरुष एकान्त में दूसरे की स्त्री के साथ बात चीत करे तो " प्रथम साहस " दण्ड पावे ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेतकारणात्। न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः॥३५५॥ परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा। नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ–जो पहले से बदनाम नहीं है और किसी कार्य से लोगों के सामने ( परस्त्री से ) बोले, वह दोष को प्राप्त न हो, क्योंकि उस का कोई अपराध नहीं है ॥३५५॥ जो पराई स्त्री से तीर्थ वा अरण्य (जङ्गल) वा वन वा नदी के सङ्गम में संभाषण करे उस को पर स्त्री हरण का अपराध हो ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रियाकेलिः स्पर्शोभूषणवाससाम्। सहखट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ स्त्रियं स्पृशेद्देशे यः स्पृष्टोवा मर्षयेत्तथा। परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५८॥

अर्थ–माला चन्दनादि का भेजना, परिहास, आलिङ्गनादि करना, वस्त्र आभूषण का स्पर्श करना, आसन तथा शय्या पर साथ रहना; इन सब कामों को भी परस्त्रीसंग्रहण के समान कहा है ॥३५७॥ जो परस्त्री को गुह्य स्थान में स्पर्श करे और जो परस्त्री से छुवा हुवा आपस की प्रसन्नता में सहन करे, यह सब परस्त्रीसंग्रहण कहा है॥

३५८ से आगे १ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:–

[ कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत्।
राज्ञा दास्ये नियोज्या सा कृत्वा तद्दोषघोषणम् ]

जो स्त्री काम के वश स्वयं पर पुरुष के समीप जावे तो राजा उस के दोष की मनादी=डिंडिमा पिटवाकर दासियों में नौकर रक्खे ) ॥३५८॥

" अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥"
भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥३६०॥

अर्थ–"ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य जो कोई परस्त्रीसंग्रहण करे वह प्राणान्त दण्डयोग्य है क्योंकि चारों वर्णों की स्त्री सर्वदा बहुत करके रक्षा के योग्य हैं

(यह ३५० के विरुद्ध है) ॥ ३५९ ॥" भिक्षुक, बन्दी, दीक्षित और रसोई करने वाले परस्त्री के साथ निवारण न करने पर संभाषण कर सकते हैं ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत्। निषिद्धोभाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति॥३६१॥नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु। सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥३६२॥

अर्थ-पराई स्त्री के साथ निषेध करने पर बात न करे और करे तौ एक "सुवर्ण" दण्डयोग्य है ॥३६१॥ यह विधि चारण=नट गायकादि की स्त्रियों में नहीं है ( अर्थात् इन से बोलने का निषेध नहीं है ) तथा (पुत्रादि) जो अपने अधीन जीविका वाले हैं, उन में भी नहीं है। क्योंकि ये (चारणादि) छिपे हुवे आप ही स्त्रियों को सज्जित करके पर पुरुषों के साथ मिलाते हैं ॥३६२॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन्। प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहःप्रव्रजितासु च ३६३ योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति। सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥३६४॥

अर्थ-परन्तु उन के साथ भी निर्जन देश में संभाषण करता हुवा कुछ थोड़ा दण्ड देने योग्य है। और एकभक्ता तथा विरक्ता के साथ भी संभाषण करने से थोड़ा दण्ड दे ।३६३॥ जो (हीनजाति) इच्छा न करने वाली कन्या से गमन करे वह उसी समय वध के योग्य है और कन्या की इच्छा से गमन करने वाला सजातीय पुरुष वध के योग्य नहीं है (किन्तु अन्य दण्ड के योग्य है)॥३६४॥

"कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत्। जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे॥३६५॥उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति। शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥३६६॥"

"अर्थ ब्राह्मणादि उत्तम के साथ सङ्गम करने वाली कन्या को थोड़ा भी दण्ड न देवे और हीनजाति से सम्बन्ध करने वाली को रक्षा से घर में रक्खे ॥३६५। उत्कृष्ट जाति वाली कन्या के साथ सङ्गम करने वाला हीनजाति पुरुष वध के योग्य है। और समान जाति में हो तौ सेवन करने वाला, यदि उस कन्या का पिता स्वीकार करे तौ शुल्क (मूल्य) दे" ॥ यह व्यभिचारप्रवर्त्तक है। यदि विवाहविषयक माना जावे तौ दण्ड की आशङ्का भी व्यर्थ है )॥३६६॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः। तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥३६७॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात्। द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥३६८॥

अर्थ-जो मनुष्य बलात्कार से कन्या को घमण्ड से बिगाड़े, उस की दो अङ्गुली शीघ्र काट ली जावें और छः सौ पण दण्ड योग्य है॥ ३६७॥ परन्तु कन्या की इच्छा के साथ बिगाड़ने वाले सजातीय की अङ्गुलियों का छेदन न हो, किन्तु प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये दो सौ पण दण्ड दिलाना चाहिये॥३६८॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः। शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥३६९॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति। अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥३७०॥

अर्थ-और कोई कन्या ही कन्या को (अङ्गुलियों से) बिगाड़े तो उस को दो सौ पण दण्ड होना चाहिये, और कन्या के पिता को (जितना दहेज देना पड़ता, अब क्षतयोनित्व की शङ्का से कदाचित् कोई न विवाहे, इस की कसौंड में देने के लिये) द्विगुण धन दण्डरूप शुल्क देवे और दश बेंत खावे ॥३६९॥ और जो स्त्री कन्या को (अङ्गुली) से बिगाड़े वह उसी समय शिर मुंडाने योग्य है, वा अङ्गुलियों के कटवाने का दण्ड पावे और गधे पर चढ़ा कर घुमानी योग्य है॥ ३७०॥

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता। तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥३७१॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्तआयसे। अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२॥

अर्थ-जो स्त्री प्रबल पिता बान्धव धनादि के अभिमान से पति को छोड़ कर दूसरे से सम्बन्ध करे उस को राजा बहुत आदमियों के बीच में कुत्तों से नुचवावे ॥ ३७१॥ व्यभिचारी पापी मनुष्य को जलते लोहे की चारपाई पर जलावे, सब लोग उस पर लकड़ियां डालें, उन में पाप करने वाला जले॥३७२॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः। व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३॥ शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्। अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४॥

अर्थ—परस्त्रीगमन करते २ हुए पुरुष को एक वर्ष हो जावे तो उस पुरुष को पूर्वोक्त दण्ड से दूना दण्ड होना चाहिये और व्रात्या तथा चण्डाली के साथ रहने में भी दूना दण्ड होना चाहिये ॥ ३७३ ॥ रक्षिता वा अरक्षिता द्विजाति वर्ण की स्त्री के साथ यदि शूद्र गमन करे, तो उस को अरक्षिता में अङ्गछेदन तथा सर्वस्वहरण दण्ड हो और रक्षिता में सब ( शरीर तथा धनादि ) से छीन कर दे ॥ ३७४ ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः। सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ। वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

अर्थ—वैश्य यदि एक वर्ष तक परस्त्री को घर में डाले रहे तो सर्वस्व हरणरूप दण्ड करना चाहिये। और क्षत्रिय सहस्र दण्ड और मूत्र से शिर मुंडाने योग्य है ॥ ३७५ ॥ और यदि अरक्षिता ब्राह्मणी से वैश्य क्षत्रिय गमन करें तो क्षत्रिय को सहस्र और वैश्य को पांच सौ दण्ड चाहिये ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह। विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥३७७॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥३७८॥

अर्थ—वे दोनों (क्षत्रिय वैश्य ) रक्षिता ब्राह्मणी के साथ दूषें तो शूद्रवत दण्ड योग्य हैं। अथवा उन्हें चटाई में लपेट कर जला देवे ॥३७७॥ रक्षिता ब्राह्मणी से यदि ब्राह्मण बलात्कार से मैथुन करे तो सहस्र पण और चाहती हुई से करे तो पांचसौ पण-दण्ड योग्य है ॥ ३७८ ॥

"मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३७९॥ न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥"

"अर्थ ब्राह्मण का शिर मुंडाना ही प्राणान्तिक दण्ड कहा है। अन्य वर्णों का प्राणदण्ड प्राणान्तिक ही है ॥३७९॥ सम्पूर्ण पापों में भी स्थित ब्राह्मण को कभी न मारे। किन्तु सम्पूर्ण धन के साथ विना मारे पीटे राज्य से निकाल दे ॥" (ये दोनों ३५० से विरुद्ध हैं। तथा ३८१ में भी यही दशा है) ॥ ३८० ॥

" न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥"

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियोव्रजेत् ।
योब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥

अर्थ—"ब्राह्मण के वध से बड़ा कोई पाप पृथिवी में नहीं है, इस से राजा इस के वध का मन से भी चिन्तन न करे ॥३८१॥" रक्षिता क्षत्रिया से यदि वैश्य गमन करे वा वैश्या से क्षत्रिय गमन करे तौ जो अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन में दण्ड कहा है, वही ( ३७६ के अनुसार ) दोनों को हो ॥

( ३८२ से आगे ११ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[ क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणोव्रजन् ।
न मूत्रमुण्डः कर्त्तव्योदाप्यस्तूत्तमसाहसम् ] ॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण, रक्षिता क्षत्रिया या वैश्या से गमन करे तौ मूत्र से मुण्डित न कराया जावे, किन्तु "उत्तमसाहस" (१०००पण) दण्ड दिलाया जावे) ॥३८२॥

सहस्रंब्राह्मणोदण्डंदाप्योगुप्तेतुतेव्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशो साहस्रोवै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः । मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेतु क्षत्रियोदण्डमेव वा ॥३८४॥

अर्थ—रक्षिता क्षत्रिया और वैश्या से जो ब्राह्मण गमन करे तौ सहस्र पण दण्ड होना चाहिये और रक्षिता शूद्रा से क्षत्रिय वैश्य गमन करें तौ भी सहस्र दण्ड देना चाहिये ॥३८३॥ अरक्षिता क्षत्रिया के गमन से वैश्य को पांचसौ पण दण्ड और क्षत्रिय को पांच सौ पण धन दण्ड दे अथवा चाहे तौ मूत्र से मुण्डन करावे ॥

( ३८४ से आगे भी ३॥ श्लोक २ पुस्तकों में अधिक हैं—

[शूद्रोत्पन्नांशपापीयान्न वै मुच्येत किल्विषात् । तेभ्यो दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ अयाजिकंतु तद्राजा दद्याद् भृतकवेतनम् । यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु लम्भयेत् ॥भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधाजनाः]॥३८४॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रांवा ब्राह्मणोव्रजन्।शतानिपञ्चदण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजास्त्रियम्॥३८५॥यस्यस्तेनःपुरेनास्ति नान्यस्त्रीगोनदुष्टवाक्। न साहसिकदण्डघ्नोसराजाशक्रलोकभाक्॥

अर्थ—अरक्षिता क्षत्रिया वैश्या वा शूद्रा से ब्राह्मण गमन करे तो पांच सौ पण दण्ड और अन्त्यजा के साथ गमन में सहस्र पण दण्ड होना चाहिये॥३८५॥ जिस राजा के राज्य में चोरी, परस्त्री गमन, गाली देने, साहस करने और मार पीट करने वाले पुरुष नहीं हैं, वह राजा स्वर्ग वा सत्यलोक का भागी होता है ( एक पुस्तक में "सत्यलोक" पाठभेद है ) ॥ ३८६ ॥

**एतेषांनिग्रहोराज्ञः पञ्चानांविषयेस्वके। साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥३८७॥ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि।शक्तंकर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डःशतंशतम् ॥३८८॥**

अर्थ—इन पांचों का अपने राज्य में निग्रह करना राजा को अपने साथी राजाओं में साम्राज्य कराने वाला और लोगों में यश करने वाला है ॥३८७॥ जो यजमान ऋत्विज् को छोड़े जो कि कर्म करने में समर्थ और दुष्ट न हो और जो ऋत्विज् यजमान को छोड़े, उन दोनों को सौ २ पण दण्ड होना चाहिये ॥३८८॥

**नमातानपितानस्त्री नपुत्रस्त्यागमर्हति।त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञादण्ड्यःशतानिषट्॥३८९॥आश्रमेषुद्विजातीनां कार्येविवदतांमिथः। न विब्रूयान्नृपोधर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः॥३९०॥**

अर्थ—माता पिता पुत्र और स्त्री त्याग्य करने के योग्य नहीं हैं । जो इन विना पतित हुवों का त्याग करे उस को राजा छः सौ पण दण्ड दे ॥३८९॥ वानप्रस्थाश्रमी कार्य में परस्पर झगड़ा करने वाले द्विजों के बीच में, अपना हित करना चाहने वाला राजा धर्म ( न्याय ) न करे ( अर्थात् ऐसे कामों में बलपूर्वक राजा का हस्तक्षेप न हो ) ॥ ३९० ॥

**यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः। सान्त्वेनप्रशमय्यादौ स्वधर्मंप्रतिपादयेत्॥३९१॥प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणेविंशतिद्विजे।अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥३९२ ॥**

अर्थ—जो जैसा पूजा के योग्य है उस की वैसी पूजा करके ब्राह्मणों के साथ प्रथम उनको समझावे, उस के अनन्तर स्वधर्म बता देवे ॥ ३९१ ॥ निरन्तर अपने मकान में रहने वाले, और कभी २ आने जाने वाले; इन दोनों योग्यों को उत्सव में बीस ब्राह्मणों के भोजनावसर में जो ब्राह्मण, भोजन न करावे तो उसे १ रौप्य माषक दण्ड देना योग्य है ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्। तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥ अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः। श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥

अर्थ-यदि श्रोत्रिय विभवकार्य में एक साधु श्रोत्रिय को भोजन न करावे तौ उस अन्न से दूना अन्न और "हिरण्यमाषक" दण्ड दिलाना योग्य है ॥३९३॥ अन्ध, बधिर, पङ्गु और सत्तर वर्ष का वृद्ध तथा श्रोत्रियों के उपकार करने वाला, इन से किसी को कर दिलाना योग्य नहीं है ॥३९४॥

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम्। महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥३९५॥ शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः। न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥३९६॥

अर्थ-श्रोत्रिय, रोगी, दुःखी, बालक, वृद्ध, दरिद्र और बड़े कुल वाले आर्य का राजा सदा सम्मान करे ॥ ३९५ ॥ सेमर की चिकनी पटिया पर धोबी धीरे धीरे कपड़ों को धोवे और दूसरे के कपड़ों से औरों के कपड़े न बदले जावें और न बहुत दिन पड़े रक्खे ॥३९६॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्। अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥३९७॥ शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः। कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत ॥ ३९८ ॥

अर्थ-जुलाहा दश १० पल सूत लेके एकादश ११ पल ( मांडी से बढ़ने के कारण ) वस्त्र तौल देवे, इस से विपरीत करे तौ ( राजा ) बारह पण दण्ड दिलावे ॥३९७॥ जो चुङ्गी आदि के विषय में कुशल और हरएक प्रकार के लेने देने में चतुर हों उन सौदागरों को जो लाभ हो उस का बीसवां भाग राजा ले ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च। तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥३९९॥ शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी। मिथ्यावादी च संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

अर्थ-राजा के जो प्रसिद्ध निजविक्रेय द्रव्य और जो राजा ने बेचने से निषेध किये हुवे द्रव्य हैं, उन को लोभ के कारण और जगह लेजाकर बेचने

वाले का सर्वस्व राजा हरण करले ॥३९९॥ चुङ्गी की जगह से हट कर (चोरी से) और जगह माल ले जाने वाला, वेसमय वेचने ख़रीदने वाला और गिनती वा तौल में झूंठ बोलने वाला उचित राजकर का ८ गुणा वा जितने का झूंठ बोला हो उस का आठगुणा दण्ड दे. ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्य सर्व पण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥४०२॥

अर्थ–आने और जाने का ख़र्च, स्थान तथा वृद्धि और क्षय दोनों; इन को विचार कर सब वस्तुओं को ख़रीदने वेचने का भाव करावे ।४०१॥ पांच पांच दिन वा पक्ष (१५वें) दिन के भाव को राजा प्रत्यक्ष नियत करावे ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुरक्षितम् । षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥४०३॥पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्ध पणं तरे । पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

अर्थ–तुला की तौल और नापों को अच्छे प्रकार देखे और छः छः महीने में फिर से दिखावे ॥४०३॥ पुल पर गाड़ी का महसूल १ पण दे और एक आदमी के बोझ का आधा पण और गाय, बैल आदि पशु तथा स्त्री चौथाई पण और ख़ाली आदमी १ पण का ८ वां भाग दे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥४०५॥ दीर्घाध्वनि यथादेशं यथा कालं तरो भवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥४०६

अर्थ–पुल पर मालभरी गाड़ी का महसूल बोझ के अनुसार दे और ख़ाली सवारी और दरिद्र पुरुषों से महसूल कुछ थोड़ा लेलेवे ॥४०५॥ लम्बी उतराई का महसूल देशकालानुसार हो । उस को नदीतीर में ही जाने । समुद्र में यह लक्षण नहीं है ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥४०७॥ यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः । तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः॥४०८॥

अर्थ-दो महीने ऊपर की गर्भिणी, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण खेवट की खेवाई न दें ॥४०७॥ नाव पर बैठने वालों की खेवने वालों के अपराध से जो कुछ हानि हो वह अपने भाग में से सब खेवने वालों को मिल कर देनी चाहिये ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तोव्यवहारस्य निर्णयः। दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृपिमेव च। पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥

अर्थ-मल्लाहों के अपराध से पानी में हानि हो तौ वे देवें। यह नाव से उतरने वालों के व्यवहार का निर्णय कहा। परन्तु दैवी तूफ़ान में मल्लाहों को दण्ड नहीं है ॥ ४०९ ॥ वाणिज्य, गिरवीं बट्टा, खेती और पशुओं की रक्षा वैश्यों से और शूद्र से द्विजों की सेवा ( राजा ) करावे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणोवृत्तिकर्षितौ। बिभृयादानृशंस्येन स्वानिकर्माणिकारयन्॥४११दास्यंतुकारयंल्लोभाद्ब्राह्मणःसंस्कृतान्द्विजान्।अनिच्छतःप्राभवत्याद्राज्ञादण्ड्यः शतानि षट्॥४१२॥

अर्थ-क्षत्रिय और वैश्य वृत्ति के अभाव से पीड़ित हों तौ दया से अपने अपने कर्मों को कराता हुवा ब्राह्मण उन का पोषण करे ॥ ४११ ॥ ब्राह्मण, प्रभुता से वा लोभ से, संस्कार किये हुवे द्विजों से बिना इच्छा के दासकर्म करावे तौ राजा छः सौ पण दण्ड दिलावे ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥४१३॥ न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रोदास्याद्विमुच्यते। निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

अर्थ-शूद्र से तौ सेवा ही करावे, वह शूद्र ख़रीदा हो वा न ख़रीदा हुवा हो। क्योंकि ब्राह्मणादि की सेवा के लिये ही ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया है ॥४१३॥ स्वामी से छुटाया हुवा भी शूद्र दास्य से नहीं छूट सकता। क्योंकि वह उस का स्वाभाविक धर्म है। उस से उस को कौन हटा सकता है ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहृतोभक्तदासो गृहजःक्रीतदत्रिमौ। पैत्रिकोदण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥४१५॥भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥

अर्थ-१-युद्ध में जीत कर लाया हुवा २-भक्तदास ३-दासीपुत्र ४-ख़रीदा हुवा ५-दान में दिया हुवा ६-जो बड़ों से चला आता हो और ७ दण्ड की शुद्धि के लिये जिस ने दासभाव स्वीकृत किया हो, ये सात प्रकार के दास होते हैं ॥४१५॥ भार्या, पुत्र और दास; ये तीन निर्धन कहे हैं क्योंकि जो कुछ ये कमाते हैं, वह उस का है, जिस के कि ये हैं ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धंब्राह्मणःशूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् । न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनोहि सः॥४१७॥वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्

अर्थ-भरोसे से शूद्र=दास से ब्राह्मण धन ग्रहण करले क्योंकि उस का कुछ भी अपना नहीं है, किन्तु उस का धन भर्तृग्राह्य है ॥४१७॥ वैश्य और शूद्रों से प्रयत्न से राजा अपने २ कर्म करावे, नहीं तो वे अपने २ कामों से अलग होकर संपूर्ण जगत् को क्षोभ करा देंगे ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च।आयव्ययौच नियता-वाकरान्कोशमेव च॥४१९॥एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन्। व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्४२०

अर्थ-राजा कर्मों की निष्पत्ति ( फल ) और वाहनों तथा आय व्यय और खानि तथा कोष को प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इस उक्त प्रकार से इन (ऋणादानादि) व्यवहारों को ठीक२ निर्णय को पहुंचाता हुवा राजा संपूर्ण पाप को दूर करके परमगति पाता है ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां ) संहितायाम् अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

—*:0:*—

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ओ३म्

# अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः। संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे २

अर्थ-धर्ममार्ग पर चलने वाले स्त्री पुरुषों के साथ रहने और अलग रहने के सनातनधर्मों को मैं आगे कहता हूं (सुनो)॥१॥ पतियों को अपनी स्त्रियें सदा स्वाधीन रखनी चाहियें और विषयों में आसक्त होती हुइयों को अपने वश में रखना चाहिये॥२॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥३॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चा-नुपयन्पतिः। मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता॥४॥

अर्थ-बाल्याऽवस्था में पिता रक्षा करता है। यौवन में पति रक्षा करता है। बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है॥३॥ विवाहकाल (१६ वें वर्ष) में कन्यादान न करने वाला पिता और ऋतुकाल में स्त्री के पास गमन न करने वाला पति और पति के मरने पर माता की रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय है॥४॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥५॥ इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्म-मुत्तमम्। यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि॥६॥

अर्थ-थोड़े से भी कुसंग से स्त्रियों की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये क्योंकि अरक्षित स्त्रियें दोनों कुलों को शोक देने वाली होंगी॥५॥ इस सब वर्णों के उत्तम धर्म को जानने वाले दुर्बल भी पति अपनी स्त्री की रक्षा का यत्न करते हैं॥६॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन

जायां रक्षन् हि रक्षति ॥७॥ पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥

अर्थ-अपनी सन्तान और चरित्र तथा कुल और धर्म; इन सब को यत्न से स्त्री की रक्षा करने वाला ही रक्षित करता है ॥ ७ ॥ एक प्रकार से पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भरूप होकर संसार में उत्पन्न होता है । जाया का जायात्व यही है जो कि इस में फिर से जन्मता है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथा विधम्। तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥९॥ न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

अर्थ-जिस प्रकार के पुरुष को स्त्री सेवन करे, उसी प्रकार का पुत्र जनती है । इस कारण प्रजा की शुद्धि के लिये भी प्रयत्न से स्त्री की रक्षा करे ॥ ९ ॥ कोई बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों से उन की रक्षा कर सकता है ( कि- ) ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥११॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः। आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ता सुरक्षिताः॥१२॥

अर्थ- धन के संग्रह, व्यय, शौच, धर्म, रसोई पकाने और घर की वस्तुओं के देखने में इस (स्त्री )की योजना करे ॥११॥ आप्तकारी पुरुषों से घर के परदे में रोकी भी स्त्रियें अरक्षित हैं, किन्तु जो अपने आप ही रक्षा करती हैं वे सुरक्षिता हैं ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥१३॥
"नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥"

अर्थ-मद्यपान और दुर्जनसंसर्ग तथा पति से अलग रहना और इधर उधर घूमना तथा वेसमय सोना और दूसरे के घर में रहना; ये स्त्रियों के

छः दूषण हैं ॥ १३ ॥ " ये न तो रूप का विचार करती हैं, न इन के आयु का ठिकाना है, सुरूप अथवा कुरूप पुरुष मात्र हो, उसे ही भोगती हैं ॥१४॥"

"पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥१५॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषोरक्षणं प्रति ॥ १६ ॥"

"अर्थ-पुरुष पर चलने वाली होने और चित्त की चञ्चल तथा स्वभाव से ही स्नेहरहिता होने से यत्नपूर्वक रक्षित स्त्रियें भी, पति में विकार कर बैठती हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मा के सृष्टिकाल से साथ रहने वाला इस प्रकार इन का स्वभाव जान कर पुरुष इन की रक्षा का परम यत्न करे ॥ १६ ॥ "

"शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्। द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत्॥१७॥नास्तिस्त्रीणांक्रियामन्त्रैरितिधर्मे व्यवस्थितिः। निरिन्द्रियाह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमितिस्थितिः"१८

"अर्थ-शय्या आसन अलङ्कार काम क्रोध अनार्जव द्रोहभाव और कुचर्या मनु ने स्त्रियों के लिये उत्पन्न किये हैं ॥ १७ ॥ जातकर्मादि क्रिया स्त्रियों की मन्त्रों से नहीं हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र की मर्यादा है। स्त्रियां निरिन्द्रिया और अमन्त्रा हैं और इन की स्थिति असत्य है ॥ १८ ॥ "

'तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि। स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः१९यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता। तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम्॥२०॥"

"अर्थ-व्यभिचारशीला स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियें पठित हैं, उन श्रुतियों में जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं, उन को सुनो ॥ १९ ॥ ( कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जान कर कहता है कि- ) "जो कि मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहने वाली थी, उस दुष्टता को मेरा पिता शुद्धवीर्य से शोधन करे, यह उन श्रुतियों में से नमूना दिखाया गया ॥ २० ॥ "

"ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा। तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते॥२१॥यादृग्गुणेनभर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥२२॥"

अर्थ-"भर्त्ता के विपरीत जो कुछ स्त्री दूसरे पुरुष के साथ गमन चाहती है उस के इस मानस व्यभिचार को यह अच्छेप्रकार शोधनमन्त्र कहा है ॥ २१ ॥ जिन गुणों वाले पति के साथ स्त्री रीति से विवाह करके रहे, वैसे ही गुण वाली वह ( स्त्री ) हो जाती है । जैसे समुद्र के साथ नदी" ॥२२॥

"अक्षमाला वसिष्टेन संयुक्ताऽधमयोनिजा। शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२३॥ एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः"॥२४॥

"अर्थ-अक्षमाला नाम की निकृष्टयोनि स्त्री वसिष्ठ से युक्त हो पूज्यता को प्राप्त हुई, ऐसे ही शारङ्गी मन्दपाल से युक्त होकर (पूज्यता को प्राप्त हुई) ॥ २३ ॥ इस लोक में ये और अन्य अधम योनियों में उत्पन्न हुई स्त्रियें अपने अपने शुभ पतिगुणों से उच्चता को प्राप्त हुई" ॥

(१५ वें से २४ वें तक ११ श्लोकों में ऐसी झलक है, जैसी कि चाणक्य आदि के समय स्त्रियों की अत्यन्त अविश्वस्तता की दशा थी । १४ वें में स्त्रियोंको युवा आदि अवस्था और सुरूपपुरुष की आवश्यकताका अभाव लिखा है, जो३ काल में कभी नहीं होसकता कि स्त्रियें युवा और सुरूपपुरुष की इच्छा न करें, केवल पुरुषमात्र जिसे देखें उसे ही भोगने लगें । यदि कहीं अत्यन्त कामासक्ता स्त्री की यह दशा देखी भी जावे, तौ पुरुषों की इस से भी बुरी अवस्थायें प्रायः होती हैं । इस लिये स्त्रियों की यह निन्दा अनुचित है । १५ वें में स्त्रियों में यह दोष बतलाया है कि उन का चित्त चञ्चल है और पुरुष पर चलता है, उन में स्नेह वा प्रीति नहीं होती । चलचित्तता तो पुरुषों में भी कम नहीं होती । हां, स्नेह तौ पुरुषों से स्त्रियों में अधिक होता है । १६ वें में इन के इस दोष को ब्रह्मा का बनाया हुवा स्वाभाविक बतलाया है । जिस से मानो यह कहा है कि उन का स्वभाव कभी धर्मानुकूल सुधर ही नहीं सकता । इस कथन ने ऐसा कलङ्क स्त्रियों पर लगाया है कि जो प्राचीन काल की सच्चरिता देवियों की निन्दा का तौ कहना ही क्या है. वर्त्तमान घोर समय में भी पुरुष चाहे कैसे ही घृणिताचार हों किन्तु स्त्रियों में अब भी अधिकांश सती वर्त्तमान हैं, उन की भी नितान्त असत्य निन्दा इस से होती है॥ १७ वें में जो शय्यासनादि दोष बताये हैं, वे पुरुषों में भी कम नहीं होते । और इस श्लोक में यह जो कहा है कि ( स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत् ) ये दोष

स्त्रियों के लिये मनु ने रचे ॥ इस से इस प्रकरणगत स्त्रीनिन्दा का अन्यकृत होना तो संशयित हुवा ही, किन्तु यह असत्य भी है कि ये दोष जिन में काम क्रोध अनार्जव और द्रोह भी गिनाये हैं, स्त्रियों के लिये ही मनु ने रचे। क्या ये दोष पुरुषों में नहीं होते? क्या मनु धर्मव्यवस्थापक होने के अतिरिक्त दोषयुक्त स्त्रीजाति के स्रष्टा भी थे? १८ वें का यह कहना कि उन के इन्द्रियां नहीं होतीं, कैसा श्वेत झूंठ है, जब कि उन के प्रत्यक्ष हस्त पादादि इन्द्रियों की सत्ता सर्वजगद्गोचरीभूत है। बस इसी से उन की अमन्त्रक क्रिया के पक्षपात और अज्ञान को भी समझ सकते हैं। १९ वें में कहा है कि इस विषय में वेद की श्रुतियें भी प्रमाण हैं, २० वें में भी "किसी पुत्र का अपनी माता के मानस व्यभिचार को वर्णन करना" वेद की श्रुति का नमूना बताया है। परन्तु यह श्रुति वेद में कहीं नहीं, सर्वथा असत्य है। २१ वें में इस असत्य कल्पित श्रुति को मानसी व्यभिचाररूप पाप का प्रायश्चित्त बताया है॥ २२-२४ तक में इतिहास से वसिष्ठ और मन्दपाल की स्त्री अक्षमाला और शारङ्गी नीचयोनि के उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया है कि पुरुष चाहे जैसी नीच स्त्री को विवाह सकते हैं, वह उन पुरुषों के सङ्ग से पवित्र हो जाती हैं। धन्य! पुरुष बड़े स्वतन्त्र रहे और पारस की पथरी हो गये!!! और पूर्व जो द्विजों को सवर्णा स्त्री से ही विवाह करना कहा था, उस के विरोध का भी इस रचना करने वाले ने कुछ भय न किया, तथा मन्दपाल के वर्णन को जो मनु जी से बहुत पीछे हुवा है, मनुवाक्य (वा भृगुवाक्य ही सही, यदि मनु और भृगु एक काल में वर्त्तमान थे तो) में "जगाम" इस परोक्षभूतार्थ लिट् लकार से अत्यन्त प्राचीन वर्णन करने से भी यह असम्भव है। इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में यह रचना पश्चात की है और १३ वें का २५ वें से सम्बन्ध भी ठीक मिलता है) ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा। प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः। स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६॥

अर्थ-यह स्त्रीपुरुषसम्बन्धी सदा शुभ लोकाचार कहा। अब इस लोक तथा परलोक में शुभ सुख के वर्धक सन्तानधर्मों को सुनो ॥२५॥ ये स्त्रियां बड़ी भाग्यवती, सन्तान की हेतु, सत्कार (पूजन) योग्य, घर की शोभा हैं और घरों में स्त्री तथा लक्ष्मी=श्री में कुछ भेद नहीं है (अर्थात् दोनों समान हैं) ॥२६॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्। प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥२८॥

अर्थ-सन्तान का उत्पन्न करना और हुवे का पालन करना तथा प्रतिदिन ( अतिथि तथा मित्रों के ) भोजनादि लोकाचार का प्रत्यक्ष आधार स्त्री ही है ॥२७॥ सन्तानोत्पादन, धर्मकार्य ( अग्निहोत्रादि ), शुश्रूषा, उत्तम रति तथा पितरों का और अपना स्वर्ग (सुख), ये सब भार्या के अधीन हैं ॥२८॥

"पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते २९ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्। शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥३०॥

"अर्थ-जो स्त्री मन वाणी और देह से संयमवाली पति से भिन्न व्यभिचार नहीं करती वह पतिलोकों को प्राप्त होती और शिष्ट लोगों से साध्वी कही जाती है ॥२९॥ पुरुषान्तरसंपर्क से स्त्री, लोगों में निन्दा और जन्मान्तर में शृगालयोनि को पाती तथा पाप के रोगों से पीड़ित होती है॥" ( ५ अध्याय के १६४। १६५ से पुनरुक्त हैं। ठीक यही पाठ और अर्थ वहां है ) ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः। विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥३१॥ भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि। आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः॥३२॥

अर्थ-पुत्र के विषय में पहले शिष्ट महर्षियों का कहा हुवा यह वक्ष्यमाण पवित्र सर्वजनहितकारी विचार सुनो ॥ ३१ ॥ भर्ता का पुत्र होता है। ऐसा लोग जानते हैं। परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की बात सुनते हैं। कोई उत्पन्न करने वाले को लड़के वाला कहते हैं और दूसरे क्षेत्र के स्वामी=पति को लड़के वाला कहते हैं ॥ ३२ ॥ ( आगे इस विवाद का निर्णय है:- )

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम्॥३३॥ विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्। उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते॥३४॥

अर्थ-खेत रूप स्त्री और बीज रूप पुरुष होता है। इस कारण खेत और बीज के मिलने से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है॥३३॥ कहीं बीज प्रधान है और कहीं क्षेत्र। परन्तु जहां दोनों समान हैं, वह उत्पत्ति श्रेष्ठ है ॥ ३४॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥३५॥ यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते। तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥३६॥

अर्थ-बीज और खेत इन दोनों में बीज प्रधान है, क्योंकि संपूर्ण जीवों की उत्पत्ति बीजों ही के लक्षण से जानी जाती है॥३५। जिस प्रकार का बीज उचित समय (वर्षादि ऋतु) में संस्कृत खेत में बोया जाता है, उस प्रकार का ही बीज अपने रङ्गरूपादि गुणों से युक्त उस खेत में उत्पन्न होता है॥३६॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु॥३७॥भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

अर्थ-यह भूमि प्राणियों की सनातन योनि कही जाती है, परन्तु बीज भूमि के किन्हीं गुणों को पुष्ट नहीं करता, (किन्तु अपने ही गुणों को बढ़ाता है)॥३७॥ एक प्रकार की भूमि के खेत में किसान लोग समय पर अनेक बीज (यव गोधूमादि) बोते हैं,परन्तु अपने २ स्वभाव से वे नानारूप उत्पन्न होते हैं (अर्थात् एक भूमि होने से एक रूप नहीं होता,किन्तु बीजों ही के अनुरूप भिन्न २ वृक्षादि होते हैं) ॥ ३८ ॥

व्रीहयःशालयोमुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा॥३९॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते। उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥४०॥

अर्थ-साठी धान मूंग तिल उड़द यव लहसन और गन्ने सब जैसे २ बीज हों, वैसे ही उत्पन्न होते हैं॥ ३९॥ बोया कुछ हो और उत्पन्न कुछ हो, ऐसा नहीं होता, जो २ बीज बोया जाता है, वही २ उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥४१॥

"अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥४२॥"

अर्थ–वह बीज बुद्धिमान् और शिष्ट तथा ज्ञान विज्ञान के जानने वाले और आयु की इच्छा करने वाले को दूसरे की स्त्री में कभी न बोना चाहिये ॥ ४१ ॥ " भूतकाल के जानने वाले इस विषय में वायु की कही गाथा (छन्दोविशेषयुक्त वाक्यों) को कहते हैं । यथा–पुरुष को पराई स्त्री में बीज न बोना चाहिये ॥ ४२ ॥ "

"नश्यतीषुर्यथाविद्धः खे विद्धमनुविध्यतः । तथानश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे॥४३॥पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतोमृगम्" ॥४४॥

"अर्थ–जैसे दूसरे के बींधे मृग को फिर से मारने से बाण निष्फल होता है । ऐसे ही दूसरे की स्त्री में बीज का बोना शीघ्र निष्फल होता है ॥४३॥ इस पृथिवी को जो पहले राजा पृथु की भार्या थी, ( अनेक राजाओं के सम्बन्ध होते भी ) पुराने लोग पृथु की भार्या ही जानते हैं । ऐसे ही लकड़ी आदि काट कर प्रथम खेत बनाने वाले का खेत और जिस ने पहिले शिकार किया उसी का मृग है ( ऐसे ही पहले विवाह करने वाले का पुत्र होता है । पश्चात् केवल उत्पन्न करने वाले का नहीं ॥" स्पष्ट है कि यह वायुगीता पृथु राजा से पीछे मनु में मिलाई गई ) ॥ ४४ ॥

एतावानेवपुरुषो यज्जायात्माप्रजेतिह । विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्योभर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

अर्थ–स्त्री और आपा तथा सन्तान ये तीनों मिल कर एक पुरुष कहाता है । तथा वेद के जानने वाले विप्र कहते हैं कि जो पति है वही भार्या है ( जैसा कि कुल्लूक ने शतपथ का प्रमाण दिया है कि " अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते० " इत्यादि ॥ ४५ ॥ विक्रय वा त्याग से स्त्री, पति से नहीं छूट सकती, ऐसा पूर्व से प्रजापति का रचा हुवा नित्यधर्म हम जानते हैं ॥ ४६ ॥

सकृदंशोनिपतति सकृत्कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ४७ यथागोऽश्वोष्ट्रदासीषुमहिष्यजाविकासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

अर्थ-विभाग एक बार ही किया जाता है और एक ही बार कन्यादान होता है और एक ही बार वचन दिया जाता है । सज्जनों की ये तीन बातें एक ही बार होती हैं ( उलट फेर नहीं होता ) ॥ ४७ ॥ जैसे गाय, घोड़ा, ऊंट, दासी, भैंस और भेड़ इन में सन्तान उत्पन्न करने वाला, उस का भागी नहीं होता, वैसे ही दूसरे की स्त्री में भी ( जानो ) ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणोबीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः। ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ४९ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् । गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥

अर्थ-जो विना खेत के बीज वाले ( अपने बीज को ) दूसरे के खेत में बोते हैं, वे उत्पन्न हुवे अनाज के भागी कभी नहीं होते ॥ ४९ ॥ दूसरे की गायों में सांड सौ १०० बछड़े भी पैदा करे, तौ भी वे बछड़े गाय वालों के ही होते हैं, सांड का शुक्रसेचन निष्फल होता है ॥ ५० ॥

तथैवाऽक्षेत्रिणोबीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्तिक्षेत्रिणामर्थं न बीजीलभते फलम् ५१ फलं त्वनभिसंधायक्षेत्रिणांबीजिनां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ-इसी प्रकार बिना खेत वाले, बीज को दूसरे के खेत में बोवें तौ खेत वाले ही का प्रयोजन सिद्ध करते हैं । बीज वाला फल नहीं पाता ॥५१॥ जहां पर खेत वाले और बीज वाले इन दोनों के फल के बांट का नियम कुछ न हुवा हो, वहां प्रत्यक्ष में खेत वाले का प्रयोजन सिद्ध होता है। इस लिये बीज से योनि बहुत बलवती है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते। तस्येह भागिनौदृष्टौ बीजी क्षेत्रिकएव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति । क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥५४॥

अर्थ-परन्तु "जो इस खेत में उत्पन्न होगा वह हमारा तुम्हारा दोनों का होगा" इस नियम पर खेत वाला बोने के लिये बीज वाले को देता है तौ उस के दोनों लोग भागी होते देखे गये हैं ॥ ५३ ॥ जो बीज जल के वेग वा वायु से उड़ कर दूसरे के खेत में गिर कर उत्पन्न हो, उस के फल का भागी खेत वाला ही होता है, न कि बोने वाला ॥ ५४ ॥

एषधर्मोगवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च। विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥ एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्। अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥

अर्थ-यह (४९ से ५४ तक) व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, ऊंट, बकरी, भेड़, पक्षी, और भैंस की सन्तति में जाननी चाहिये ॥५५॥ यह बीज और योनि के प्राधान्य और अप्राधान्य तुम लोगों से कहे। अब स्त्रियों के आपत्काल का धर्म (अर्थात सन्तान न होने में क्या होना चाहिये सो) कहता हूं ॥५६॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्यभार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तुयाभार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥ ज्येष्ठोयवीयसोभार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम्। पतितौ भवतोगत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥५८॥

अर्थ बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान है और छोटे की स्त्री बड़े को पुत्रवधू के समान कही है ॥५७॥ बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ वा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ विना आपत्काल के (सन्तान रहते हुवे) नियोगविधि से भी गमन करने से (दोनों) पतित होते हैं (किन्तु-) ॥ ५८ ॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया। प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तोवाग्यतोनिशि। एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥६०॥

अर्थ-सन्तान न हो तौ, पुत्र की इच्छा से भले प्रकार नियोग की हुई स्त्री को देवर या अन्य सपिण्ड से यथेष्ट सन्तान उत्पन्न कर लेनी चाहिये ॥५९॥ विधवा के साथ नियोग करने वाला शरीर में घृत लगा, मौन होकर रात्रि में (भोग करे, इस प्रकार) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी नहीं ॥६०॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तोधर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि । गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

अर्थ-दूसरे आचार्य जो नियोग से पुत्रोत्पादन की विधि को जानने वाले हैं, उन दोनों स्त्री पुरुषों के नियोग के तात्पर्य को (१ पुत्र से) सिद्ध न होता देखते हुवे स्त्रियों में दूसरा पुत्र उत्पन्न करना भी धर्म से मानते हैं॥६१॥विधवा में नियोग के प्रयोजन(गर्भधारण) की विधि से सिद्ध हो जाने पर बड़े और छोटे भाई की स्त्रियों से दोनों आपस में गुरुपत्नी और पुत्रवधू के सा व्यवहार करें॥६२॥

नियुक्तौयौविधिंहित्वा वर्तेयातांतुकामतः। तावुभौपतितौस्या- तांस्नुषागगुरुतल्पगौ ६३ नान्यस्मिन्विधवानारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युःसनातनम्६४

अर्थ-जो छोटे और बड़े भाई अपनी भौजाइयों के साथ नियोग किये हुवे भी विधि को छोड़ कर कामवश भोग करें वे दोनों पतित, गुरु की स्त्री और पुत्रवधू से गमन करने वाले हों ॥६३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को विधवा स्त्री का दूसरे (वर्ण) के साथ नियोग न करना चाहिये । दूसरे वर्ण के साथ नियोग की हुई ( स्त्रियें ) सनातन धर्म का नाश करती हैं ॥ ६४ ॥

"नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।न विवाहविधा- वुक्तं विधवावेदनं पुनः ।६५॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तोवेने राज्यं प्रशासति ॥६६॥"

अर्थ-विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है और न विवाह की विधि में विधवा का पुनर्विवाह कहा है ॥६५॥ यह प्रोक्त=विधान किया हुवा भी मनुष्यों का नियोग, राजा वेन के शासनकाल में विद्वान् द्विजों द्वारा पशुधर्म और निन्दायुक्त कहा गया ( क्योंकिः- ) ॥ ६६ ॥ "

"स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति योमोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥ "

" अर्थ-वह वेन राजा जो राजर्षियों में बड़ा और पूर्वकाल में संपूर्ण पृथिवी को भोगता था, काम से नष्टबुद्धि होकर वर्णसङ्कर करने लगा था ॥ ६७ ॥ उस ( वेन राजा के ) समय से जो कोई मोह के कारण सन्तान के लिये विधवा स्त्री का नियोग करता है उस की साधु लोग निन्दा करते हैं ( किन्तु वेन से पूर्व इस की निन्दा न थी ॥ "

यद्यपि ६५ से ६८ तक ४ श्लोक मनु वा भृगु के बनाये भी नहीं हैं। क्योंकि स्वायंभुव मनु सृष्टि के आरम्भ में हुवे और वेन राजा वह था जिस से पृथु हुवा, तौ वेन के वैवस्वत मन्वन्तर में होने वाले जन्म को स्वायंभुव मनु अपने से पूर्व की भांति कैसे कह सकते कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य समय से नियोग की परिपाटी निन्दित होगई। इसलिये निश्चय ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। परन्तु तथापि इन से नियोग की बुराई वा पूर्व मनुप्रोक्त नियोग से परस्पर विरोध नहीं आता किन्तु यह आशय निकलता है कि वेन राजा ने कामवश नियोग की स्ववर्णानुसारिणी परिपाटी को तोड़ कर एक वर्ण का दूसरे वर्ण में नियोग प्रचरित कर वर्णसङ्कर कर दिया, तब से सज्जनों में नियोग निन्दित समझा जाने लगा। ६५ का आशय नियोग के निषेध में नहीं है, किन्तु यह है कि विवाह और नियोग भिन्न २ हैं, एक बात नहीं हैं, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है। किन्तु विवाह से भिन्न प्रकरण के मन्त्रों ( अथर्व ९। ५। २७–२८ ॥ ५। १७। ८ ॥ १८। ३ १, ऋ० १०। १८ ८ इत्यादि ) में तौ नियोगविधान है। विधवा का पुनर्विवाह विहित नहीं है, इस से नियोग का निषेध नहीं आता, किन्तु पुनर्विवाह का निषेध है। ६६ का तात्पर्य भी यही है कि पहिले द्विजों का सवर्णों में ५९ के अनुसार नियोग चला आता था, परन्तु जब राजा वेन ने एक वर्ण का दूसरे वर्ण से भी प्रचरित कर दिया, तब से यह निन्दित और पशुधर्म कहाने लगा। इस में भी सब से पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने (द्विजैर्हि विद्वद्भिः) के स्थान में ( द्विजैरऽविद्वद्भिः ) पाठ माना है और यह भाष्य किया है कि (येऽविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानन्ति) जो शास्त्र के न जानने वाले थे उन्हों ने पशुधर्म और निन्दित कहना आरम्भ कर दिया। ६७ वें में उस का कारण भी स्पष्ट बताया है कि क्यों यह कर्म निन्दित माना जाने लगा कि उस ने वर्णों का सङ्कर ( घोल मेल ) कर दिया। ६८ वें स्पष्ट कथन है कि तब से नियोग करने वालों की निन्दा होने लगी है। अर्थात् वेन से पूर्व द्विजों का द्विजों में सवर्ण स्त्री पुरुषों का नियोग निन्दित न था ) ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेतकन्याया वचासत्येकृतेपतिः । तामनेनविधानेन निजोऽन्विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथोभजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

अर्थ–जिस कन्या ( पतिसंभोगरहिता ) का सत्य वाग्दान ( कन्यादान सङ्कल्प ) करने के पश्चात् पति मर जावे उस को इस विधान से निज देवर प्राप्त हो ( कि– ) ॥ ६९ ॥ (वह देवर) नियोग विधि से इस के पास जाकर श्वेत वस्त्र धारण किये हुई और काय मन वाणी से पवित्र हुई के साथ सन्तानोत्पत्तिपर्यन्त गर्भाधानकाल में एक एक वार परस्पर गमन करे ( गर्भाधान हो जावे तब मैथुन त्यागदे ) ॥ ७० ॥

न दत्वाकस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।दत्वापुनःप्रयच्छन्हि प्राप्नोतिपुरुषानृतम्॥७१॥विधिवत्प्रतिगृह्यापित्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।व्याधितांविप्रदुष्टांवाछद्मनाचोपपादिताम्॥७२॥

अर्थ–ज्ञानी पुरुष किसी को कन्यादान देकर फिर दूसरे को न देवे। क्योंकि एक को देकर दूसरे को देने वाला मनुष्य की चोरी के दोष को प्राप्त होता है ॥७१॥ विधिपूर्वक ग्रहण की हुई भी निन्दित कन्या का त्याग करदे जो कि दुष्टा वा रोगिणी और छल से दी गई हो ॥ ७२ ॥

यस्तुदोषवतींकन्यामनाख्यायोपपादयेत्।तस्यतद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः। अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ७४

अर्थ-जो दोषवाली कन्या का विना दोष प्रकट किये विवाह करदे उस कन्या के देने वाले दुष्ट के कन्यादान को निष्फल करदेवे(अर्थात् उसका त्याग करदे) ७३ कार्यवाला पुरुष स्त्री के भोजन कपड़े आदि का विधान करके परदेश जावे, क्योंकि भोजन आदि से पीड़ित शीलवती भी स्त्री विगड़ सकती हैं ॥ ७४॥

विधायप्रोषितेवृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।प्रोषितेत्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥७५॥ प्रोषितोधर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौनरःसमाः।विद्यार्थंषड्यशोर्थंवाकामार्थंत्रींस्तुवत्सरान् ७६

अर्थ भोजन आच्छादनादि देकर पति के देशान्तर जाने पर स्त्री शरीर के शृङ्गारत्यागादि नियम से निर्वाह करे और जो विना प्रबन्ध किये जावे तौ अनिन्दित शिल्पों से ( निर्वाह करे ) ॥ ७५ ॥ धर्मकार्य के लिये परदेश गये नर की स्त्री आठ वर्ष पर्यन्त, यश और विद्या के लिये गया हो तौ छः वर्ष, और काम को गया हो तौ ३ वर्ष प्रतीक्षा करे ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः। ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥७७॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा। सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥७८॥

अर्थ–द्वेष करने वाली स्त्री की एकवर्षपर्यन्त पति प्रतीक्षा करे। फिर उस के अलङ्कारादि सब छीन ले और उस के साथ न रहे (केवल अन्नवस्त्र मात्र दे) ॥ ७७ ॥ जो स्त्री प्रमादी वा मदमत्त वा उन्मादी वा रोगी पति की आज्ञा भङ्ग करे वह वस्त्र भूषण उतार कर तीन महीने तक त्यागने योग्य है ॥७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्। न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्त्तनम् ७९ मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्। व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥८०॥

अर्थ–पागल और पतित तथा नपुंसक और बीजरहित और पापरोगी, इन से द्वेषकरने वाली का त्याग नहीं है और न उस का धन छीनना उचित है ॥७९॥ मद्य पीने वाली और बुरे चलन वाली तथा पति के विरुद्ध चलने वाली और सदा बीमार और मारने वाली और सदा धन का नाश करने वाली स्त्री हो तौ उस के रहते हुवे भी दूसरी स्त्री करनी उचित है ॥ ८० ॥

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥८१॥ या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥८२॥

अर्थ–आठ वर्ष तक कोई सन्तान न होतो दूसरी स्त्री करले और सन्तान होकर मरते ही रहें तौ दशवर्ष में और लड़की ही होती हों तौ ग्यारह वर्ष के पश्चात, तथा अप्रिय बोलने वाली हो तौ उसी समय (दूसरी करले)॥८१॥ जो सदा बीमार रहे, परन्तु पति के अनुकूल और शीलवती हो तौ उस से आज्ञा लेकर दूसरी स्त्री करले और पहली का अपमान करना कभी उचित नहीं॥८२॥

अधिविन्नातु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्। सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥८३॥ प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि। प्रेक्षा समाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥८४

अर्थ–दूसरी स्त्री आने से रूठी हुई पूर्व स्त्री घर से निकल जावे तो वह उसी समय रोक कर रखनी चाहिये या मा बाप के घर पहुंचा देवे॥८३॥ जो स्त्री विवाहादि उत्सवों में निषेध करने पर भी मद्य पीवे या नाच तमाशे में जावे तो पूर्वोक्त छः ६ "कृष्णल" राजदण्ड योग्य है॥ ८४॥

"यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः। तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च॥८५॥ भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यिकम्। स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथंचन॥ ८६॥"

अर्थ–"यदि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अपनी जाति वाली वा दूसरी जातिवालियों से विवाह करें तो उन की बड़ाई और मान तथा घर वर्णक्रम से हो (२ पुस्तकों में "वेश्मनः" पाठ है)॥ ८५॥ पति के शरीर की सेवा और नैत्यिक धर्मकार्य को सब की स्वजातीय स्त्रियां ही करें, अन्य जाति की कभी न (करें)॥ ८६॥"

"यस्तु तत्कारयेन्मोहात्स्वजात्या स्थितयाऽन्यया।
यथा ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः॥ ८७॥"

अर्थ–"जो स्वजातीय के रहते हुवे दूसरी से पूर्वोक्त कर्म मोहवश करावे वह जैसा ब्राह्मण चण्डाल पुरातन मुनियों ने कहा है वैसा ही है॥"(८५। ८६। ८७वें श्लोक इस लिये माननीय नहीं कि ये द्विजों के लिये अध्याय ३ के श्लोक १५। १६ के अनुसार पतित कराने वाले और सवर्णा के साथ विवाह की विवाहप्रकरणोक्त "सवर्णां लक्षणा०" इत्यादि मनु की पूर्वाज्ञा के विरुद्ध हैं)॥८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥८८॥

अर्थ–कुल आचारादि से उच्च और सुन्दर तथा गुणों में बराबर वर के लिये कुछ कम आयुवाली भी कन्या यथाविधि दे देवे। ८८ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है–

[ प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनो दातारमृच्छति ]

ऋतुकाल के भय से अनृतुमती कन्या का ही दान करदे। क्योंकि ऋतुमती के बैठे रहने से दाता को पाप चढ़ता है ) ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यमपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥८९॥त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थ–चाहे कन्या ऋतुवाली होकर मरने तक घर में बैठी रहे परन्तु गुणहीन के लिये इस का कभी दान न करे ॥८९॥ रजस्वला कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, फिर अपने बराबर गुणवाले पति को विवाह ले ॥ ९० ॥

अदीयमानाभर्तारमधिगच्छेद्यदिस्वयम्।नैनःकिञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥९१॥अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्॥९२॥

अर्थ–( यदि पिता आदि की ) न दी हुई कन्या आप ही पति को वर ले तो कन्या को कुछ पाप नहीं और न जिस ( पति ) को वह व्याही जाती है (उसे कुछ पाप होता है)॥९१॥परन्तु स्वयं विवाह करने वाली कन्या, पिता और माता या भाई का दिया हुवा आभूषण न ले,यदि उसे ले तो चोर हो॥९२॥

"पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥ त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥"

अर्थ–"ऋतुवाली कन्या को हरण करता हुवा उस के पिता को शुल्क न दे । क्योंकि रजों के रोकने से वह स्वामित्व से हीन हो जाता है। (धन्य! क्या विना ऋतुमती का पिता "स्वामी" था !!! ) ॥९३॥ तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे वा चौबीस वर्ष वाला आठ वर्ष वाली से करे, जब कि शीघ्र न करने से धर्म पीड़ित होता हो"

(९३।९४ के श्लोक इस लिये माननीय नहीं जान पड़ते हैं कि इन में कन्या का मूल्य ऋतुमती होने पर न देना कहा है तो क्या विना ऋतुमती का विवाह हो

सकता है? और क्या विना ऋतुमती का मूल्य देना ही चाहिये? विना ऋतु के विवाह करना ९० के विरुद्ध है और मूल्य लेना ९८ के विरुद्ध है )॥ ९५॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः। तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानांप्रियमाचरन्॥९५॥ प्रजनार्थंस्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः। तस्मात्साधारणोधर्मः श्रुतौपत्न्यासहोदितः॥९६॥

अर्थ-("भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः" इत्यादि मन्त्रानुसार) देवतों की दी हुई भार्या को पति पाता है, कुछ अपनी इच्छा से ही) नहीं, इसलिये देवतों का प्रिय आचरण करता हुवा उस सती का नित्य पालन करे ॥ ९५ ॥ गर्भधारण करने के लिये स्त्रियों का ( ईश्वर ने ) उत्पन्न किया और वीर्यसन्तान के लिये पुरुष उत्पन्न किये हैं। इसी से स्त्री के साथ पुरुष का वेद में समान धर्म कहा है ॥ ९६ ॥

" कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥ "

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥

अर्थ-"कन्या का शुल्क देने पर यदि शुल्क देने वाला मरजावे तौ देवर को कन्या देदेनी चाहिये यदि कन्या स्वीकार करे तौ, यह अगले ही ९८ के विरुद्ध है)॥९७॥"शूद्र भी (द्विजों की तौ कथा ही क्या है) लड़की देता हुवा शुल्क ग्रहण न करे। शुल्क ग्रहण करने वाला छिपा हुवा कन्याका विक्रय करता है ॥९८॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः। यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरऽन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु। शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ-यह पहिले शिष्ट पुरुष कभी नहीं करते थे और न कोई ( शिष्ट ) इस समय करते हैं, जो कि एक के लिये कन्यादान करके दूसरे को दी जावे ॥ ९९ ॥ पूर्व जन्मों में भी हमने कभी शुल्कसंज्ञक मूल्य से छिपा लड़की का बेचना नहीं सुना ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभीचारोभवेदामरणान्तिकः। एषधर्म.समासेन ज्ञेयःस्त्रीपुंसयोःपरः ॥१०१॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–भार्या पति का मरण पर्यन्त आपस में व्यभिचार न होना ही स्त्री पुरुषों का संक्षेप से श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये ॥१०१॥ विवाहवाले स्त्री पुरुषों को सदा ऐसा यत्न करना चाहिये जिसमें कभी आपस में जुदाई न हो ॥१०२॥

एषस्त्रीपुंसयोरुक्तोधर्मोवोरतिसंहितः। आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥१०३॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्यभ्रातरः समम्। भजेरन्पतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

अर्थ–यह भार्या और पति का आपस में प्रीतियुक्त धर्म और सन्तान के न होने में सन्तान की प्राप्ति भी तुम से कही। अब दायभाग को सुनो ॥१०३॥ माता पिता के मरने पर भाई लोग मिलकर बाप के रिक्थ (जायदाद आदि) के बराबर भाग करें। उन के जीवते पुत्रों को अधिकार नहीं ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठएव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः। पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ–( अथवा ) पिता के सम्पूर्ण धन को ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे और शेष छोटे भाई खाना कपड़ा लेवें,जैसे पिता के सामने रहते थे ॥ १०५॥ ज्येष्ठ के उत्पन्न होने मात्र से मनुष्य पुत्र वाला कहलाता और पितृऋण से छूट जाता है। इस कारण ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण धन लेने योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते। स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः॥१०७॥पितेवपालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठोभ्रातॄन् यवीयसः। पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

अर्थ–जिस के उत्पन्न होने से ( पितृ ) ऋण दूर होता है और मोक्ष प्राप्त होता है उसी को धर्मज पुत्र जाने। औरों को कामज कहते हैं ॥१०७॥ ज्येष्ठ भ्राता छोटे भाइयों का पिता, पुत्र के समान पालन करे और छोटे भाई भी बड़े भाई को धर्म से पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः। ज्येष्ठ पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९॥ योऽज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः। अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥

अर्थ-ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है, ज्येष्ठ ही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ ही लोगों में अतिपूज्य है और ज्येष्ठ सत्पुरुषों से निन्दा को नहीं पाता ॥१०९॥ जो ज्येष्ठवृत्ति हो ( पितृवत् पोषणादि करे ) वह माता पिता के समान पूज्य है और यदि माता पिता के तुल्य पोषणादि न करे तौ बन्धुवत् ११०

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥१११॥ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥

अर्थ-इस प्रकार विना बांटे सब भाई साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा से सब भाई विभाग करके अलग रहें। अलग २ में धर्म बढ़ता है, इस लिये विभाग धर्मानुकूल है ॥१११॥ उद्धार (जो निकाल कर-भाग के अतिरिक्त भेंट दिया जाय ) बड़े का सब द्रव्यों में से उत्तम बीसवां भाग होना चाहिये और बिचले का चालीसवां तथा छोटे का ८० वां भाग होना चाहिये (जो बचे उस को ११६ के अनुसार सब बराबर बाट लेवें ) ॥११२॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्। येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥११३॥ सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥११४॥

अर्थ-ज्येष्ठ और कनिष्ठ, पूर्व श्लोकानुसार उद्धार ग्रहण करें और ज्येष्ठ तथा कनिष्ठों से जो अतिरिक्त हों उन ( मध्यमों ) का मध्यम भाग होना चाहिये ॥११३॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन हो उस को और जो सब से अधिक हो उस को तथा जो एक वस्तु १० वस्तुओं में अधिक उत्तम हो उस को भी ज्येष्ठ ग्रहण करे ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु। यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥११५॥ एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्

प्रकल्पयेत्।उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥

अर्थ-पूर्व श्लोक में दश में श्रेष्ठ वस्तु बड़ा पावे, इत्यादि उद्धार कहा परन्तु स्वकर्मों में समृद्ध भ्राताओं का नहीं है किन्तु वे जो कुछ ज्येष्ठ को देदेवें, वही सन्मानार्थ है ॥११५॥ पूर्वोक्त प्रकार से उद्धार निकलने पर बराबर भाग करें। यदि कोई उद्धार न निकाले तो आगे कहे अनुसार भाग बांटे ॥११६॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोनुजः।अंशमंशं यवीयांस इतिधर्मोव्यवस्थितः॥११७॥स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तुकन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताःस्युरदित्सवः॥११८

अर्थ-ज्येष्ठ पुत्र एक भाग अधिक ( अर्थात् दो भाग ) और उस से छोटा डेढ़ भाग और शेष छोटे सब एक एक भाग ग्रहण करें। इस प्रकार धर्म की व्यवस्था है ॥११७॥ भाई लोग अपने अपने भागों में से चौथा भाग बहनों को देवें। यदि देना न चाहें तो पतित हों ॥ ११८ ॥

अजाविकंसैकशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकंतुविषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते॥११९॥यवीयान्ज्येष्ठ भार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मोव्यवस्थितः॥१२०॥

अर्थ-बकरी, भेड़ तथा घोड़ा आदि एक खुर वाले पशु का विषम संख्या होने पर कभी भाग न करे। किन्तु वह ज्येष्ठ पुत्र का ही है ॥११९॥ यदि कनिष्ठ भाई, ज्येष्ठ की भार्या में ( नियोगविधि से ) पुत्र उत्पन्न करे तो वहां सम विभाग होना चाहिये। ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतोनोपपद्यते।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥

" पुत्रः कनिष्ठोज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयोभवेत् ॥ १२२ ॥ "

अर्थ-प्रधान की अप्रधानता धर्मानुकूल सिद्ध नहीं है। और उत्पादन में पिता प्रधान है। इस कारण धर्म से उस की सेवा करे ॥ १२१ ॥ "प्रथम विवाहिता में कनिष्ठ पुत्र और द्वितीय विवाहिता में ज्येष्ठ पुत्र होवे तो वहां किस प्रकार विभाग होना चाहिये ? यदि इस प्रकार का संशय हो तोः-॥१२२॥"

"एकं वृषभमुद्धरं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥ ज्येष्ठस्तु जातोज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः । ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥"

"अर्थ–पहिली में उत्पन्न हुवा वह कनिष्ठ भी एक श्रेष्ठ बैल भेंट में ग्रहण करे। उस के अनन्तर कनिष्ठाओं से उत्पन्न हुवे पुत्र क्रम से अपनी २ माताओं के विवाहक्रमानुसार ज्येष्ठ हों, वे एक एक वृषभ ग्रहण करें ॥१२३॥ (इक श्लोक का पाठ भी अस्तव्यस्त है) यदि ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठा में उत्पन्न हो तो १ बैल के साथ पन्द्रह गाय ग्रहण करे । उस के अनन्तर अपनी माता की छोटाई के हिसाब से शेष भाग बांट लेवें, यह निर्णय है ॥ १२४ ॥,,

'सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतोज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतोज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥,,

जन्मज्यैष्ठ्येन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतोज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

अर्थ–"समस्त समान जाति की स्त्रियों में उत्पन्न हुवे पुत्रों को माता की ज्येष्ठता से ज्येष्ठता नहीं, किन्तु जन्म से ज्येष्ठता कहाती है ॥,,

(१२२ से १२५ तक श्लोक अविहित शास्त्रविरुद्ध अनेक तथा असवर्णा से विवाहों के समर्थक और ३ ।१५-१६ के विरुद्ध होने से त्याज्य हैं ॥१२५॥

सुब्रह्मण्याख्य मन्त्र ("सुब्रह्मण्यो ३ इन्द्र आगच्छ०,, इत्यादि ज्योतिष्टोम में इन्द्र को बुलाने में पढ़ते हैं। उस) में ज्येष्ठ पुत्र के नाम से कहते हैं (कि अमुक का पिता यज्ञ करता है) सो वहां भी और जौड़िया दो पुत्रों में से गर्भों में, प्रथम जन्मने वाले को ज्येष्ठता कही है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

अर्थ–विना पुत्र वाला इस विधि से कन्या को "पुत्रिका,, करे कि विवाह के समय में (जामाता से) कहे कि जो पुत्र इस के होगा वह मेरा जलादि दान करने वाला हो (ऐसी प्रतिज्ञा करके विवाह करे ॥

१२७ वें के आगे १ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:–

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रोभवेदिति] ॥

भ्राता से रहित अलंकृता कन्या आप को दूंगा, परन्तु इस में जो पुत्र उत्पन्न हो वह मेरा पुत्र हो जावे, यह ) ॥ १२७ ॥

"अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥,,

अर्थ–"पहिले अपने वंश की वृद्धि के लिये आप दक्ष प्रजापति ने भी इस विधान से पुत्रिकाएं किई थीं ॥ १२८ ॥,, ( यह दक्ष के पश्चात् की रचना १२८। १२९ में है ) ॥

"ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥"

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्योधनं हरेत् ॥ १३० ॥

"अर्थ–उस प्रीतात्मा दक्ष प्रजापति ने सत्कार करके दश धर्म को और तेरह कश्यप को तथा सत्ताईस कन्या चन्द्रमा को ( पुत्रिका धर्म से ) दीं थीं ॥१२९॥"

जैसा आपा वैसा पुत्र और पुत्र के समान कन्या है । फिर भला उस के होते हुवे अपने यहां का धन दूसरा कैसे हरे ? ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः। दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥१३१॥ दौहित्रोह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥१३२॥

अर्थ -नाता का कोड़चा कुमारी का ही भाग है और अपुत्र का संपूर्ण धन दौहित्र ही लेवे ॥१३१॥ दौहित्र ही अपुत्र पिता का संपूर्ण धन ले और वही पिता और नाना इन दोनों को पिण्ड देवे । ( पिण्डदान का तात्पर्य वृद्धावस्था में सेवार्थ भोजन ग्रासादि देना जानो) ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥१३३॥पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥१३४॥

अर्थ-लोक में पुत्र और दौहित्रों की धर्म से विशेषता नहीं है क्योंकि उन के माता पिता उसी के देह से उत्पन्न हैं ॥१३३॥ पुत्रिका करने पर यदि पीछे से पुत्र हो जावे तौ वहां (पुत्र तथा दौहित्र के) सम विभाग करे। क्योंकि स्त्री की ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाऽविचारयन्॥१३५॥अकृता वा कृता वापि यंविन्देत्सदृशात्सुतम्। पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥१३६॥

अर्थ-"पुत्रिका" कदाचित् पुत्ररहिता ही मर जावे तौ उस धन को पुत्रिका का पति ही विना विचार किये लेले॥१३५॥ पुत्रिका का विधान किया हो वा न भी किया हो, समान जाति वाले जामाता से जिस पुत्र को पावे, उसी से मातामह पौत्र वाला कहावे और पिण्ड दे और धन ले ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकान्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥ पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥

अर्थ-पुत्र के होने से लोकों को जीतता और पौत्र के होने से चिरकाल पर्यन्त सुख में निवास करता है। और पुत्र के पौत्र (प्रपौत्र) से तौ मानों आदित्यलोक को पाता है ॥१३७॥ जिस कारण पुन्नाम नरक से पुत्र (सेवा करके) पिता को बचाता है, इस कारण आप ही ब्रह्मा ने 'पुत्र, कहा है॥१३८॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषोनोपपद्यते। दौहित्रोपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥ मातुःप्रथमतःपिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः। द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुःपितुः॥१४०॥

अर्थ-लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ विशेषता नहीं समझी जाती।क्योंकि दौहित्र भी इस (मातामह) को पौत्रवत् ही परलोक पहुंचाता है ॥१३९॥ पुत्रिकापुत्र,प्रथम माता का पिण्ड करे और दूसरा मातामह का,तीसरा मातामह के पिता का (इस प्रकार तीनों की अन्नादि से सेवा करे) ॥ १४० ॥

उपपन्नोगुणैःसर्वैः पुत्रोयस्य तु दत्रिमः। स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः॥१४१॥गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित्। गोत्ररिक्थानुगःपिण्डोव्यपैति ददतः स्वधा॥१४२॥

अर्थ- जिसका दत्तक पुत्र (अध्ययनादि) सम्पूर्ण गुणों से युक्त है, वह दूसरे गोत्र से प्राप्त हुवा भी उस के भाग को ग्रहण करे॥१४१॥ (जो उत्पादक पिता ने अन्य को दे दिया उस) उत्पन्न करने वाले पिता के गोत्र और धन को दत्तक कभी न पावे, क्योंकि पिण्ड=ग्रास आदि देना ही गोत्र और धन का अनुगामी है और दिये हुवे पुत्र का पिण्डादि उस जनक पिता से छूट जाता है॥१४२॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्। उभौतौनार्हतोभागं जारजातककामजौ॥१४३॥नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातो ऽविधानतः। नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितोहिसः १४४

अर्थ- विना नियोगविधि से उत्पन्न हुवा पुत्र और लड़के वाली का नियोग विधि से भी देवर से उत्पन्न हुवा पुत्र, ये दोनों भाग को नहीं पाते। क्यों कि ये दोनों जार से उत्पन्न और कामज हैं॥ १४३ ॥ नियुक्ता स्त्री में भी विना विधान उत्पन्न हुवा पुत्र (अर्थात् घृतादि लगाकर जिस नियम से रहना चाहिये, उसके विपरीत करने वालों से उत्पन्न पुत्र) क्षेत्र वाले पिता के धन को पाने योग्य नहीं है। क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुवा है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातःपुत्रोयथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः १४५ धनं योबिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ- नियुक्ता में उत्पन्न हुवा पुत्र, क्षेत्रवाले पिता का धन लेवे, जैसे औरस पुत्र लेता है क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न हुवा, इस कारण क्षेत्रवाले का बीज समझा जाता है ॥१४५॥ जो मरे भाई की स्त्री तथा धन का धारण करे वह (नियोग-विधि से) भाई का पुत्र उत्पन्न करके उस धन को उसी को देदेवे ॥१४६॥

याऽनियुक्ताऽन्यतःपुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥

"एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत॥ १४८ ॥"

अर्थ- जो स्त्री विना नियोग देवर से वा दूसरे से पुत्र को प्राप्त हो, उस कामज को द्रव्य का भागी नहीं कहते ॥१४७॥ "समान जातिवाली भार्या में

एक पति से उत्पन्न पुत्रों के विभाग का यह विधान जानना चाहिये। अब नाना जाति की बहुत स्त्रियों में एक पति से उत्पन्न पुत्रों का (विभाग) सुनो १४८"

"ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः। तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥ कीनाशोगोवृषोयानमलङ्कारश्च वेश्म च। विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥"

"अर्थ–ब्राह्मण की क्रम से (ब्राह्मणी से आदि लेके) यदि चार भार्या होवें तो उन के पुत्रों में यह विभाग विधि कही है कि:–॥१४९॥ कृषि वाला बैल, अश्वादि सवारी, आभूषण, घर और प्रधान अंश प्रधानभूत ब्राह्मणी के पुत्र को देवे (औरों को आगे कहे अनुसार दे) ॥ १५० ॥"

"त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रोद्वावंशौ क्षत्रियासुतः। वैश्याजः सार्धमेवांश-मंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च। धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥१५२॥"

"अर्थ–पिता के धन से ब्राह्मणी का पुत्र तीन अंश लेवे और क्षत्रिया का सुत दो अंश तथा वैश्या का पुत्र डेढ़ अंश और शूद्रा का एक अंश लेवे ॥ १५१ ॥ अथवा (विना उद्धार के निकाले) सम्पूर्ण धन के दश भाग करके धर्म का जानने वाला इस विधि से धर्म्य विभाग करे कि:–॥ १५२ ॥"

"चतुरोंशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः। वैश्यापुत्रोहरेद्द्व्यंश-मंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५३ ॥ यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्। नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥"

"अर्थ–(१० भागों में से) चार अंश ब्राह्मणी का पुत्र और क्षत्रिया का तीन अंश तथा वैश्या का पुत्र दो अंश और शूद्रा का पुत्र दो अंश ले ॥१५३॥ यद्यपि सत्पुत्र हो वा असत्पुत्र हो परन्तु धर्म से शूद्रा के पुत्र को दशमांश से अधिक न दे ॥ १५४ ॥"

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रोन रिक्थभाक्। यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥ समवर्णासु ये जाताः सर्वेपुत्रा द्विजन्मनाम्। उद्धारं ज्यायसे दत्वा भजेरन्नितरे समम् ॥१५६॥"

"अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का शूद्रा से उत्पन्न हुवा पुत्र धन का भागी नहीं, किन्तु जो कुछ उस का पिता देदे, वही उस का धन हो ॥१५५॥ समान जाति की भार्या में द्विजातियों से उत्पन्न हुवे सब पुत्र ज्येष्ठ को उद्धार देकर शेष को सम भाग करके बांट लें ॥ १५६ ॥"

"शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते। तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवोमनुः। तेषां षड् बन्धुदायादाः षडऽदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥"

"अर्थ-शूद्र को समान जाति ही की भार्या कही है, दूसरे वर्ण की नहीं कही। उस शूद्रा में यदि १०० पुत्र भी उत्पन्न हों तौ भी समान अंश वाले ही हों ॥ १५७ ॥ जो मनुष्यों के द्वादश पुत्र स्वायम्भुव मनु ने कहे हैं उन में छः बन्धुदायाद हैं और छः अदायाद बान्धव हैं ॥"

( १४८ से १५८ तक ११ श्लोक भी हमारी सम्मति में अमान्य हैं। क्योंकि यथार्थ में मनु की आज्ञा से द्विजों को सवर्णा से ही विवाह कहा है। असवर्णा से विवाह करने पर पतित हो जाते हैं। तब ब्राह्मणत्वादि द्विजत्व ही नहीं रहता। १४८ में इन असवर्णाओं के दायभाग की प्रस्तावना है। १४९ से १५४ तक ब्राह्मण की ४ स्त्रियों के, जो चारों वर्णों में से एक २ हों, पुत्रों का दायभाग है। फिर १५५ में शूद्रापुत्र को दायभागित्व का निषेध करके ये अमान्य श्लोक आपस में भी लड़ते हैं। तथा ब्राह्मण की चारों वर्ण की ४ स्त्रियों के पुत्रों का तौ वर्णन किया, परन्तु क्षत्रिय की ३ वर्ण की ३ स्त्रियों और वैश्य की २ वर्ण की २ स्त्रियों के पुत्र कोरंकोर ही रक्खे हैं। १५८ वां स्पष्ट की अन्यकृत है जो इन अपने से पूर्व के १० के भी अन्यकृत होने की पुष्टि करता है ) ॥ १५८ ॥'

**औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादाबान्धवाश्चषट् ॥१५९॥ कानीनश्च सहोढश्चक्रीतःपौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडऽदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥**

अर्थ-औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, ये छः धन के भागी बान्धव हैं ॥ १५९ ॥ कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र; ये छः धन के भागी नहीं किन्तु केवल बान्धव हैं (इन के लक्षण १६६ से कहेंगे ) ॥ १६० ॥

**यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरञ्जलम्। तादृशं फलमाप्नोति**

कुपुत्रैःसंतरंस्तमः॥१६१॥ यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः॥ १६२॥

अर्थ-बुरी (टूटी फूटी) नावों से जल में तरता हुवा जिस प्रकार के फल को पाता है, उसी प्रकारका फल कुपुत्रों से दुःख को तिरने वाला पाता है॥१६१॥ यदि अपुत्रके क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार दूसरा औरस पुत्र भी होजावे तौ दोनों अपने २ पिता के धन को ग्रहण करें, अन्य को अन्य का पुत्र न ले॥ १६२॥

एकएवौरसःपुत्रःपित्र्यस्य वसुनःप्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥१६३॥षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृका-द्धनात्। औरसोविभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥ १६४॥

अर्थ-एक औरस पुत्र ही पिता के धन का भागी होता है, शेष सब को दया से भोजन वस्त्रादि देदेवे॥ १६३॥ औरस पुत्र दाय का विभाग करता हुवा, क्षेत्रज को छठा वा पांचवां भाग पितृधन से देदेवे॥ १६४॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ। दशापरेतु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः॥१६५॥स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पा-द्येद्धि यम्। तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम्॥१६६॥

अर्थ-औरस और क्षेत्रज ये दोनों पुत्र (उक्त प्रकार से) पितृधन के लेने वाले हों और क्रमशः शेष दश पुत्र गोत्रधन के भागी हों॥१६५। विवाहादि संस्कार किये हुवे अपने क्षेत्र में आप जिस को उत्पन्न करे, उस को पहिले कहा हुवा "औरस" पुत्र जानिये॥ १६६॥

यस्तल्पजःप्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।स्वधर्मेण नियु-क्तायां स पुत्रःक्षेत्रजःस्मृतः१६७मातापितावा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयोदत्रिमः सुतः॥१६८॥

अर्थ-जो मृत वा नपुंसक वा प्रसवविरोधी व्याधि से युक्त की स्त्री में नियोगविधि से उत्पन्न होवे वह "क्षेत्रज" पुत्र कहा है॥१६७॥ माता वा पिता आपत्काल में जिस समान जाति वाले प्रीतियुक्त पुत्र को सङ्कल्प करके दे दें, वह "दत्रिम" पुत्र (दत्तक) जानने योग्य है॥ १६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्। पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्चकृत्रिमः॥१६९॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः। स गृहे गूढउत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ–जो समान जाति वाला और गुण दोष का जानने वाला तथा पुत्र के गुणों से युक्त पुत्र कर लिया जावे उसको "कृत्रिम" पुत्र जानना चाहिये १६९ जिसके घर में उत्पन्न होवे और न जाना जाय कि यह किसका है, वह घर में "गूढोत्पन्न" उसका पुत्र है, जिसकी कि स्त्री ने जना है ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥१७१॥पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः। तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

अर्थ–जो माता पिता का अथवा उन दोनों में से किसी एक का छोड़ा हुवा है, उस पुत्र को जो ग्रहण करे, उसको उसका "अपविद्ध" पुत्र कहते हैं ॥ १७१ ॥ पिता के घर में जो कन्या विना प्रकट किये पुत्र को जने उस कन्योत्पन्न को उस के पति का "कानीन" पुत्र नाम से कहें ॥ १७२ ॥

यागर्भिणीसंस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापिवासती। वोढुःसगर्भोभवति सहोढइतिचोच्यते१७३क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थंमातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकःसुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपिवा १७४

अर्थ–जो ज्ञात वा अज्ञात गर्भिणी के साथ विवाह किया जावे, वह उसी पति का गर्भ है और उसको "सहोढ" कहते हैं ॥१७३॥ सन्तान चलाने के लिये माता पिता के पास से जिसे मोल ले लेवे, वह उसके सदृश हो वा असदृश हो, उसको उस का "क्रीतक" पुत्र कहते हैं ॥ १७४ ॥

यापत्यावापरित्यक्ता विधवावास्वयेच्छया। उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा सपौनर्भवउच्यते १७५ साचेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति॥ १७६ ॥

अर्थ–जो पति की छोड़ी हुई वा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे की भार्या होकर पुत्र को जने उसको "पौनर्भव" पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥ वह स्त्री यदि पूर्व पुरुष से संयुक्त न हुई तौ दूसरे पौनर्भव पति से फिर

विवाह संस्कार करने के योग्य है। (अथवा फिर से उसी के पास जावे तौ भी पुनः विवाह संस्कार करना योग्य है ) ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनोयस्त्यक्तोवास्यादकारणात्।आत्मानंस्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तुसस्मृतः॥१७७॥ यंब्राह्मणस्तुशूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्। स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशव.स्मृत:॥१७८॥

अर्थ-जो माता पिता से हीन वा विना अपराध निकाला हुवा अपने को जिसे देदे, वह "स्वयंदत्त" कहा है ॥ १७७ ॥ जिस को ब्राह्मण शूद्रा में काम से उत्पन्न करे वह जीता हुआ भी शव ( मृतक ) के तुल्य है, इस से उस को "पारशव" (वा "शौद्र") कहा है ॥ १७८ ॥

दास्यांवादासदास्यांवायःशूद्रस्यसुतोभवेत्।सोऽनुज्ञातोहरेदंशमिति धर्मोव्यवस्थितः ॥ १७९ ॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान्।पुत्रप्रतिनिधीनाहुःक्रियालोपान्मनीषिणः॥१८०॥

अर्थ-दासी में वा दास की स्त्री में जो शूद्र का पुत्र हो वह ( पिता की आज्ञा से ) भाग लेवे। यह शास्त्र की मर्यादा है ॥१७९॥ इन उक्त क्षेत्रजादि एकादश पुत्रों को ( सेवादि ) क्रिया का लोप न हो, इस कारण पुत्र का प्रतिनिधि बुद्धिमानों ने कहा है ॥ १८० ॥

यएतेऽभिहिताःपुत्राःप्रसङ्गादन्यबीजजाः। यस्यतेबीजतोजातास्तस्यते नेतरस्य तु॥ १८१ ॥ भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरब्रवीत्॥ १८२ ॥

अर्थ-जो ये ( औरस के ) प्रसङ्ग से दूसरे के बीज से उत्पन्न हुवे पुत्र कहे हैं, वे जिस के बीज से उत्पन्न हुवे हों उसी के हैं, दूसरे के नहीं ॥१८१॥ सहोदर भाइयों में एक भाई भी पुत्रवान् हो तौ उन सब को पुत्रवाला ( मुक्त ) मनु ने कहा है ( अर्थात् अन्य भाइयों को नियोग वा पुनर्विवाहादि नहीं करना चाहिये ) ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणीभवेत्। सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति। बहवश्चेत्तु सदृशाःसर्वेरिक्थस्य भागिनः॥१८४॥

अर्थ-एक पुरुष की कई स्त्रियों में यदि एक पुत्रवाली हो तो उस पुत्र से उन सब को (मुझ मनु ने पुत्र वाली कहा है ॥१८३॥ औरसादि पुत्रों में पूर्व २ के अभाव में दूसरे २ नीच पुत्र धन को पाने योग्य हैं और यदि बहुत से समान हों तो सब धन के भागी होवें ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः । पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते । चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ-न सहोदर भाई, न पिता धन को लेने वाले हैं किन्तु पुत्र ही धन के लेने वाले हैं, परन्तु अपुत्र का धन पिता और भाई ले लेवें ॥१८५॥ पित्रादि तीनों को जल और पिण्ड (भोजन) देवे, चौथा पिण्ड वा उदक का देने वाला है । पांचवें का यहां (सेवादि कार्य में) सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥

(१८६ से आगे यह श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है, अनुमान है कि अन्यों में से जाता रहाः-

(असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्त्तिताः ।
पितामह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः)

अर्थात्-अपने पिता की जो अन्य अपुत्र भार्या (अपनी मासी) हों वे सब समान अंश की भागिनी हैं और पितामही भी । ये सब (माता के समान ही कही हैं) ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥१८७॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥१८८॥

अर्थ-सपिण्डों में जो २ बहुत समीपी हो, उस २ का धन हो और इस के उपरान्त (सपिण्ड न हो तो) आचार्य, इसके अनन्तर शिष्य धनभागी हो ॥१८७॥ और यदि ये भी न हों तो उस धन के भागी ब्राह्मण हैं । वे ब्राह्मण वेदत्रय के जानने वाले और पवित्र तथा जितेन्द्रिय हों तो धर्म नष्ट नहीं होता ॥१८८॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥१८९॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥१९०॥

अर्थ-ब्राह्मण का धन राजा कभी भी न ले। यह शास्त्र की नित्य मर्यादा है। अर्थात् बेवारिस ब्राह्मण का धन ब्राह्मणों ही को देदेवे। अन्य सब वर्णों का धन दायभागी न हो तो राजा ले लेवे ॥१८९॥ राजा, अपुत्र मरे ब्राह्मण की सन्तति के लिये समानगोत्र वाले से पुत्र दिलाकर उस ब्राह्मण का जो कुछ धन हो वह उस पुत्र को देदेवे ॥ १९० ॥

द्वौतुयौविवदेयातां द्वाभ्यांजातौस्त्रियाधने। ततोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्सगृह्लीतनेतरः ॥१९१॥ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥

अर्थ-दो पिताओं से एक माता में उत्पन्न हुवे दो पुत्र यदि स्त्रीधन के लिये लड़ें, तो उन में जो जिस के पिता का धन हो, वह उस को ग्रहण करे, अन्य न लेवे ॥१९१॥ माता के मरने पर सब सहोदर भाई और सहोदरा भगिनी मिलकर मातृधन को बराबर बांट लेवें ॥ १९२ ॥

यास्तासांस्युर्दुहितरस्तासामपियथार्हतः। मातामह्याधनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तञ्च प्रीतिकर्मणि।भ्रातृमातृपितृप्राप्तंषड्विधं स्त्रीधनंस्मृतम्॥१९४॥

अर्थ-उन लड़कियों की जो (अविवाहिता) कन्या हों उन को भी यथायोग्य मातामही के धन से प्रीतिपूर्वक थोड़ा सा धन देना चाहिये ॥१९३॥ १ विवाह काल में अग्नि के सन्निधि में पित्रादिका दिया हुवा धन, २ बुलाकर दिया हुवा, ३ प्रीतिकर्म में तथा समयान्तर में पति का दिया हुवा, ४ पिता ५ भ्राता ६ माता से पाया हुवा। यह ६ प्रकार का स्त्रीधन कहा है ॥१९४॥

अन्वाधेयंचयद्दत्तं पत्याप्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवतिवृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥ ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु। अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

अर्थ-(विवाह के ऊपर पति के कुल में स्त्री जो धन पावे वह) अन्वाधेय धन और जो पति ने प्रीतिकर्म में दिया हो, पति के जीते हुवे मरी स्त्री का वह सम्पूर्ण धन, सन्तान का हो ॥ १९५ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य, इन पांच प्रकार के विवाहों में जो (स्त्रियों का छः प्रकार का) धन है वह अपुत्रा स्त्री के मरने पर पति का ही कहा है ॥ ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याःस्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते॥१९७॥स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन । ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् १९८॥

अर्थ-परन्तु आसुरादि (३) विवाहों में जो स्त्री को दिया धन है, उस स्त्री के अपुत्रा मरने पर वह (धन) माता पिता का है ॥१९७॥स्त्री के पास जो कुछ धन किसी प्रकार पिता का दिया हो, वह उस की ब्राह्मणी कन्या ग्रहण करे, अथवा उस की सन्तान का होजावे ॥ १९८ ॥

न निर्हारंस्त्रियःकुर्युःकुटुम्बाद्बहुमध्यगात्।स्वकादपिचवित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतोभवेत्।न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

अर्थ-बहुत कुटुम्ब के धन से स्त्रियें धनसञ्चय (कोरथा) न करें और न अपने धन से विना पति की आज्ञा अलङ्कारादि (कोरथा) करें ॥ १९९ ॥ पति के जीवते हुवे (उस की सम्मति से) जो कुछ अलङ्कार स्त्रियों ने धारण किया हो, उस को (पति के मरने पर) दायाद लोग न बांटें । जो उस को बांटते हैं वे पतित होते हैं ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा॥उन्मत्तजडमूकाश्च येचकेचिन्निरिन्द्रियाः॥२०१॥सर्वेषामपितुन्याय्यं दातुंशक्त्या मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितोह्यददद्भवेत् ॥२०२॥

अर्थ-नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक और जो कोई जन्म से निरिन्द्रिय हों; ये सब (पिता के धन के) भागी नहीं हैं॥२०१॥ इन सब (नपुंसकादि) को आयुःपर्यन्त न्याय से अन्न वस्त्र यथाशक्ति शास्त्र के जानने वाले धनस्वामी को देना चाहिये । यदि न देवे तो पतित हो॥२०२॥

यद्यर्थिता तुदारैःस्यात्क्लीबादीनांकथञ्चन । तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यंदायमर्हति॥२०३॥यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति। भागोयवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥२०४ ॥

अर्थ-यदि कदाचित् नपुंसक को छोड़कर (अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास जानो) पतितादि का विवाह करने की इच्छा हो तो उन सन्तान वालों

के सन्तान धन के भागी हैं ॥२०३॥ पिता के मरने पर ज्येष्ठ पुत्र जो कुछ धन पावे, यदि छोटा भाई विद्वान् हो तौ उस में भी उस का भाग है ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् । समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥२०५॥ विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् । मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥२०६॥

अर्थ—सब विद्वान् भाइयों का यदि कृषि वाणिज्यादि से कमाया हुवा धन हो तौ उस में पिता के कमाये धन को छोड़ कर सम विभाग करें ( अर्थात् ज्येष्ठ को कुछ निकाल कर न देवें ) यह निश्चय है ॥२०५॥ विद्या, मैत्री, विवाह; इन से सम्पादित और मधुपर्कदान के काल में प्राप्त धन जिस को मिला हो उसी का हो ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥२०७॥ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥२०८॥

अर्थ—जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धनों को नहीं चाहता, उस को अपने भाग में से कुछ निर्वाह योग्य धन देकर अलग करें ( जिस से सब भाइयों के साझले कमाये धन में उस भाग न चाहने वाले के पुत्रादि झगड़ा न करें ) ॥२०७॥ पिता के धन को न गमाता हुवा अपने श्रम से जो धन उपार्जित करे, वह धन न चाहे तौ भाइयों को न दे ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

अर्थ—पिता अपने न पाये हुवे पैतृक द्रव्य को यदि फिर बड़े परिश्रम से पावे तौ विना इच्छा के उस अपने कमाये धन को पुत्रों को न बांटे ॥२०९॥ पहिले अलग हुवे हों और पश्चात् एकत्र हो व्यापारादि करते रहें और फिर यदि विभाग करें तौ उस में सम विभाग हो, उस में बड़े का उद्धार नहीं है ॥२१०॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः

समम् । भ्रातरोयं च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

अर्थ—जिन भाइयों के बीच में कोई छोटा वा बड़ा भाई विभागकाल में (संन्यासादि कारण से) अपने अंश से छूट जावे अथवा मरजाये तौ उस का भाग लुप्त न होगा ॥२११॥ किन्तु सहोदर भाई और सहोदर भगिनी और जो मिले हुवे भाई हैं वे भी सब मिल कर उस में समान विभाग करलें ॥२१२॥

योज्येष्ठोविनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातृन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठःस्याद्भागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः॥२१३॥सर्वएव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरोधनम्।नचादत्वाकनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठःकुर्वीतयौतकम्॥२१४॥

अर्थ—जो ज्येष्ठभ्राता लोभ से कनिष्ठ भाइयों की वञ्चना (ठगाई) करे, वह ज्येष्ठ भ्राता अपने ( ज्येष्ठ ) भाग से रहित और राजों के दण्ड योग्य होवे ॥ २१३ ॥ विरुद्ध कर्म करने वाले सब भाई धन का भाग पाने योग्य नहीं और ज्येष्ठ, कनिष्ठों को न देकर कोरचा न करे ॥२१४॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६ ॥

अर्थ—भाइयों के साथ रहने वाले साझले भाई यदि ( धन के उपार्जन को ) साथ साथ ही उत्थान करें तौ विभागकाल में पिता पुत्रों का विषम विभाग कभी न करे ॥ २१५ ॥ ( यदि जीवते ही पिता ने पुत्रों की इच्छा से विभाग कर दिया हो ) उस विभाग के पश्चात् पुत्र उत्पन्न हुवा, तौ वह पुत्र पिता ही का भाग लेवे अथवा जो फिर से पिता के साथ रहते हों उन के साथ विभाग करे ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥२१७॥ऋणे धनं च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि। पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—सन्तानरहित पुत्र का दाय माता ग्रहण करे और माता के भी मरने पर पिता की माता ग्रहण करे ॥२१७॥ ऋण और धन सब में यथाशास्त्र विभाग हो जाने पर पीछे से जो कुछ पता लगे तौ उस सब को भी बराबर बांटलें (अर्थात् पता लगाने का वा ज्येष्ठ का उद्धार देना योग्य नहीं है ) ॥ २१८ ॥

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते २१९ अयमुक्तोविभागोवःपुत्राणां च क्रियाविधिः। क्रमशः क्षेत्रजादीनां, द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

अर्थ-वस्त्र, वाहन, आभरण और पकाया हुआ अन्न, पानी (कूपादि) तथा स्त्री और निर्वाह की अत्यन्तोपयोगी वस्तु और प्रचार (मार्ग) ये विभाग योग्य नहीं हैं ( अर्थात् जो जिस के काम में जिस प्रकार आरहा है वही उसे वैसे ही रक्खे) ॥२१९॥ यह क्षेत्रजादि पुत्रों का क्रमसे विभाग करने का प्रकार और क्रियाविधान तुम्हारे प्रति कहा। अब आगे द्यूतधर्म को सुनो ॥२२०॥

द्यूतंसमाह्वयंचैव राजाराष्ट्रान्निवारयेत्। राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्॥२२१॥प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ। तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

अर्थ-द्यूत और समाह्वय (देखो २२३) को राजा राज्य में न होने देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्यका नाश करने वाले हैं॥२२१॥ये द्यूत और समाह्वय प्रकट चौर्य हैं। इन के दूर करने में राजा नित्य यत्न वाला होवे ॥ २२२॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोकेद्यूतमुच्यते। प्राणिभिःक्रियतेयस्तु स विज्ञेयःसमाह्वयः॥२२३॥द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा। तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

अर्थ-(कौड़ी फांसा इत्यादि) बेजान वस्तुओं से जो हार जीत होती है उसको "जुवा" कहते हैं और ( मेंढा मुर्गा इत्यादि ) प्राणियों से जो हार जीत होती है उसको "समाह्वय" जानना चाहिये॥२२३॥द्यूत और समाह्वय को जो करे वा करावे, उन सबको राजा मरवा देवे (वा चोट का दण्ड देवे) और यज्ञोपवीतादि द्विजचिह्न धारण करने वाले शूद्रों को भी यही दण्ड देवे ॥२२४॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्चमानवान्। विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रंनिर्वासयेत्पुरात्२२५एतेराष्ट्रे वर्तमानाराज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।विकर्मक्रियया नित्यंबाधन्तेभद्रिकाःप्रजाः२२६

अर्थ—जुवारी, धूर्त, क्रूरता करने वाले, पाखण्डी, विरुद्धकर्म करनेवाले तथा शराबी मनुष्यों को राजा शीघ्र नगर से निकालदेवे॥२२५॥ क्योंकि राजाके राज्य में ये छिपे चोर रहते हुवे कुकर्म से भली प्रजाओं को पीड़ा देते हैं ॥२२६॥

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महद्। तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥२२७॥ प्रच्छन्नंवाप्रकाशंवातन्निषेवेत योनरः। तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

अर्थ—यह द्यूत पहिले कल्प में बड़ा वैर बढ़ाने वाला देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् हास्यार्थ भी द्यूत न खेले॥२२७॥ जो मनुष्य इस जुवे को गुप्त वा प्रकट खेले उस के दण्ड का विकल्प जैसी राजाकी इच्छा हो वैसा करे ॥२२८॥

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डंदातुमशक्नुवन्। आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रोदद्याच्छनैःशनैः२२९स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानांदरिद्राणां चरोगिणाम्। शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् २३०

अर्थ—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निर्धन होने के कारण दण्ड देने को असमर्थ होवें तौ नौकरी करके दण्ड का ऋण उतार देवें और ब्राह्मण धीरे २ देवे (अर्थात् ब्राह्मण से नौकरी न करावे) ॥ २२९ ॥ स्त्री, बाल, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र और रोगी का कमची, बेत, रस्सी आदि से राजा दमन करे ॥२३०॥

येनियुक्तास्तुकार्येषुहन्युःकार्याणिकार्यिणाम्।धनोष्मणापच्यमानास्तान्निस्स्वान्कारयेन्नृपः २३१ कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां चदूषकान्।स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा २३२

अर्थ—जो पुरुष कार्यों (मुक़द्दमों) में नियुक्त हों धन की गरमी से पकते हुवे कार्य वालों के कामों को बिगाड़ें, उन का सर्वस्व राजा हरण करवाले ॥२३१॥ राजा की मोहर करके वा अन्य किसी छल से राजकार्य करने वालों और अमात्यों के भेद करने वालों तथा स्त्री, बालक, ब्राह्मण को मारनेवालों और शत्रु से मिले रहने वालों का राजा हनन करे ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतोविद्यान्न तद्भूयोनिवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ-जहां कहीं ऋणाऽदानादि व्यवहार (मुक़द्दमे) का न्याय से अन्त तक निर्णय और दण्डादि तक ठीक होगया हो, तौ उस को फिर से न लौटावे ॥

(२३३ से आगे एक श्लोक मिलता है, जो कि केवल अब दो पुस्तकों में पाया गया है। परन्तु यथार्थ में उस की यहां आवश्यकता थी। वह यह है:-

[ तीरितं चानुशिष्टं च योमन्येत विकर्मणा।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥ ]

अर्थ-यदि कोई कार्य (मुक़द्दमा) निर्णीत हो चुका हो और दण्ड भी हो चुका हो, परन्तु राजा की समझ में अन्याय हुवा हो तौ द्विगुण दण्ड (राजकर्मचारी पर) करके उस कार्य को राजा फिर से करे) ॥२३३॥

अमात्याःप्राड्विवाकोवा यत्कुर्युःकार्यमन्यथा।
तत्स्वयंनृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

अर्थ मन्त्री अथवा मुक़द्दमा करने वाला जिस मुक़द्दमे को अन्यथा करे उस मुक़द्दमे को राजा आप करे और उन को "सहस्र" दण्ड देवे ॥ २३४ ॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।एते सर्वे पृथक्ज्ञेया महापातकिनोनराः॥२३५॥चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्। शरीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण का मारने वाला, मद्य का पीने वाला, चोर और गुरु की स्त्री से व्यभिचार करने वाला, इन सब प्रत्येक को महापातकी मनुष्य जानना चाहिये ॥ २३५ ॥ प्रायश्चित्त न करते हुवे इन चारों को (राजा) धर्मानुसार धनयुक्त शरीरसम्बन्धी दण्ड करे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यःसुरापाने सुराध्वजः। स्तेये श्वपदकं कार्यं ब्रह्महण्यशिराःपुमान्॥२३७॥असंभोज्याह्यसंयाज्या असंपाठ्याऽविवाहिनः।चरेयुःपृथिवींदीनाःसर्वधर्मबहिष्कृताः ॥२३८॥

अर्थ-गुरुपत्नी के व्यभिचार में पुरुष के ललाट में तप्त लोह से भगाकार चिह्न करना चाहिये और सुरा के पीने में सुरापात्र के आकार का चिह्न, तथा चोरी करने में कुत्ते के पैर के आकार का चिह्न करना चाहिये और ब्राह्मण के मारने में शिर काटना चाहिये ॥२३७॥ ये (महापातकी) पङ्क्ति में भोजन

कराने और यज्ञ कराने तथा पढ़ाने और विवाह सम्बन्ध के भी अयोग्य सम्पूर्ण धर्मों से बहिष्कृत हुवे दीन (ग़रीब) पृथिवी पर पर्यटन करें ॥२३८॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः। निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् २३९ प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्। नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४०

अर्थ–ये चिह्न वाले जाति बिरादरी से त्यागने योग्य हैं, न इन पर दया करनी चाहिये और न ये नमस्कार करने योग्य हैं। इस प्रकार मुझ) मनु की आज्ञा है ॥२३९। परन्तु शास्त्रविहित प्रायश्चित्त किये हुवे ये सब वर्ण राजा को ललाट में चिह्न करने योग्य नहीं हैं किन्तु "उत्तम साहस" के दण्डयोग्य हैं॥२४०॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः। विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः। सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

अर्थ–इन अपराधों में ब्राह्मण को ही "मध्यम साहस" दण्ड करना चाहिये अथवा धन धान्यादि के सहित राज्य से निकाल देने योग्य है ॥२४१॥ ब्राह्मण से अन्य (क्षत्रियादि) ने यदि इन पापों को अनिच्छा से किया हो तो सर्वस्व हरण योग्य हैं और यदि इच्छा से किया हो तो देश से निकालने के योग्य हैं ॥२४२॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम्। आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्। श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

अर्थ–धार्मिक राजा महापातकी के धन को ग्रहण न करे; लोभ से उस को लेता हुवा उस पाप से लिप्त होता है ॥२४३॥ किन्तु उस दण्डधन को पानी में धुलवा कर वरुण के यज्ञ में लगा देवे अथवा वेदसम्पन्न ब्राह्मण को दे देवे ॥२४४॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः। ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम्। तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

अर्थ–दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि राजाओं को भी दण्ड का धर्त्ता (प्रभु) वरुण है। सम्पूर्ण वेद का जानने वाला ब्राह्मण सब जगत् का स्वामी है ( इस से दोनों दण्डधन लेने के योग्य हैं ) ॥ २४५ ॥ जिस देश में राजा इन महापातकियों के धन को नहीं ग्रहण करता, उस देश में मनुष्य काल से दीर्घ आयु वाले होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक्। बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम्। हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥२४८॥

अर्थ–और प्रजाओं के धान्यादि जैसे बोए गये वैसे ही अलग अलग उत्पन्न होते हैं और बालक नहीं मरते और कोई विकार नहीं होता ॥२४७॥ जान बूझ कर ब्राह्मणों को पीड़ा देने वाले शूद्र को भयानक कई प्रकार के मार पीट के उपायों से राजा दमन करे ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे। अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः॥२४९॥ उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः। अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

अर्थ–अवध्य के वध में जैसा अधर्म शास्त्र से देखा गया है वैसा ही वध्य के छोड़ने में भी राजा को अधर्म होता है और निग्रह करनेमें धर्म होता है ॥२४९॥ यह अठारह प्रकार के मार्गों में परस्पर विवादियों (मुद्दई मुद्दआइलह) के मुक़द्दमें का निर्णय विस्तार के साथ कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः। देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत्॥२५१॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः। कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥२५२॥

अर्थ–इस प्रकार धर्म्य कार्यों को अच्छे प्रकार करता हुवा राजा अलब्ध देशों को पाने की इच्छा करे और लब्धों का परिपालन करे ॥२५१॥ अच्छे प्रकार बसे देश में ( सप्तमाध्याय में कही रीति के अनुसार ) क़िले बना कर चोर डाकू आदि कण्टकों के उद्धार में सर्वदा उत्तम यत्न करे ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्य्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्। नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः। तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥२५४॥

अर्थ-अच्छे आचरण वालों की रक्षा और चौरादि के शोधन से प्रजा-पालन में तत्पर राजा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥२५३॥ जो राजा चौरादि को दण्ड न करके अपना बलि ( मालगुज़ारी ) लेता है, उस की प्रजा उस से बिगड़ती है और वह स्वर्ग से भी हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्। तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः॥२५५॥ द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्या-ऽपहारकान्। प्रकाशांश्चाऽप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः॥२५६॥

अर्थ-जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से प्रजा ( चौरादि से ) निर्भय रहती है, उस राजा का राज्य नित्य सिंचते हुवे वृक्ष के समान बढ़ता है ॥२५५॥ चार ( गुप्त दूत ) रूपी चक्षु वाला राजा दो प्रकारके परद्रव्य के हरण करने वाले चोरों को जाने। एक प्रकट, दूसरे अप्रकट ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः। प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाऽटविकादयः॥२५७॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा। मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह॥२५८॥

अर्थ-उन (चौरादि) में नाना प्रकार की दुकानदारी से जीवन करने वाले प्रकाशवञ्चक ( खुले ठग ) हैं और चोर तथा जङ्गल आदि के लुटेरे छुपे वञ्चक हैं ॥२५७॥ उत्कोचक=रिश्वतख़ोर। उपधिक=भय दिखाकर धन लेने वाले। वञ्चक=ठग। कितव=जुवारी आदि। मङ्गलादेशवृत्त="तुम्हारी भलाई होने वाली है" इत्यादि प्रकार प्रलोभन देने वाले। भद्र=भलमनसाहत से ठगाई करने वाले। ईक्षणिक=हाथ देखने वाले आदि ॥ २५८ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः॥२५९॥ एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान्। निगूढचारिणश्चान्याननार्य्यानार्य्यलिङ्गिनः॥२६०

अर्थ–बुरा करने वाले उग्र कर्मचारी, वैद्य, शिल्पादिजीवी और चालाक वेश्याओं–॥ २५९ ॥ इत्यादि प्रकार के प्रत्यक्ष ठगों और दूसरे ( ठग ) आर्य वेष धारण करनेवाले अनार्यों को भी ( राजा ) जानता रहे ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥२६१॥ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः। कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः॥२६२॥

अर्थ-उन पूर्वोक्त वञ्चकों को सभ्य, गुप्त, प्रकटमें उस काम को करने वाले तथा कोई जगह रहने वाले चारों ( जासूसों ) के द्वारा राजा चौर्यादि में प्रवृत्त कराकर (सज़ा देकर) वश करे ॥२६१॥ उन प्रकाश और अप्रकाश तस्करोंके उन २ चौर्यादि दोषों को ठीक २ प्रकट करके उन के धन शरीरादि सामर्थ्य और अपराध के अनुसार राजा सम्यक् दण्ड देवे ॥ २६२ ॥

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः। स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ॥२६३॥ सभाप्रपापूपशाला वेशमद्यान्नविक्रयाः। चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च॥२६४॥

अर्थ-पृथिवी में विनीत वेष करके रहने वाले पापाचरणबुद्धि चोरों को दण्ड के अतिरिक्त पापका निग्रह नहीं हो सकता ॥२६३॥ सभा, प्याऊ, हलवाई की दूकान, रण्डीका मकान, कलाली, अनाज बिकने की जगह, चौराहे, बड़े और प्रसिद्ध वृक्ष, जनसमूहों के स्थान तथा तमाशे देखने की जगह ॥ २६४ ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च। शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च॥२६५॥ एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः। तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत्॥२६६॥

अर्थ–जीर्ण वाटिका, वन, शिल्पगृह, शून्यगृह तथा बाग़ बगीचे ॥ २६५ ॥ इस प्रकार के देशों को राजा एक स्थान में स्थित सिपाहियों की चौकी और घूमने वाले चौकी पहरों और गुप्त चरों से चोरों के निवारणार्थ विचरित करावे ( क्योंकि प्रायः तस्कर इन स्थानों में पड़ते हैं ) ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः। विद्यादुत्सादयेच्चैव नि-

पुर्णैःपूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । चौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ–उन की सहायता करने वाले और उन के पीछे चलने वाले और सेंध आदि अनेक कर्मों को जानने वाले पहिले चोर और उस कर्म में निपुण गुप्त चारों द्वारा (राजा) चोरों को जाने और निर्मूल करे ॥२६७॥ वे (जासूस) उन चोरों को खाने पीने के बहानों और ब्राह्मणों के दर्शनों के मिष और शूरवीरता के काम के बहाने से राजद्वार में लिवालाकर पकड़वावें ॥२६८॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रसह्य नृपोहन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥ न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिकोनृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदऽविचारयन् ॥२७०॥

अर्थ–जो वहां पर पकड़े जाने की शङ्का से न जावें और उन गुप्त राजदूतों के साथ चालाकी–सावधानी से रहकर आपे को बचाते हों उनको राजा बलात्कारसे पकड़कर मित्र जाति भाइयों सहित वध करे ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा विना माल और सेंध आदि प्रमाण के चोर का वध न करे और माल तथा सेंध आदि के प्रमाण सहित हों तो विना विचारे मरवा देवे ॥२७०॥

ग्रामेष्वपिचयेकेचिच्चौराणांभक्तदायकाः।भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपिघातयेत् २७१ राष्ट्रेपु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान्। अभ्याघातेषुमध्यस्थाञ्शिष्याच्चौरानिवद्रुतम् २७२

अर्थ ग्रामों में भी जो चोरों के भोजनादि (मदद) देने वाले और पता वा जगह देने वाले हों उन सब को भी (राजा) मरवा देवे ॥२७१॥ राज्य में रक्षा को नियुक्त (पुलिस) और सीमा पर रहने वालों में जो क्रूर चौरादि की घात के उपदेश में मध्यस्थ हों उन को भी चौरवत् शीघ्र दण्ड देवे॥२७२॥

यश्चापिधर्मसमयात्प्रच्युतोधर्मजीवनः। दण्डेनैवतमप्योषेत् स्वकाद्धर्माद्धिविच्युतम् ॥२७३॥ ग्रामघातेहिताभङ्गे पथिमोषा-भिमर्शने।शक्तितोनाऽभिधावन्तोनिर्वास्याः सपरिच्छदाः॥२७४॥

अर्थ–जो कचहरी करने वाला (हाकिम) धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो उस स्वधर्म से पतित को भी दण्ड से ही क्लेश दे ॥ २७३ ॥ डांकू चोर आदि से गांव के लुटने से, पुल के टूटने और मार्ग के चोरों की खोज में, स्त्री के साथ बलात्कार में जो आस पास के रहने वाले यथाशक्ति राजा की सहायतार्थ दौड़ धूप नहीं करते उन को असबाब के सहित (ग्राम से) निकाल देवे ॥२७४॥

राज्ञः कोपापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्। घातयेद्विविधैर्दण्डैरणीणां चोपजापकान् ॥२७५॥ सन्धिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः। तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥२७८॥

अर्थ–राजा के ख़जाने में चोरी करने वालों तथा आज्ञा भङ्ग करने वालों और शत्रु को भेद देने वालों को नाना प्रकार के दण्ड देकर मारे ॥ २७५ ॥ जो चोर रात को सेंध देकर चोरी करें, राजा उन के हाथ काट कर तेज़ शूली पर चढ़ावे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे। द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये ऽवधमर्हति ॥२७७॥ अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्। संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अर्थ–गांठ काटने वाले को पहली वार चोरी करने में अङ्गुलियां और दूसरी वार करने में हाथ पैर कटवादे और तीसरी वार में वध के योग्य है ॥२७७॥ उन चोरों को अग्नि, अन्न, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी का धन पास रखने वालों को भी राजा चोरवत् दण्ड देवे ॥२७८॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा। यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥२७९॥ कोष्ठागारायुधागार देवतागार भेदकान्। हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ २८० ॥

अर्थ-जो तालाव के जल को तोड़े उस को जल में डुबा कर वा सीधा ही मार डाले और यदि वह उस को फिर बनवा देवे तो "सहस्रपण" दण्ड दे ॥२७९॥ राजा के धान्यागार (गोदाम) वा हथियारों के मकान अथवा यज्ञमन्दिर को तोड़ने वालों और हाथी, घोड़ा और रथ चुराने वालों को विना विचारे हनन करे ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्। आगमं वाप्यपां भिन्द्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम्॥२८१॥ समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि। स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्॥२८२॥

अर्थ-जो कोई पहले बने तालाव का (सब) पानी हरले या पानी के स्रोत वा आगमन को बन्द करे, वह "प्रथम साहस" दण्ड देने योग्य है ॥२८१॥ जो रोगादिरहित सरकारी सड़क पर मैला डाले वह दो सौ कार्षापण दण्ड दे और उस मैले को शीघ्र उठवा देवे ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा। परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥२८३॥ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः। अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥२८४॥

अर्थ-(परन्तु) व्याधित, वृद्ध, बालक, गर्भिणी, ये धमकाने और उस मैले को साफ़ कराने योग्य हैं ( दण्डयोग्य नहीं ) यह मर्यादा है ॥२८३॥ बे पढ़े उलटी चिकित्सा करने वाले वैद्यों को दण्ड करना चाहिये। उस में गाय घोड़ा आदि की वृथा चिकित्सा करने वालों को "प्रथम साहस" और मनुष्य की उलटी चिकित्सा करने वालों को "मध्यम साहस" दण्ड होना चाहिये ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः। प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥२८५॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा। मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥ २८६॥

अर्थ-लकड़ी के छोटे पुल वा ध्वजा की लकड़ी और किसी प्रतिमा को तोड़ने वाला, उन सब को फिर बनवा देवे और पांच सौ पण दण्ड देवे ॥२८५॥ अच्छी वस्तु को दूषित (ख़राब) करने, तोड़ने और मणियों के बुरा बींधने में "प्रथम, साहस" दण्ड होना चाहिये ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा। समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥२८७॥ बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्। दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

अर्थ-बराबर की वस्तुओं वा मूल्य से जो घटिया बढ़िया वस्तु देने का व्यवहार करे उस को "पूर्व" या "मध्यम" साहस दण्ड मिले ॥२८७॥ राजा

मार्ग में बन्धनगृहों को बनवावे, जहां दुःखित और विकृत पाप करने वाले ( सब को ) दीखें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

अर्थ प्राकार (सफ़ील) के तोड़ने वाले और उसी की खाई को भरने वाले और उसी के द्वारों के तोड़ने वाले को शीघ्र ही ( देश से ) निकाल दे ॥ ( २८९ के पूर्वार्ध से आगे(बीच में)यह श्लोक एक पुस्तक में देखा जाता है:-

[ एतेनैव तु कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं तु पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ]

परन्तु यह सर्वथा असंगतहुआ है । इसका बीचमें कोई प्रसङ्ग समझमें नहीं आता, किन्तु इसी आशय का आगे ३०० वां श्लोक है सो वही ठीक है;२८९

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्योद्विशतोदमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

अर्थ-सम्पूर्ण अभिचारों ( मारणादि ) में यदि जिस का मारना चाहा हो वह मरे नहीं और नाना प्रकार के ( औषधादि द्वारा ) उच्चाटनादि में दोसौ पण दण्ड होना चाहिये ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥२९१॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ-थोथे बीज को बेचने वाला, उसी प्रकार अच्छे बीज को बुरे के साथ मिलाकर बेचने वाला तथा सीमा (मर्यादा) का तोड़ने वाला; विकृत वध को प्राप्त हो ॥२९१॥ सब ठगों में अतिशय ठग अन्याय में चलने वाले सुनार को तो राजा चाकुओं से बोटी बोटी कटवावे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥२९३॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोश-दण्डौ सुहृत्तथा । सप्तप्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥

अर्थ-हल, कुदाल आदि और शस्त्रों तथा दवा के चुराने में समय और किये हुवे अपराध को विचार कर राजा दण्ड नियत करे॥२९३॥राजा,मन्त्री, पुर,राष्ट्र,कोश,दण्ड और मित्र,ये सात प्रकृति राज्य के सप्ताङ्ग कहाती हैं २९४

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत्॥२९५॥सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्। अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥२९६॥

अर्थ-राज्य की इन सात प्रकृतियों में क्रम से पहिली २ को अतिशय बड़ा भारी व्यसन ( उत्तरोत्तर एक से एक को अधिक ) बिगड़ने पर बुरा जाने ॥२९५॥ जैसे तीन दण्ड परस्पर एक दूसरे के सहारे ठहरे हों ऐसे ही यह सप्ताङ्ग राज्य ७ प्रकृतियोंमें एक दूसरे के सहारे ठहरा है।इन सातों में अपने२ गुण की विशेषता से कोई भी एक दूसरे से अधिक नहीं है (अर्थात् यद्यपि पूर्व श्लोक में एक से दूसरे को अधिक कहा था परन्तु पूर्व पूर्व इस भूल में भी न रहें कि अगले अगले हमारा कुछ कर ही नहीं सकते )॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते। येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन्श्रेष्ठमुच्यते ॥२९७॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्। स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः॥२९८॥

अर्थ-इन उन कामोंमें वही २ अङ्ग बड़ा है, जिस२ से जो २ काम सिद्ध होता है, वह उस में श्रेष्ठ कहाता है ॥ २९७ ॥ (सप्तमाध्याय में कहे) चारों (जासूसों) से, उत्साहयोग और कामों की कार्रवाई से अपने तथा शत्रु के सामर्थ्य को राजा नित्य जानता रहे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च। आरभेत ततःकार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्॥२९९॥आरभेतैवकर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनःपुनः। कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

अर्थ-काम क्रोध से हुवे सम्पूर्ण दुःखों और व्यसनों और गौरव लाघवों को सोच कर काम का आरम्भ करे ॥ २९९ ॥ राज्य की वृद्धि होने के काम राजा दम लेले कर फिर २ करता ही रहै क्योंकि कामों के आरम्भ करनेवाले पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञोवृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥ कलिःप्रसुप्तोभवति सजाग्रद्द्वापरं युगम्। कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ–सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग सब राजा ही के चेष्टा विशेष हैं, क्योंकि राजा भी युग कहाता है॥३०१॥ जब राजा निरुद्यम होता है, वह कलियुग है और जब जागता हुवा भी कर्म नहीं करता, वह द्वापर है, जब कर्मानुष्ठान में उद्यत होता है, उस समय त्रेता है और जब यथाशास्त्र कर्मों का अनुष्ठान करता हुवा विचरता है, उस समय सत्ययुग है ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेःपृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥ वार्षिकांश्चतुरोमासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति। तथाभिवर्षेत्स्वंराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४

अर्थ–इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथिवी के सामर्थ्यरूप कर्म को राजा करे ॥ ३०३ ॥ वर्षा ऋतु के चार मास में जैसे इन्द्र (वायुविशेष) वर्षा करता है, वैसे ही इन्द्र के काम को करता हुवा राजा स्वदेश में (इच्छित पदार्थों को) वर्षावे ॥ ३०४ ॥

अष्टौमासान्यथादित्यस्तोयंहरति रश्मिभिः। तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥३०५॥प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः। तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ–आठ महीने जैसे सूर्य किरणों से जल लेता है वैसे (राजा) राज्य से कर लेवे, यही नित्य सूर्य का काम है ॥ ३०५ ॥ जैसे वायु सब मनुष्यादि में प्रविष्ट रहता है वैसे राजा दूतों द्वारा सब में प्रवेश करे (अर्थात् सब के चित्तवृत्तान्त ज्ञात कर लेवे) यही वायु का काम है ॥ ३०६ ॥

यथायमःप्रियद्वेष्यौ प्राप्तेकालेनियच्छति।तथाराज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥ वरुणेन यथा पाशैर्बद्धएवाभिदृश्यते। तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥३०८॥

अर्थ–जैसे यम ( मृत्यु वा परमात्मा ) प्राप्तकाल में मित्र, शत्रु सब का निग्रह करता है वैसे ही राजा को अपराध कालमें प्रजा दण्डनीय होनी चाहिये। यम का यही व्रत है ॥३०७॥ जैसे वरुण (वायुविशेष) के पाशों से प्राणी बंधे हुवे दीखते हैं,वैसे ही राजा पापियों का शासन करे। वरुण का यही व्रत है।३०८

परिपूर्णं यथाचन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः। तथाप्रकृतयोयस्मिन् सचान्द्रव्रतिकोनृपः॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यंस्यात्पाप कर्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

अर्थ–जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर मनुष्य हर्ष को प्राप्त होते हैं वैसे ही अमात्यादि जिस राजा के देखने से प्रसन्न हों, वह राजा चन्द्रव्रत करने वाला है ॥ ३०९ ॥ पाप करने वालों पर सदा अग्निवत् जाज्वल्यमान रहे, तथा दुष्ट वीरों की भी हिंसा के स्वभाववाला हो। यह अग्नि का व्रत है ॥ ३१० ॥

यथासर्वाणिभूतानि धरा धारयतेसमम्। तथासर्वाणिभूतानि बिभ्रतःपार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तोनित्य मतन्द्रितः। स्तेनान्राजानिगृह्णीयात्स्वराष्ट्रेपरएवच ॥ ३१२ ॥

अर्थ–जैसे पृथिवी सब को बराबर धारण करती है, वैसे राजा भी सब प्राणियों का बराबर पालन पोषण करे। यह पृथिवी का काम है ॥ ३११ ॥ इन उपायों तथा अन्य उपायों से सदा आलस्यरहित राजा चोरों को जो अपने या दूसरे के राज्य में ( भाग गये ) हों, वश में करे ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

"यैः कृतः सर्वभक्षोऽग्निरपेयश्च महोदधिः।
क्षयी चाप्यायितः सोमः कोन नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१३ ॥"

अर्थ–( कोशक्षयादि ) बड़ी विपत्ति को प्राप्त हुवा भी राजा ब्राह्मणों को रुष्ट न करे क्योंकि वे क्रुद्ध हुवे, सेना हाथी घोड़ा आदि सहित इस राजा को शीघ्र नष्ट कर सकते हैं (दीर्घदृष्टि से विचारा जावे तो निस्सन्देह विद्या और विद्वानों के विरोधी का राज्य बहुत दिन तक नहीं रह सकता) ॥३१३॥ जिन्हों ने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को खारा कर दिया और क्षयी चन्द्रको आप्यायित किया उनको रुष्ट करके कौन नाशको प्राप्त न होगा॥३१४॥

"लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः। देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥ यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा। ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः ३१६"

" अर्थ-जो कोप को प्राप्त हुवे दूसरे लोकों को उत्पन्न कर दें, ऐसी सम्भावना है। और देवतों को अदेव करदें, तब उन को पीड़ा देता हुवा कौन वृद्धि को प्राप्त होगा ? ॥३१५॥ जिन का आश्रय करके सर्वदा देव तथा लोक ठहरे हैं और वेद है धन जिन का, उन को जीने की इच्छा करने वाला कौन दुःखी करेगा ? ॥ ३१६ ॥"

"अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हूयमानश्च यज्ञेषु भूयएवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥"

"अर्थ-जैसे अग्नि प्रणीत हो, वा अप्रणीत हो-महती देवता है, ऐसे ही मूर्ख ब्राह्मण हो वा विद्वान् हो-महती देवता है ॥ ३१७ ॥ तेज वाला अग्नि श्मशानों में भी ( शव को जलाता हुवा ) दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु फिर से यज्ञ में हवन किया हुवा वृद्धि को पाता है ॥ ३१८ ॥ "

"एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥".

" अर्थ-यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं तथापि ब्राह्मण सर्व प्रकार से पूजनयोग्य हैं, क्योंकि वे महती देवता हैं ॥ "

( ३१४ से ३१९ तक ६ श्लोक ब्राह्मणों की असम्भव प्रशंसा से युक्त हैं क्योंकि अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय ( खारा ) ब्राह्मणों ने नहीं किन्तु प्रथमाऽध्याय के अनुसार परमात्माने ही इन को अपने २ स्वभावयुक्त बनाया है। और चन्द्रमा की क्षय वृद्धि भी सूर्य के प्रकाश पहुंचने में विलक्षणता के कारण होती है। यह विषय निरुक्तादि के प्रमाणपूर्वक हमने सामवेदभाष्य में लिखा है। ब्राह्मणों का नवीनसृष्टि बना सकना भी कितनी अत्युक्ति नहीं वरन असंभव है। अविद्वान् को ब्राह्मण और पूज्य मानना भी पक्षपातपूर्वक लेख तथा "यथा काष्ठमयोहस्ती" इत्यादि पूर्वोक्त मनुवचनों से विरुद्ध है। यज्ञ में शूद्र के घर का अग्नि भी वर्जित है, तब श्मशान ( चिता) के अग्नि को

निर्दोष मानना और उस दृष्टान्त से कुकर्मी ब्राह्मण को भी निर्दोष सिद्ध करना पूर्वोक्त अनेक मनुवचनों के साक्षात् विरुद्ध है ) ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥३२०॥

अर्थ—ब्राह्मणों को सर्वथा पीड़ा देने में प्रवृत्त क्षत्रियों को ब्राह्मण ही अच्छी प्रकार नियम में रक्खें, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणों से (संस्कार के जन्म से) उत्पन्न हैं ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतःक्षत्रमश्मनोलोहमुत्थितम् । तेषांसर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥ नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते । ब्रह्म क्षत्रं च संयुक्तमिह चामुत्र वर्धते३२२

अर्थ—जल ब्राह्मण और पाषाण से उत्पन्न हुवे क्रम से अग्नि, क्षत्रिय और शस्त्रों का तेज सब जगह तीव्रता करता है, परन्तु अपने उत्पन्न करने वाले कारणों में शान्त हो जाता है ॥३२१॥ ब्राह्मणरहित क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही क्षत्रियरहित ब्राह्मण भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता। इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय मिले हुवे इस लोक तथा परलोक में वृद्धि को पाते हैं ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यःसर्वदण्डसमुत्थितम्।पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥३२४॥

अर्थ—दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके राजा रण में प्राणत्याग करे॥३२३॥राजधर्म में सदा युक्त रहकर इस प्रकार आचरण करता हुवा राजा सब लोगों के हित के लिये सम्पूर्ण नौकर चाकरों की योजना करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलःकर्मविधिरुक्तोराज्ञःसनातनः । इमंकर्मविधिंवि-द्यात्क्रमशोवैश्यशूद्रयोः॥३२५॥वैश्यस्तुकृतसंस्कारः कृत्वादार परिग्रहम्। वार्त्तायां नित्ययुक्तःस्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥३२६॥

अर्थ–यह राजा का सम्पूर्ण सनातन कर्मविधि कहा। अब (आगे कहा) यह वैश्य शूद्रों का कर्मविधि जाने।३२५॥ उपनयनादि संस्कार किया हुवा वैश्य विवाह करके व्यापार तथा पशुपालन में सदा युक्त होवे॥ ३२६॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाःपरिददे प्रजाः ॥३२७॥ न च वैश्यस्य कामःस्यान्न रक्षेयं पशूनिति। वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याःकथञ्चन ॥३२८॥

अर्थ–क्योंकि ब्रह्मा ने पशु उत्पन्न करके (रक्षा के लिये) वैश्य को दे दिये और ब्राह्मण तथा राजा को सब प्रजा (रक्षा के लिये) देदी हैं॥ ३२७॥ मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूं, ऐसी वैश्य की इच्छा न होनी चाहिये.और वैश्य के चाहते हुवे दूसरे को पशुपालनवृत्ति कभी न करनी चाहिये॥ ३२८॥

मणिमुक्ताप्रबालानां लौहानांतान्तवस्य च।गन्धानांचरसानांच विद्यादर्घबलाबलम् ॥३२९॥ बीजानामुप्तिविच्चस्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च। मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥३३०॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा, लोहा और कपड़ा तथा कर्पूरादि गन्ध और लवणादि रसों का घटी बढ़ी का भाव वैश्य जाने॥ ३२९॥ सब बीजों के बोने की विधि और खेत के गुण दोष और सब प्रकार के माप तोल का भी जानने वाला (वैश्य) हो॥ ३३०॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्। लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्३३१भृत्यानांचभृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधान्नृणाम्।द्रव्याणांस्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च॥३३२॥

अर्थ–अन्न के अच्छे बुरे का हाल और देशों में सस्ते महँगे आदि गुण अवगुण का भाव और बिक्री के लाभ हानि का वृत्तान्त तथा पशुओं के बढ़ने का उपाय (जाने)॥ ३३१॥ और नौकरों के वेतनों तथा नाना देश के मनुष्यों की बोली और माल के रखने की विधि तथा बेचने ख़रीदने का ढङ्ग (वैश्य को जानना चाहिये)॥ ३३२॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूताना-मन्नमेव प्रयत्नतः॥ ३३३॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां

यशस्विनाम् । शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥३३४॥

अर्थ--(वैश्य) धर्म से धन के बढ़ाने में पूरा यत्न करे और सब प्राणियों को यत्न से अन्न अवश्य पहुंचावे ॥३३३॥ वेद के जानने वाले विद्वान् गृहस्थ यशस्वी ब्राह्मणादि की सेवा ही शूद्र का परमसुखदायी धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागऽनहङ्कृतः। ब्राह्मणाद्याश्रयोनित्य-मुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥३३५॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्म-विधि.शुभः। आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तं निबोधत॥३३६॥

अर्थ--स्वच्छ रहने वाला, अच्छा मेहनती और नम्रता से बोलने वाला तथा अहङ्काररहित, नित्य ब्राह्मणादि की सेवा करने वाला शूद्र उच्चजाति को प्राप्त होजाता है ॥३३५॥ यह वर्णों का आपत्तिरहित समय में शुभ कर्म विधि कहा, अब जो उन का कर्मविधि है (दशमाध्याय में) उस को सुनो ॥३३६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



ओ३म्

# अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्थाद्विजातयः। प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥ सर्वेषां ब्राह्मणोविद्याद् वृत्त्युपायान्यथाविधि। प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत्॥२॥

अर्थ—अपने कर्म में स्थित द्विजाति ( ब्राह्मणादि ) तीन वर्ण ( वेद ) पढ़ें और ब्राह्मण इन को पढ़ावे। इतर ( क्षत्रिय वैश्य ) न पढ़ावें। यह निर्णय है ॥१॥ ब्राह्मण सब वर्णों का जीवनोपाय यथाशास्त्र जाने और उन को बतावे और आप भी यथोक्त कर्म करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्यचधारणात्। संस्कारस्यविशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणःप्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणःक्षत्रियोवैश्यस्त्रयो वर्णाद्विजातयः। चतुर्थएकजातिस्तु शूद्रोनास्ति तु पञ्चमः ॥४॥

अर्थ—विशेषता, स्वाभाविक श्रेष्ठता, नियम के धारण करने तथा संस्कार की अधिकता से सब वर्णों का ब्राह्मण प्रभु है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, चौथा शूद्र एकजाति है, पञ्चम वर्ण नहीं है ॥ ४॥

सर्ववर्णेषुतुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्तएव ते॥५॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्। सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि चार वर्णों में अपने समान वर्ण की (विवाह से पूर्व) पुरुष सम्बन्ध से रहित पत्नियों में क्रम से जो सन्तान उत्पन्न हों उन को जाति से वे ही जानना चाहिये। ( इस प्रकरण में जो जातियों का विचार है सो इस लिये है कि गर्भाधान से लेकर जन्मपर्यन्त हुवे संस्कारों के प्रभाव से जन्मकाल में वह उस २ नाम से पुकारने योग्य है परन्तु यह कथन उस अपवाद का बाधक नहीं जो विपरीत आचरणादि से वर्णव्यवस्थापन में मानव शास्त्र का सिद्धान्त है)॥५॥ क्रम के साथ अपने से (अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया

में, क्षत्रिय से वैश्या में, इस प्रकार ) एक नीचे की हीन जाति की स्त्रियों में द्विजों के उत्पन्न किये हुवे सन्तानों को माता की जाति से निन्दित, पिता के समान ही ( पतित ) कहते हैं ॥ ६ ॥

अनन्तरासुजातानां विधिरेषसनातनः। द्व्येकान्तरासुजातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते। निषादःशूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ-अपने से एक वर्णहीना स्त्रियों में उत्पन्न हुवों का यह सनातन विधि कहा, अब दो वर्णहीना स्त्रियों में (जैसे ब्राह्मण से वैश्या में) उत्पन्न हुवों का यह धर्मविधि जाने कि-॥७॥ ब्राह्मण से वैश्या कन्या में "अम्बष्ठ" नाम उत्पन्न होता है और ब्राह्मण से शूद्रा कन्या में " निषाद " जिस को " पारशव " भी कहते हैं ॥८॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तु रुग्रोनाम प्रजायते ॥ ९ ॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयो-र्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ क्षत्रिय से शूद्र कन्या में क्रूर आचार विहार वाला और क्षत्रिय शूद्र शरीर वाला "उग्र" नामक उत्पन्न होता है ॥९॥ ब्राह्मण के तीन वर्ण ( की क्षत्रियादि स्त्रियों ) में और क्षत्रिय के २ ( वैश्या वा शूद्रा ) में, तथा वैश्य के १ ( शूद्रा ) में ( उत्पन्न हुवे ) ये छः " अपसद " कहे गये हैं ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतोभवति जातितः। वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवःक्षत्ता चण्डालश्चा-ऽधमोनृणाम्। वैश्याराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥१२॥

अर्थ-(ये अनुलोम कहकर, अब प्रतिलोम कहते हैं) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में "सूत"नाम जाति से होता है और वैश्य से क्षत्रिया में "मागध" तथा वैश्य से ब्राह्मणी में "वैदेह" नाम उत्पन्न होते हैं ॥११॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में क्रम के साथ "आयोगव", "क्षत्ता" और "चण्डाल" अधम, ये श्लोक ६ से यहां तक कहे) मनुष्यों में वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथास्मृतौ। क्षत्तृवैदेहकौ

तद्वत्प्रातिलोम्येऽपिजन्मनि ।१३। पुत्रायेऽनन्तरस्त्रीजाःक्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥१४॥

अर्थ-एक के अन्तर वाले वर्ण में अनुलोम से जैसे अम्बष्ठ और उग्र कहे हैं, वैसे ही प्रतिलोम से जन्म में "क्षत्ता" और " वैदेह " कहे हैं ॥ १३ ॥ द्विजन्माओं के क्रम से कहे हुवे अनन्तर ( एक वर्ण नीची ) स्त्री से उत्पन्न हुये पुत्रों को माता के दोष से " अनन्तर " नाम से कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतोनामजायते। आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यांतुधिग्वणः।१५। आयोगवश्चक्षत्ताचचण्डालश्चाऽधमोनृणाम्। प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः॥ १६॥

अर्थ-ब्राह्मण से "उग्र" कन्या में "आवृत" नाम सन्तान और "अम्बष्ठ" कन्या में "आभीर" नाम उत्पन्न होता है तथा "आयोगव" कन्या में उत्पन्न हुवा "धिग्वण" कहाता है ॥ १५ ॥ आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल; ये मनुष्यों में तीन अधम प्रतिलोम से उत्पन्न शूद्र से भी निकृष्ट हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूतएव तु । प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः॥१७॥जातोनिषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः। शूद्राज्जातोनिषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥१८॥

अर्थ-पूर्वोक्त प्रकार वैश्य से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से सूत; ये भी प्रतिलोम से अन्य ३ निकृष्ट उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ निषाद से शूद्रा में उत्पन्न हुवा "पुक्कस" जाति से होता है और शूद्र से निषाद की कन्या में उत्पन्न हुवा " कुक्कुटक " कहा गया है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाकइति कीर्त्यते। वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नोवेणउच्यते १९ द्विजातयःसवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तुयान्।तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानितिविनिर्दिशेत् ॥२०॥

अर्थ-ऐसे ही क्षत्ता से उग्र की कन्या में उत्पन्न हुवा "श्वपाक" कहाता और वैदेह से अम्बष्ठी में ( उत्पन्न हुवा ) "वेण, कहाता है ॥१९॥ द्विजाति अपने वर्ण की स्त्री में संस्काररहित जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं उन समय पर उपनयनवेदारम्भरहितों को " व्रात्य " कहना चाहिये ॥ २० ॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥२१॥ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च। नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

अर्थ-व्रात्य ब्राह्मण से पापात्मा "भूर्जकण्टक" उत्पन्न होता है और उसी को ( देशभेद से ) आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख भी कहते हैं ॥२१॥ (व्रात्य) क्षत्रिय से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड नामक उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च। कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

अर्थ-व्रात्य वैश्य से सुधन्वाचार्य, कारूष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत नाम वाले उत्पन्न होते हैं ( ये सब नाम पर्यायवाची देशभेद से समझे ) ॥२३॥ ब्राह्मणादि वर्णों से अन्योन्य स्त्री के गमन और सगोत्रादि अगम्या में विवाह करने तथा अपने कर्म के छोड़ने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः। अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥ सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः। मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥२६॥

अर्थ-जो संकीर्णयोनि प्रतिलोम अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, उन को विशेष करके मैं आगे कहता हूं ॥२५॥ सूत, वैदेह, चण्डाल ये अधम मनुष्य और मागध, क्षत्ता तथा आयोगव-॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु। मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥२७॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते। आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥२८॥

अर्थ-ये छः स्वयोनि में स्वतुल्य सुतोत्पत्ति करते हैं और अपने से उत्तम योनियों में जन्में तो मातृजाति में गिने जाते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में दो में से इस पुरुष का आत्मा उत्पन्न होता है और अनन्तर होने से अपनी योनि में गिना जाता है, वैसे ही इन बाह्य वर्णसङ्करों में भी क्रम से जानो २८

ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् । परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥२९॥ यथैव शूद्रोब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ–वे ( पूर्वोक्त , आयोगवादि भी परस्पर जाति की स्त्री में बहुत से उन से भी अधिक दुष्ट और निन्दित सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥२९॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणी में अधम जीव को उत्पन्न करता है, वैसे ही चारों वर्णों में वे अधम उन से भी अधमों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलंवर्त्तमाना बाह्याबाह्यतरान्पुनः। हीनाहीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् । सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ–प्रतिकूल चलने वाले अधम चण्डालादि तीन, चारों वर्णों की स्त्रियों में अपने से अधिक अधम सन्तान को उत्पन्न करते हैं, तो एक से एक हीन पन्द्रह वर्ण उत्पन्न होते हैं ( चार वर्णों की स्त्रियों में तीन अधमोंके तीन २ ऐसे बारह निकृष्ट सन्तान और उन के पिता तीन अधम, ऐसे पन्द्रह अधम उत्पन्न होते हैं ) ॥३१॥ बालों में कंघी आदि करना और चरणादि का धोना और स्नानादि करवाना, इस प्रकार के काम से वा जाल फांसे बांध कर जीने वाला "सैरिन्ध्र" नाम (आगे कहे हुवे) दस्यु से आयोगव उत्पन्न होता है ॥३२॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते । नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥३३॥ निषादो मार्गवं सूते दासंनौकर्मजीविनम् । कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्त्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ–आयोगवी वैदेह से मधुरभाषी "मैत्रेयक" को उत्पन्न करती है जो कि प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजा आदिकों की निरन्तर स्तुति करता है ॥३३॥ निषाद और आयोगवी से "दास" इस दूसरे नाम वाला नाव के चलाने से जीवन वाला " मार्गव " उत्पन्न होता है, जिस को आर्यावर्त्त निवासी लोग " कैवर्त्त " कहते हैं ॥३४॥

मृतवस्त्रभृत्सुनारीषु गर्हितान्नाशनासु च। भवन्त्यायोगवीष्वेते

जातिहीनाःपृथक्त्रयः ॥ ३५॥ कारावरोनिषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते। वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

अर्थ–मृतक के वस्त्र को पहरने वाली और उच्छिष्ट अन्न को भोजन करने वाली आयोगवी में अलग २ जातिहीन (तीन पुरुषों के भेद से) ये तीन उत्पन्न होते हैं ॥३५॥ निषाद से तो कारावराख्य "चर्मकार" उत्पन्न होता है और वैदेह से " अन्ध्र " और " मेद " ग्राम के बाहर रहने वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान्। आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥३७॥ चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्।पुक्कस्यां जायते पापः सदासज्जनगर्हितः॥३८॥

अर्थ–चण्डाल से वैदेही में "पाण्डु सोपाक" नामक बांस के सूप पङ्खा आदि बनाने से जीने वाला उत्पन्न होता है। और निषाद से वैदेही में ही "आहिण्डिक" उत्पन्न होता है ॥३७॥ चण्डाल से पुक्कसी में पापात्मा सदा सज्जनों से निन्दित और जल्लाद वृत्ति वाला "सोपाक" उत्पन्न होता है ॥३८॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्। श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥३९॥सङ्करेजातयस्त्वेताःपितृमातृप्रदर्शिताः। प्रच्छन्नावा प्रकाशावा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥४०॥

अर्थ–निषाद की स्त्री चण्डाल में अधमों में भी निन्दित और चण्डालों से अतिनिकृष्ट श्मशाननिवासी और उसी वृत्ति से जीने वाला पुत्र उत्पन्न करती है ॥ ३९ ॥ वर्णसङ्करों में ये जाति बाप और मा के भेद से दिखाईं। इन ढकी वा खुली हुइयों को अपने २ कर्मों से जानना चाहिये ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाःषट्सुताद्विजधर्मिणः। शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोबीजप्रभावैस्तु तेगच्छन्तियुगेयुगे।उत्कर्षंचापकर्षंच मनुष्येष्विहजन्मतः॥४२॥

अर्थ–द्विजातियों के समान जाति वाले (तीन पुत्र अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी से, इस क्रम से ३ और अनुलोम से तीन अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया, वैश्या में ये दो और क्षत्रिय से वैश्या में एक मिलकर ३ इस प्रकार ) ये छः

पुत्र द्विजधर्मी हैं। और (सूतादि) प्रतिलोमज सब शूद्रों के समान कहे हैं ॥४१॥ तपःप्रभाव से (विश्वामित्रवत्) और बीजप्रभाव से (ऋष्यशृङ्गादिवत्) सब युगों में मनुष्य जन्म की उच्चता और (आगे कहे अनुसार) नीचता को भी प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

शनकैस्तुक्रियालोपादिमाःक्षत्रियजातयः। वृषलत्वंगतालोके ब्राह्मणादर्शनेनच ॥४३॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाःकाम्बोजायवनाःशकाः। पारदापल्हवाश्चीनाः किरातादरदाःखशाः॥४४॥

अर्थ–ये क्षत्रियजातियें, क्रियालोप से और (याजन अध्यापन प्रायश्चित्तादि के लिये) ब्राह्मणों के न मिलने से लोगों में धीरे धीरे शूद्रता को प्राप्त हो गईं (जैसेः–) ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयोबहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वेतेदस्यवःस्मृताः ॥४५॥ येद्विजानामपसदा येचापध्वंसजाःस्मृताः। ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥४६॥

अर्थ–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की (क्रियालोप से) अधम जातियें म्लेच्छभाषायुक्त वा आर्यभाषायुक्त सब "दस्यु" कही गईं हैं ॥४५॥ जो पूर्व द्विजों के अनुलोम से अपसद और प्रतिलोम से अपध्वंस कहे हैं, वे द्विजों के ही निन्दित कर्मों से आजीवन करें ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानांचिकित्सनम्। वैदेहकानांस्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः॥४७॥ मत्स्यघातोनिषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च। मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥४८॥

अर्थ–सूतों का (काम) अश्व का सारथि होना, अम्बष्ठों का चिकित्सा, वैदेहों का अन्तःपुर का काम और मागधों का बनियापन, (इन कामों को करके ये जीवन करते हैं) ॥४७॥ निषादों का मच्छी मारना और आयोगव का लकड़ी तोड़ना और मेद अन्ध्र चुञ्चु और मद्गुवों का जङ्गली जानवरों को मारना (पेशा) है ॥ ४८ ॥

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् । धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥४९॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ-क्षत्ता, उग्र, पुक्कस; इन का (रोज़गार) बिल के रहने वाले जानवरों को मारना और बान्धना और धिग्वणों का चमड़े का काम बनाना और वेणों का बाजा बजाना (काम) हैं ॥ ४९ ॥ ग्राम के समीप बड़े २ वृक्षों के नीचे और श्मशान तथा पर्वत बाग़ बग़ीचों के पास अपने २ कामों को करने से प्रसिद्ध हुवे ये निवास करें ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥५१॥ वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् । कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥

अर्थ-चण्डालों और श्वपचों का निवास ग्राम के बाहर हो और निषिद्ध पात्र वाले रखने चाहियें और इन का धन कुत्ता और गधा है ॥५१॥ इन के कपड़े मुरदे के वस्त्र वा पुराने चिथड़े हों तथा फूटे बरतनों में भोजन, लोहे के आभूषण और घूमना स्वभाव (यह इन का लक्षण है) ॥५२॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥ अन्नं तेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥५४॥

अर्थ-धर्मानुष्ठान के समय में इन (चण्डाल श्वपाक इत्यादि) के साथ देखना बोलना आदि व्यवहार न करे। उन का व्यवहार और विवाह बराबर वालों के साथ हो ॥५३॥ इन को खपरे आदि में रख कर अलग से पराधीन अन्न देना चाहिये और वे रात को ग्रामों और नगरों में न घूमें ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥५६॥

अर्थ-वे राजा की आज्ञा से चिन्ह पाये हुवे काम के लिये दिन में घूमें और बेवारिस मुरदे को ले जावें। यह मर्यादा है ॥५५॥ यथाशास्त्र राजा की आज्ञा से निरन्तर फांसी के योग्यों को फांसी देवें और उस वध्य के कपड़े, शय्या और आभरणों को ग्रहण करें॥

( ३९ वें तक मनु ने व्यभिचारोत्पन्न वर्णसङ्करों की नाना प्रकार के नामों से उत्पत्ति कही। उस का तात्पर्य यह है कि उन की व्यभिचारजनित वर्णसङ्करता की प्रसिद्धि रहे, आगे को लोग व्यभिचार न करें, वर्णसङ्करों को उत्पन्न न करें, आर्यसन्तान की उत्तरोत्तर उन्नति हो। परन्तु ४२ वें में यह बता दिया है कि तप आदि के प्रभाव से नीचे ऊंचे होजाते हैं। तथा ४३। ४४ में पौण्ड्रकादि का ऊंचे से नीचा हो जाना कहा है। ४६ से ५६ तक वर्णसङ्करों के नीच तथा निन्दित काम राजद्वारा नियत किये हैं, जिस से उनकी नीच दशा को देखकर अन्यों को नीचत्व के भय के कारण व्यभिचारादि से घिन हो) ५६

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्। आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता। पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥५८॥

अर्थ-( सङ्कर से हुवे ) रङ्ग बदले और नहीं पहचाने जाते हुवे देखने में आर्य से परन्तु यथार्थ में अनार्य, अधम पुरुष का निज २ कर्मों में निश्चय करे ॥ ५७ ॥ असभ्यपन और कठोरभाषणशीलता तथा कर्मानुष्ठान से रहितता; ये लक्षण इस लोक में नीचयोनिज पुरुष को प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा। न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥५९॥कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः। संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥६०॥

अर्थ-यह वर्णसङ्कर से उत्पन्न हुवा पुरुष, पितृसम्बन्धी दुष्टस्वभाव अथवा माता का या दोनों का स्वभाव स्वीकार करता है, किन्तु अपनी असलियत छिपा नहीं सकता ॥५९॥ बड़े कुल में उत्पन्न हुवे का भी जिस का योनि से सङ्कर ( ढका छिपा ) हुवा है, वह मनुष्य योनि का स्वभाव थोड़ा या बहुत पकड़ता ही है ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः । राष्ट्रकैः सहतद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥६१॥ब्राह्मणार्थेगवार्थेवा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

अर्थ-जिस राज्य में ये वर्णसङ्कर बहुत उत्पन्न होते हैं, वह राज्य वहां के निवासियों के सहित शीघ्र ही नाश को प्राप्त होजाता है॥६१॥ ब्राह्मण, गाय, स्त्री, बालक, इन की रक्षा में दुष्ट प्रयोजन से रहित होकर प्रतिलोमजों का प्राणत्याग सिद्धि ( उच्चता ) का हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

" शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।

अश्रेयान्श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४ ॥ "

अर्थ-हिंसा न करना, सत्यभाषण,दूसरे का धन अन्याय से न लेना, पवित्र रहना और इन्द्रियों का निग्रह करना, यह संक्षेप से चारों वर्णों का धर्म ( मुख्य ) मनु ने कहा है ॥ ६३ ॥ " शूद्रा में ब्राह्मण से पारशवाख्य वर्ण उत्पन्न होता है, यदि वह दैववश से स्त्रीगर्भ हो और वह स्त्री दूसरे ब्राह्मण से विवाह करे और फिर उस की कन्या तीसरे ब्राह्मण से विवाह करे, इस प्रकार सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है ॥ "

( यह श्लोक इस लिये अमान्य है कि शूद्रागामी ब्राह्मण तृतीयाध्यायानुसार पतित हो जाता है, तो ऐसे सात ब्राह्मणों को ७ पीढ़ी तक पतित कराने वाला श्लोक मनु का सम्मत हो, सो ठीक नहीं जान पड़ता ) ॥६४॥

शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैतिशूद्रताम्।क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥६५॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया।ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत॥६६॥

अर्थ-ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होजाता है और शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है। क्षत्रिय से उत्पन्न हुवा भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुवा पुरुष भी अन्य वर्ण को प्राप्त होता जानना चाहिये ॥६५॥ जो संयोग वश ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुवा और जो शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुवा, इन दोनों में अच्छापन किस में है ? यदि यह संशय हो ( तो उत्तर यह है कि:- ) ॥६६॥

जातोनार्यामनार्यायामार्यादार्योभवेद्गुणैः। जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यइति निश्चयः ॥६७॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मोव्यवस्थितः।वैगुण्याज्जन्मनःपूर्वउत्तरःप्रतिलोमतः ॥६८॥

अर्थ-१ अनार्या स्त्री में आर्य से उत्पन्न हुवा, गुणों से आर्य हो सकता है और दो २ शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न हुवा गुणों से शूद्र उत्पन्न होना संभव है। यह निश्चय है॥ ६७॥ धर्म की मर्यादा है कि १ पहला शूद्रा में उत्पन्न होने रूप जाति की विगुणता से और २ दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न होने के कारण; ऐसे ये दोनों उपनयन के अयोग्य हैं ॥६८॥

सुबीजंचैवसुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा। तथार्याज्जातआर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥६९॥ बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः। बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अर्थ-जैसे अच्छा बीज खेत में बोया हुवा समृद्ध हो जाता है, वैसे ही आर्या में आर्य से उत्पन्न हुवा संपूर्ण उपनयनादि संस्कार के योग्य है ॥६९॥ कोई विद्वान् बीज को और कोई खेत को और अन्य कोई दोनों को प्रधान कहते हैं, उन में यह व्यवस्था है कि-॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥

"यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥७२॥"

अर्थ-ऊसर में बोया हुवा बीज भीतर ही नाश को प्राप्त हो जाता है और बीजरहित अच्छा भी खेत कोरा चौंतरा ही रहेगा ( इस से दोनों ही अपने २ गुण में मुख्य हैं। यहां तक बीज और क्षेत्र की प्रधानता के विवाद में गुण कर्मों का वर्णन नहीं है किन्तु स्वभाव जो कि प्रायः रज वीर्य के शुद्धाऽशुद्ध होने से शुद्धाऽशुद्ध होता है, उस में ही यह विचार प्रवृत्त किया है कि दोनों में प्रबलता किस को है ) ॥७१॥ "बीज के माहात्म्य से तिर्यग् योनि (अर्थात् हरिणादि से उत्पन्न हुवे शृङ्गी ऋष्यादि ) ऋषित्व, पूजन और स्तुति को प्राप्त हुवे। इस से बीज की प्रधानता है" (प्रथम तो तिर्यग्योनि

में मनुष्ययोनि उत्पन्न नहीं हो सकती । दूसरे श्रृङ्गी ऋष्यादि की कथायें पीछे की हैं । मनु उन का भूतकाल करके वर्णन नहीं कर सकते थे ) ॥७२॥

**अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।**
**संप्रधार्याऽब्रवीद्धाता न समौ नाऽसमाविति ॥७३॥**

अर्थ-द्विज, शूद्रों के कर्म करने वाले और शूद्र. द्विजों के कर्म करने वाले, इन को ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि न ये सम हैं, न असम हैं॥ (क्योंकि गुणों और स्वभावों के विना केवल कर्म से अनार्य आर्य नहीं हो सकते। और गुणों तथा स्वभावों से युक्त आर्य, केवल कर्महीन हो जाने से अनार्य नहीं हो सकता। अर्थात् मनु जी कहते हैं कि केवल कर्म से हम कोई व्यवस्था नहीं दे सकते। किन्तु गुण कर्म स्वभाव सब पर दृष्टि डाल कर व्यवस्थापक विद्वान् वा सभा को व्यवस्था देनी चाहिये। मेधातिथि कहते हैं कि यहां तक वर्णसङ्करों की निन्दा और वर्णों की प्रशंसारूप अर्थवाद ही है। विधि वा निषेध कुछ नहीं ) ॥ ७३ ॥

**ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।**
**ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥**

अर्थ-जो ब्रह्मयोनिस्थ ब्राह्मण हैं और अपने कर्म से रहते हैं वे क्रम से अच्छे प्रकार ( इन ) छः कर्मों का अनुष्ठान करें ॥ ७४ ॥

**अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥**

अर्थ-१ पढ़ना, २ पढ़ाना, ३ यज्ञ करना और ४ कराना, ५ दान देना और ६ लेना; ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं ॥७५। छः कर्मों में से इस ब्राह्मण की तीन कर्म जीविका हैं। १ यज्ञ कराना, २ पढ़ाना और ३ शुद्ध (द्विजातियों) से दान लेना ॥ ७६ ॥

**त्रयोधर्मानिवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति। अध्यापनंयाजनंच तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८॥**

अर्थ–ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं, १ पढ़ाना, २ यज्ञ कराना और ३ दान लेना ( अर्थात् इन को क्षत्रिय न करे ) ॥ ७७ ॥ वैश्य के भी इसी प्रकार तीन धर्म छूटें । इस प्रकार मर्यादा है क्योंकि क्षत्रिय वैश्यों की जीविकार्थ उन धर्मों को ( सुभ ) मनु प्रजापति ने नहीं कहा है ॥७८॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥७९॥वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥८०॥

अर्थ–क्षत्रियों का शस्त्र अस्त्र धारण करना और वैश्य का व्यापार, गाय बैल आदि का रखना और खेती; ये दोनों कर्म दोनों के आजीवनार्थ कहे हैं और दान देना, पढ़ना, यज्ञ करना, (दोनों का) १ धर्म कहा है ॥७९॥ ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का वाणिज्य करना; अपने २ कर्मों में विशेष कर्म हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥८१॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥

अर्थ–ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से निर्वाह न कर सक्ता हुवा (आपत्काल में) क्षत्रिय के धर्म से अपना आजीवन करे क्योंकि वह इस के समीप है॥८१॥ दोनों ( ब्राह्मण और क्षत्रियों की जीविकाओं ) से न जी सक्ता हुवा कैसे जीवन करे ? ऐसा संशय हो तो कृषि और गोरक्षा करके ( ब्राह्मण ) वैश्य की जीविका करे ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणःक्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥८३॥कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८४॥

अर्थ–ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यवृत्ति करके जीते हुये भी बहुत हिंसा वाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ देवें ॥८३॥ " खेती अच्छी है " ऐसा ( कोई ) कहते हैं । परन्तु यह वृत्ति साधुओं से निन्दित है क्योंकि कुदाल हलादि लोहा लगा हुवा काष्ठ भूमि और भूमि के रहने वाले जन्तुओं का भी नाश करता है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतोधर्मनैपुणम् । विट्पण्यमुद्धृतो-द्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम्॥८५॥सर्वान्रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैःसह। अश्मनोलवणं चैव पशवोये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रियों को अपनी वृत्ति के न होने या धर्म की यथोक्त निष्ठा को छोड़ते हों तब वैश्य के बेचने योग्य द्रव्यों में से आगे कहे हुवे को छोड़कर धनवृद्धिकारक विक्रय करना योग्य है ॥८५॥ सम्पूर्ण रसों, पकाये अनाज तिलों के सहित, पत्थर, नमक और मनुष्यों के पालनीय पशु; इन को न बेचे ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च। अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः॥८७॥अपःशस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः। क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्॥८८॥

अर्थ-सब रङ्ग के तथा सन के कपड़े और रेशमी ऊनी कपड़े रङ्गे वा विना रङ्गे भी हों और फल मूल तथा औषधियों को (न बेचे) ॥८७॥ जल, शस्त्र, विष, मांस, सोमवल्ली तथा सब प्रकार के गन्ध,दूध,शहद,दही,घी,तेल, मधु, ( एक पुस्तक में मधु=मज्जा पाठ है ) गुड़ और कुशा (इन को भी न बेचे) ॥८८॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च। मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा।८९।काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः।विक्रीणीत तिलाञ्शूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

अर्थ-जङ्गली सब पशु तथा दांतों वाले ( कुत्ते आदि ) और पक्षियों तथा मद्य, नील, लाख और एक खुर वाले घोड़े आदि (इनको भी न बेचे) ॥८९॥ खेती वाला आप ही खेती में तिलों को उत्पन्न करके दूसरे द्रव्य से विना मिलाये हुवे तिलों का बहुत दिन न रखकर धर्मकार्य में लगाने निमित्त चाहे तो शूद्रों को विक्रय करदे ॥

"शूद्रान्" की जगह "शुद्धान्" पाठ की छहों टीकाकारों ने व्याख्या की है, "शूद्रान्" की किसी ने नहीं। परन्तु ५ मूल पुस्तकों को छोड़ शेष २५ पुस्तकों में मूल का पाठ "शूद्रान्" ही है। ८९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है कि-

[ त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।
वालांश्चर्म तथाऽस्थीनि सस्नायूनि च वर्जयेत् ]

इस पर नन्दन का भाष्य भी है । अर्थ यह है कि रांग, सीसा तथा लोहा और सब चमकीले धातु और वाल, चमड़ा तथा तांत लिपटी हड्डी (न बेचे)॥ जैसा महाभाष्य में तैल मांस विक्रय का निषेध और सरसों तथा गौ आदि के विक्रय की विधि कही है वैसा ही यह है । क्योंकि अत्यन्त मलिन और पापजनक वृत्ति से बचना चाहिये) ॥९०॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः। कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥ सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥९२॥

अर्थ-भोजन, अभ्यञ्जन और दान के सिवाय जो कोई तिलों से और कुछ करता है, वह कृमि बनकर पितरों के सहित कुत्ते की विष्ठा में डूबता है ॥९१॥ मांस, लाख और लवण के बेचने से ब्राह्मण उसी समय पतित हो जाता है और दूध के बेचने से (ब्राह्मण) तीन दिन में शूद्रता को प्राप्त होता है॥९२॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥ रसारसैर्निमातव्या नत्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं चाकृतान्नेन तिलाधान्येन तत्समाः ॥९४ ॥ *

अर्थ-ब्राह्मण उक्त मांसादि से अतिरिक्त पदार्थों को इच्छापूर्वक बेचने से सात दिन में वैश्य हो जाता है ॥९३॥ गुड़ादि का घृतादि से बदला कर लेवे परन्तु लवण का इन से बदला न करे । सिद्ध किया अन्न विना सिद्ध किये अन्न से बदल ले और तिल धान्य के समान हैं ( धान्य से बदल लेवे ). ॥९४॥

[illegible]न राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः। न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिं [illegible]न्येत कर्हिचित् ॥९५॥ योलोभादधमोजात्या जीवेदुत्कृष्ट[illegible] । तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥९६॥

* ८५ से ९४ तक १० श्लोकों को पहले ४ बार छापे में और इस सूची में प्रक्षिप्त लिखा गया, परन्तु अब विचार से वह अयुक्त दिया है ॥ तु० रा० स्वामी

अर्थ-आपत्ति को प्राप्त क्षत्रिय भी इस विधि से ( वैश्यवत् ) जीवन करे, परन्तु कदापि ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करे ॥९५॥ जो निकृष्ट जाति से उत्पन्न हुवा,(बिना व्यवस्थापकों से विधिपूर्वक उन्नता पाये,आप ही आप ) लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति करे, उस को राजा निर्धन करके देश से निकाल देवे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मोविगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्हि सद्यःपतति जातितः॥९७॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

अर्थ-अपना धर्म (काम) छोटा मोटा भी श्रेष्ठ है और दूसरे का अच्छा अनुष्ठान किया हुवा भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि पराये धर्म ( पेशे ) का आचरण करके जीविका करता हुआ उसी समय अपनी जाति से पतित हो जाता है ॥९७॥वैश्य अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुवा शूद्रवृत्ति (द्विजातियोंकी सेवा)भी करले परन्तु अकार्य को छोड़कर,और हो सके तौ सर्वथा ही बचे॥९८॥

अशक्नुवंस्तुशुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुंद्विजजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः॥९९॥यैः कर्मभिःप्रचरितैःशुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।तानिकारुककर्माणि शिल्पानिविविधानिच ॥१००॥

अर्थ-द्विजों की शुश्रूषा करने को असमर्थ शूद्र क्षुधा से पुत्र कलत्र आदि को कष्ट प्राप्त होते हुवे कारुक कर्मों ( सूपकारत्वादि ) से जीवन करे ॥९९॥ जिन प्रचरित कर्मों से द्विजातियों की शुश्रूषा करते हैं,उन को और नाना प्रकार के शिल्पों को भी कारुक कर्म कहते हैं ॥ १०० ॥

"वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतोनोपपद्यते ॥ १०२"

"अर्थ-अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण जीविका के न होने से पीड़ा को प्राप्त हुवा वैश्यवृत्ति को भी न कर सके तौ इस वृत्ति को करे कि:-॥१०१॥ विपत्ति को प्राप्त हुवा ब्राह्मण सब से दान लेलेवे, क्योंकि पवित्र को दोष लगना धर्म से नहीं पाया जाता ॥ १०२ ॥"

" नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषोभवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥ "
" जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥ "

"अर्थ-ब्राह्मणों को निन्दित पढ़ाने और यज्ञ कराने तथा प्रतिग्रह से दोष नहीं होता, क्योंकि वे पानी तथा आग के समान हैं। दो पुस्तकों में 'ज्वलनार्कसमा हि ते, और एक में 'ज्वलनार्कसमाहितः" भी पाठभेद है) ॥१०३॥ जो प्राणात्यय को प्राप्त हुवा जहां तहां अन्न भोजन करता है, वह कीचड़ से आकाश के समान उस पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥"

" अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ "
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माऽधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवोन लिप्तवान् ॥ १०६ ॥ "

"अर्थ-अजीगर्त नाम ऋषि बुभुक्षित हुवा, पुत्र को मारने को चला, परन्तु क्षुधा के दूर करने को वैसा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा १०५ वामदेव धर्म अधर्म का जानने वाला, क्षुधा से पीड़ित हुवा, प्राण की रक्षार्थ कुत्ते के मांस खाने की इच्छा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा ॥१०६॥"

"भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु सपुत्रोविजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णोमहातपाः ॥१०७॥"
"क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥ "

"अर्थ-बड़े तपस्वी पुत्र के सहित निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित हुवे भरद्वाज ने वृधुनामा वढ़ई की बहुत सी गायों को ग्रहण किया ॥१०७॥ धर्म अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि क्षुधा से पीड़ित हुवे, चण्डाल के हाथ से लेकर कुत्ते की जांघ का मांस लेकर खाने को तैयार हुवे । "

( यद्यपि १०१ से १०४ तक भी श्लोक अमान्य हैं । क्योंकि आपत्काल में भी आपद्धर्म से नीचे न गिरना चाहिये और पूर्व मनुजी कह भी आये हैं कि स्वधर्म त्याग से पतितता होती है, परन्तु यदि यहां आपत्काल का तात्पर्य प्राणसङ्कट हो, अर्थात् कभी दैवयोग से कहीं ऐसा अवसर आ जावे कि सर्वथा ही प्राण न बच सकते हों तो प्राणरक्षार्थ ये श्लोक मान्य भी समझे जा सकते

हैं और प्राणों को भी धर्मार्थ न्यौछावर कर देना तो बहुत ही अच्छा है। परन्तु कोई २ विद्वान् जगत् के महान् उपकारक हैं, यदि वे अपने प्राणों को परोपकारार्थ बचाते हुवे निषिद्ध प्रतिग्रहादि ले भी लें और इसको धर्म भी मान लिया जावे तो इसमें तो सन्देह ही नहीं कि १०५ से १०८ तक के ४ श्लोक तो अवश्य ही मनुप्रोक्त वा भृगुप्रोक्त भी नहीं। जिनमें मनु से पश्चात् हुवे अजीगर्त वामदेव आदि की कथा को भूतकाल से वर्णन किया है ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि। प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः॥१०९॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम्। प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः॥११०॥

अर्थ—प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन; इन में बुरा दान लेना ब्राह्मण को परलोक में बहुत नीचता का हेतु है (इस लिये याजन अध्यापन से जब तक काम चले तब तक निन्दित प्रतिग्रह न लेवे) ॥१०९॥ क्योंकि याजन और अध्यापन तो उपनयनादि संस्कार वाले द्विजों ही का सर्वदा किया कराया जाता है परन्तु प्रतिग्रह तो अन्त्य जन्म वाले शूद्र से भी लिया जाता है ॥११०॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम्। प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च॥१११॥ शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः। प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥११२॥

अर्थ—अर्थात् असत् याजन और अध्यापन से उत्पन्न हुवा पाप तो जप होमों से दूर हो जाता है, परन्तु प्रतिग्रहनिमित्तक पाप, त्याग तथा तप से ही दूर होता है ॥१११॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुवा इधर उधर से शिलोञ्छों को भी ग्रहण करे (अर्थात् शिलोञ्छों के होते हुवे भी निन्दित प्रतिग्रह न ले) क्योंकि प्रतिग्रह से शिल चुगना श्रेष्ठ है और शिल से भी उञ्छ (चुगे पर चुगना) श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः। याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ११३ अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेवच। हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥११४॥

सप्तवित्तागमा धर्म्या दायोलाभः क्रयोजयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रहएवच॥११५॥ विद्याशिल्पंभृतिःसेवा गोरक्षंविपणिः कृषिः। धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ ११६॥

अर्थ-धान्य कुप्य और धन की इच्छा करने वाले, कुटुम्बादि पोषण के लिये धन के न होने से पीडित हुवे स्नातक विप्रों को राजा से याचना करनी योग्य है, परन्तु जो राजा देना नहीं चाहता वह याचना करने के योग्य नहीं है ॥११३॥ बनाये हुवे खेत से वे बनाया खेत, गाय बकरी भेड़, सौना, धान्य और अन्न में (यथासंभव) पहिले २ में कम दोष है ॥ ११४ ॥ धर्म से प्राप्त धन सात प्रकार के धनों का आगम धर्मानुकूल हैः-प्रथम वंश से चले आये हुवे धन का दायभाग, दूसरा भूमि आदि में दबा धन मिल जाना, तीसरे बेचना, चौथे संग्राम में जय करना, पांचवें व्याज आदि से बढ़ाना वा खेती करना आदि, छठा नौकरी करना और सातवां सज्जन से दान लेना॥११५॥ ये दश जीवन के हेतु हैंः-१ विद्या, २ कारीगरी, ३ नौकरी, ४ सेवा, ५ पशुरक्षा, ६ दुकानदारी, ७ खेती, ८ सन्तोष, ९ भिक्षा और १० व्याज ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणःक्षत्रियोवापि वृद्धिंनैवप्रयोजयेत्। कामंतुखलुधर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम्॥११७॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।प्रजारक्षन्परंशक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते॥११८॥

अर्थ-ब्राह्मण और क्षत्रिय सूद से धन बढ़ाने को न दे। आपत्काल में चाहे तो धर्मकर्मनिर्वाहार्थ नीच लोगों को थोड़ा धन देदे और थोड़ी सी वृद्धि लेले ॥ ११७ ॥ आपत्काल में धनादि का चतुर्थ भाग भी चाहे ग्रहण करता हो, परन्तु शक्ति से प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा उस ( अधिक कर लेने के ) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः। शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम्॥११९॥ धान्येऽष्टमं विंशं शुल्कं विंशंकार्षापणावरम्। कर्मोपकरणाःशूद्राःकारवःशिल्पिनस्तथा

अर्थ-शत्रु का जय करना राजा का स्वधर्म है। संग्राम में पीठ न देवे। शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके उन से उचित कर लेवे॥११९॥ वैश्यों के धान्य

में उपचय (नफ़े) में आठवें भाग को राजा ग्रहण करे। और कार्षापण तक सराफ़ के भाग पर २० वां भाग ले (पहिले धान्य का १२ वां और सुवर्णादि का ५० वां कहा था, यहां आपत्काल में अधिक कहा है)। तथा शूद्र कारीगर बढ़ई आदि काम करके कार्यरूप ही कर देने वाले हैं (इन से विपत्ति में भी कर न लेवे) ॥ १२० ॥

शूद्रस्तुवृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि। धनिनंवाप्युपाराध्य वैश्यंशूद्रोजिजीविषेत् ॥१२१॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तुसः। जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥

अर्थ-शूद्र यदि जीविका चाहे तो क्षत्रिय की सेवा करे अथवा धनी वैश्य की सेवा करके निर्वाह करे ॥ १२१ ॥ स्वर्ग और अपनी वृत्ति की इच्छा वाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे। "ब्राह्मण का सेवक" इस शब्द ही से इस की कृतकृत्यता है ("या तु ब्राह्मणसेवाऽस्य" यह एक पुस्तक में तृतीय पाद का पाठान्तर है) ॥ १२२ ॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते। यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्यनिष्फलम् ॥१२३॥ प्रकल्प्यातस्य तैर्वृत्तिःस्वकुटुम्बाद्यथार्हतः। शक्तिंचावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

अर्थ-क्योंकि ब्राह्मण की सेवा शूद्र को अन्य कर्मों से श्रेष्ठ कर्म कहा है इसलिये इस से अतिरिक्त जो कुछ करता है, वह इस का निष्फल है ॥१२३॥ उस परिचारक शूद्र की परिचर्या सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उस के घर के पोष्यवर्ग का व्यय देख कर अपने घर के अनुसार उन (द्विजों) को जीविका नियत कर देनी चाहिये ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नंदातव्यं जीर्णानिवसनानिच। पुलाकाश्चैवधान्यानां जीर्णाश्चैवपरिच्छदाः ॥१२५॥ न शूद्रेपातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारोधर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

अर्थ-भोजन से बचा अन्न और पुराने कपड़े और धान्यों की छटन तथा पुराना बरतन भाण्डा देना चाहिये ॥१२५॥ सेवक शूद्र को (द्विजों) के घर

का ) कोई पातक नहीं है और न कोई संस्कार योग्य है। क्योंकि न तो ( उन द्विजों के ) धर्म में इस को अधिकार है और न ( अपने ) धर्म से इस को निषेध है ॥ १२६ ॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥१२७॥

अर्थ-धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्रवर्जित सत्पुरुषों का आचरण करते हुवे दोष को नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥

( भाव यह है कि धर्मकार्य यज्ञादि करने का शूद्रों को अधिकार [इस्तहक़ाक़] नहीं है। अर्थात् यदि द्विज लोग किसी शूद्र को अयोग्य समझ कर रोकें तो उस का यह अधिकार [इस्तहक़ाक़] नहीं है कि वह राजद्वारादि से क़ानूनन् अपना स्वत्व सिद्ध कर पावे। परन्तु उस को धर्म करने की मनाई भी नहीं है कि शूद्र धर्म करे ही नहीं, किन्तु [ धर्मेप्सवः ] यदि शूद्र धर्म करना चाहें और ( धर्मज्ञाः ) धर्म करना जानते भी हों तो विना वेदमन्त्रों के उच्चारण ही यज्ञ होमादि कर सकते हैं, उस में उन को अमन्त्र होम का कोई दोष नहीं [ क्योंकि वे पढ़ना जानते ही नहीं ] प्रत्युत उन की प्रशंसा होती है कि वे धर्म में श्रद्धा करते हैं ) ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

अर्थ-निन्दारहित शूद्र जैसे २ गर्व छोड़ कर अच्छे आचरण करता है, वैसे २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः। शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥१२९॥ एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्त्तिताः। यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

अर्थ-समर्थ शूद्र को भी धनसञ्चय न करना चाहिये क्योंकि शूद्र धनको पाकर ब्राह्मणादि को ही बाधा देता है ॥ १२९ ॥ ये चारों वर्णों के आपत्काल के धर्म कहे। जिन को अच्छे प्रकार आचरण करते हुवे (मनुष्य) मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्त्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण चारों वर्णों की कर्मविधि कही । इस के उपरान्त शुभ प्रायश्चित्तविधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायां )

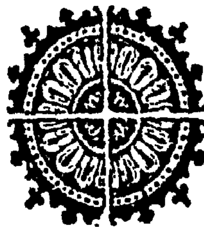
दशमोऽध्यायः

॥ १० ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

दशमोध्यायः

॥ १० ॥



ओ३म्

# अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम्। गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ॥१॥नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान्। निःस्वेभ्योदेयमेतेभ्योदानं विद्याविशेषतः ॥२॥

अर्थ-सन्तानार्थ विवाह के प्रयोजन वाला और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने की इच्छा वाला तथा मार्ग चलने वाला और जिसने सम्पूर्ण धन दक्षिणा देकर यज्ञ में लगा दिया वह, और गुरु तथा माता और पिता के लिये धन का अर्थी और विद्यार्थी और रोगी ॥ १ ॥ इन ९ स्नातकों को धर्मभिक्षुक ब्राह्मण जाने और ये निर्धन हों तो इन को विद्या की विशेषता के अनुसार दान देना चाहिये ॥ २ ॥

एतेभ्योहि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम्। इतरेभ्योबहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥ सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत्। ब्राह्मणान्वेदविदुषोयज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ-इन द्विजश्रेष्ठों को दक्षिणा के साथ अन्न देना चाहिये और दूसरों को वेदी के बाहर पका अन्न देना कहा है ॥ ३ ॥ राजा वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये सम्पूर्ण रत्न दक्षिणा यथायोग्य देवे ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वायोऽधिगच्छति। रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥५॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

अर्थ-जो विवाहित पुरुष भिक्षा मांग कर दूसरा विवाह करता है उस को रतिमात्र फल है । और उस की सन्तति द्रव्य देने वाले की है ॥ ५ ॥ यथाशक्ति वेद के जानने वाले निःसङ्ग ब्राह्मणों को धन देवे (उस से) परलोक में स्वर्ग को पाता है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥७॥अतःस्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः। स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम्॥८॥

अर्थ-जिस के आवश्यक व्यय तीन वर्ष तक कुटुम्बियों के निर्वाह योग्य धन वा इस से अधिक हो, वह सोमयज्ञ करने योग्य है॥७॥ इस से कम द्रव्य होने में जो द्विज सोमयज्ञ करता है उस का प्रथम सोमयज्ञ भी नहीं सम्पन्न होता। (इस से दूसरा यज्ञ करना ठीक नहीं है) क्योंकिः-॥८॥

शक्तःपरजने दाता स्वजने दुःखजीविनि। मध्वापातोविषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः॥९॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्। तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च॥१०॥

अर्थ-जो कुटुम्बियों के दुःखी भूखे मरते हुवे परजन को देता है, वह मधु का त्याग और विष का चाटने वाला धर्मविरोधी है॥९॥ पुत्र स्त्री इत्यादि को क्लेश देकर जो परलोक के लिये दानादि करते हैं, वह दान इस लोक तथा परलोक में उत्तरोत्तर दुःख देने वाला है॥

(इस से आगे ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त हैः-

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्]

अर्थ-बूढ़े मा बाप, सती स्त्री, बालक पुत्र; इन का भरण पोषण १०० अकाज करके भी करना चाहिये, यह मनु ने कहा है)॥१०॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धःस्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः। ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥११॥ योवैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः। कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये॥१२॥

अर्थ-धार्मिक राजा के होते हुवे (क्षत्रियादि यजमानों का और) विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी एक अङ्ग से रुका हो तो-॥११॥ जो वैश्य बहुत से गाय बैल वाला और यज्ञ न करने वाला तथा सोमयज्ञ रहित हो, उस के घर से यज्ञ की सिद्धि को वह द्रव्य ले आवे॥१२॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः। न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥१३॥ योऽनाहिताग्निः शतगु-रयज्वा च सहस्रगुः। तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥१४॥

अर्थ-दो अङ्ग अथवा तीन अङ्ग की हीनता में चाहे शूद्र के घर से भी अपने यज्ञसिद्ध्यर्थ उन २वा ३ वस्तुओं को ले आवे क्योंकि शूद्र का यज्ञों में खर्च भी कुछ नहीं है ॥१३॥ जो अग्निहोत्री नहीं है और शत १०० गौ परिमित धन उस के पास है, तथा जिस ने यज्ञ न किया हो और उस के पास सहस्र १००० गौ परिमित धन है, उन दोनों के कुटुम्बों से भी विना विचारे लेआवे॥१४॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः। तथा यथाऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते॥१५॥तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडऽनश्नता। अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ-जिस के यहां ( प्रतिग्रहादि से ) धन ग्रहण तौ नित्य है और दान नहीं है, उस से यज्ञ के लिये न देते हुवे से भी ले आवे, ऐसा करने से यज्ञ फैलता और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥ तीन दिन के भूखे को छः वार भोजन न मिला हो तौ ७ वीं वार भोजनार्थ अगले दिन के लिये न लेकर हीन-कर्मी से विना आज्ञा भी लेलेने में दोष नहीं है ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते। आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥१७॥ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन। दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमऽजीवन्हर्तुमर्हति ॥१८॥

अर्थ-खलिहान सेवा खेत से वा मकान से वा जिस जगह से मिलजावे वहीं से ( पूर्व श्लोकोक्त अवस्था में ) लेलेना चाहिये। यदि धनस्वामी पूंछे तौ उस को कह दे ( कि छः वार की भूख में लिया है ) ॥१७॥ ( इस दशा में भी) क्षत्रिय को ब्राह्मण की वस्तु कभी न लेनी चाहिये। क्षुधित क्षत्रिय को निष्क्रिय और दस्यु का धन लेना योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति। स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥१९॥ यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः। अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥२०॥

अर्थ–जो असाधुओं से धन लेकर साधुओं को देता है, वह अपने को नाव बनाकर दोनों को पार उतारता है ॥१९॥ सर्वदा यज्ञ करने वालों का जो धन है उस को पण्डित "देवधन" समझते हैं और यज्ञ न करने वालों का जो धन है वह "आसुरधन" कहाता है ॥ २०॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः। क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥ तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः। श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥२२

अर्थ–उस ( ६ वार की भूख में परधन लेने वाले ) को धार्मिक राजा दण्ड न देवे। क्योंकि राजा ही के मूढ होने से ब्राह्मण क्षुधा से पीडित होता है ॥ २१ ॥ ( बल्कि ) उस ब्राह्मण के पुत्रादि पोष्यवर्गों और विद्या तथा सदाचार को जानकर राजा अपने निज से उस को धर्मानुकूल जीविका का प्रबन्ध करदे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः। राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्। यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२४॥

अर्थ–इस ( ब्राह्मण ) की जीविका नियत करके सब ओर से इस की रक्षा करे। क्योंकि उस की रक्षा से धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से धन कभी न मांगे, क्योंकि ( शूद्र से ) भिक्षा मांग कर यज्ञ करने वाला मरने पर चण्डाल होता है ॥२४॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति। स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥२५॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः। स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥

अर्थ–यज्ञ के लिये भिक्षा मांग कर जो सब नहीं लगाता, वह सौ वर्ष तक भास ( गोष्ठकुक्कुट ) वा काक होता है ॥२५॥ देवधन और ब्राह्मणधन को जो लोभ से हरता है, वह पापात्मा परलोक में गिद्ध की झूंठ से जीवता है ॥२६॥

"इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥२७॥"

आपत्कल्पेन योधर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

—"( वर्ष के समाप्त होने में दूसरे वर्ष की प्रवृत्ति को अब्दपर्यय कहते हैं ) उस चैत्र शुक्ल से आदि लेकर वर्ष की प्रवृत्ति में विहित सोमयज्ञ के न हो सकने में उस के दोष दूर करने को सर्वदा शूद्रादि से उक्त धनहरण रूप पाप के प्रायश्चित्तार्थ वैश्वानरी इष्टि करे" ॥४। २६–२७ के हेतुओं से भी यह प्रक्षिप्त है ) ॥ २७ ॥ जो द्विज आपत्काल के धर्म को अनापत्काल में करता है उस का कर्म पर लोक में निष्फल होता है। ऐसा विचारा है ॥ २८ ॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः। आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते। न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥३०॥

अर्थ–क्योंकि सब देवों और साध्यों तथा महर्षि और ब्राह्मणों ने आपत्काल में मरण से डर कर विधि का प्रतिनिधि आपद्धर्म नियत किया है ॥२९॥ जो मुख्यानुष्ठान करने की शक्ति वाला होकर, आपत के लिये विहित प्रतिनिधि अनुष्ठान करता है, उस दुर्बुद्धि को पारलौकिक फल नहीं है ( इस से ऐसा न करे ) ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोवेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित्। स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः॥३१॥स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्। तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥३२॥

अर्थ–धर्म का जानने वाला ब्राह्मण कुछ थोड़े ( नुक़सान हुवे ) को राजा से न कहे किन्तु अपने ही पुरुषार्थ से उन अपकार करने वाले मनुष्यों को शिक्षा देवे ॥ ३१ ॥ अपना सामर्थ्य और राजा का सामर्थ्य, इन दोनों में अपना सामर्थ्य अधिक बलवान् है। इस कारण ब्राह्मण अपने ही सामर्थ्य से शत्रुओं का निग्रह करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्। वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विजः ॥ ३३ ॥ क्षत्रियोबाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः। धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथर्ववेद की दुष्टाभिचार श्रुतियों का ( विना विचार ) शीघ्र प्रयोग करे । इसी अभिचार के उच्चारण रूप शस्त्र वाला होने से ब्राह्मण की वाणी शस्त्र है । ब्राह्मण उस से शत्रुओं को मारे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय बाहुबल से अपनी आपत्ति दूर करे, वैश्य और शूद्र धन से तथा ब्राह्मण जप होम से आपद् को दूर करे ॥

( ३१ से ३४ तक चारों वर्णों को अपनी २ आपत्ति से बचने के लिये उपदेश हैं। क्षत्रिय बल से और वैश्य, शूद्र धन वा दीनता से आपे को बचावें। परन्तु ब्राह्मण का धन वेद है, वह वेद से आपे को बचावे । अथर्ववेदादि में जो शत्रु से अपनी रक्षा की प्रार्थना और शत्रु के नाश की प्रार्थना हैं, उन्हीं को परमात्मा से सहायतार्थ मांगे । परमात्मा उस के सच्चे ब्राह्मणत्व को जानता हुवा अवश्य उस की रक्षा का साधन कुछ न कुछ उत्पन्न कर देगा। आस्तिकों को उस में कुछ सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु ऐसे ब्राह्मण सहस्रों वर्ष में कोई २ कभी २ होते हैं, बहुत नहीं। तथा सब के हितकारी होने से उन के साथ शत्रुता भी बहुत ही थोड़े लोग करते हैं । परन्तु तौ भी ३३ वें में जो ब्राह्मण को पराये हनन के लिये प्रार्थना करने को उत्तेजित किया है सो कुछ अनुचित जान पड़ता है । यूं तौ अपने २ दुःखों और दुःखदायकों का निवारण सभी चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार उत्तेजित करना कि ( हन्यादेव ) " मारे ही " और (अविचारयन्) विना विचारे शीघ्र ही । भला कुछ ठीक है ? इस के अतिरिक्त इस में ( इत्यविचारयन् ) में "इति" शब्द बेढङ्गा और निरर्थक है जो मनु की शैली से नहीं मिलता । तथा एक पुस्तक में इस की जगह ( इत्यवधारितम् ) और अन्य दो पुस्तकों में ( इत्यभिचारयन् ) पाठान्तर हैं और " इति " शब्द सब पाठों में व्यर्थ ही रहता है। तथा इस से आगे ३० पुस्तकों में से १ में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है । जिस से यह सन्देह पुष्ट सा होता है कि ऊपर का ३० वां भी जिस के पाठ भी कई प्रकार के मिलते हैं और शैली भी भिन्न है, कदाचित् पीछे का बना ही हो। अधिक श्लोक जो सब पुस्तकों में नहीं मिलने पाया है, यह है:—

[ तदस्त्रं सर्ववर्णानामऽनिवार्यं च शक्तितः । ]
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ] ॥

अर्थात् तप वीर्य के प्रभाव से जो अवध्यों को भी बाधा कर सकता है, वह यह अस्त्र शक्ति में किसी वर्ण से निवारित नहीं हो सकता। ३४ वें श्लोक के बीच में ही पूर्वार्ध से आगे आधा श्लोक दो पुस्तकों में और मिलाया दीख पड़ता है कि:-

[ तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ]

इस से यह भी पाया जाता है कि कई श्लोकों में अर्ध भाग भी प्रक्षिप्त हुआ है ) ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। तस्मै नाऽकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ३५ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥३६॥

अर्थ-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, पुत्र शिष्यों को शिक्षा करने वाला और प्रायश्चित्तादि धर्मों का बताने वाला, सब का मित्र ब्राह्मण कहा है, उस से कोई बुरी बात न बोले और रूखी बोली भी न बोले ॥३५॥ कन्या, युवति, थोड़ा पढ़ा और कुपढ़ तथा बीमार और संस्काररहित; ऐसे लोग अग्निहोत्र के होता नियत न हों ( इस से वृद्धा स्त्रियों को भी होता बनाना पाया जाता है ) ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्। तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥३७॥ प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्। अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३८॥

अर्थ-( कन्यादि ) होता बनाये जाने के अनधिकारी ( होता बन कर ) और जिस का वह अग्निहोत्र है वह ( यजमान ) भी नरक को प्राप्त होता है। इस कारण श्रौत कर्म में प्रवीण और सम्पूर्ण वेद का जानने वाला होता होना चाहिये ॥३७॥ धन के होते हुवे प्रजापति देवता के निमित्त अश्व और अग्न्याधेय की दक्षिणा न देवे तो ब्राह्मण अनाहिताग्नि हो जाता है (अर्थात् उस को आधान का फल प्राप्त नहीं होता ) ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। नत्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥३९॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजाः पशून्। हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ४०

अर्थ-जितेन्द्रिय श्रद्धा वाला अन्य पुण्य कर्मों को करे, परन्तु थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ से कभी यजन न करे ॥३९॥ इन्द्रियों, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्त्ति, प्रजा और गौ आदि पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट करता है, इस लिये थोड़े धन वाला यज्ञ न करे (तात्पर्य यह है कि थोड़े धन वाला यज्ञ करे तौ ऋत्विजों को थोड़ी दक्षिणा से दुःख होगा, यजमान भी निर्धन हो जायगा, भूखा मरेगा और तब ४० वें में कही हानियें होंगी ही। परन्तु यह थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ की बुराई [ निन्दार्थवाद ] कुछ अत्युक्ति सी प्रतीत होती है और ४० वें से आगे ६ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक भी पाया जाता है:-

[ अन्नहीनोदहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः।
दीक्षितं दक्षिणाहीनोनास्ति यज्ञसमोरिपुः ]

अन्नहीन यज्ञ राज्य को फूंकता है। मन्त्रहीन ऋत्विजों का नाश करता है। दक्षिणाहीन दीक्षित को नष्ट करता है। यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं॥ इस से यह भी सन्देह होता है कि ४० वां श्लोक भी कदाचित् हीन यज्ञ की निन्दापरक पीछे से ही बढ़ाया गया हो, जैसे कि यह केवल छः पुस्तकों में ही है)॥ ४०॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः। चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४१॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते। ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ४२

अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छा से अग्नि में सायं प्रातः होम न करे तौ एक मास पर्यन्त चान्द्रायण व्रत करे। क्योंकि वह पुत्रहत्यासम पाप है ॥४१॥ जो शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र किया करते हैं, वे वेदपाठियों में निन्दित हैं क्योंकि (एक प्रकार से) वे शूद्रों के ऋत्विज् हैं॥ ४२॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम्। पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥४३॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ ४४॥

अर्थ-उन शूद्रों के धन से सदा यज्ञ करने वाले मूर्ख ब्राह्मणों के शिर पर पैर रख कर वह दाता (शूद्र) दुःखों से तरता है (अर्थात् यज्ञ कराने

वालों को सदा शूद्र से दबना पड़ता है ) ॥४३॥ विहित कर्म को न करता और निन्दित को करता हुवा तथा इन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य प्रायश्चित के योग्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

अकामतःकृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः।कामकारकृतेऽप्याहु-रेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥४५॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति। कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४६॥

अर्थ-विद्वान् लोग विना इच्छा से किये पाप पर प्रायश्चित कहते हैं,दूसरे आचार्य वेद के देखने से कहते हैं कि इच्छा से किये में भी (प्रायश्चित होना चाहिये) ॥४५॥ विना इच्छा से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है और मोह वश इच्छा से किया हुवा पाप नाना प्रकार के प्रायश्चितों से शुद्ध होताहै ॥४६॥

# प्रायश्चित्त का विचार

प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं वै तद्विशोधनम्

और

प्रायोनम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयउच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥
प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते।
पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

तथा-

योऽस्त्वदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः। कृतस्याऽपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तं, द्वे द्वे कर्मणी वेदितव्ये ( इत्यादि ) ॥ यह व्यासभाष्य, योगदर्शन के-

सति मूले तद्विपाकोजात्यायुर्भोगाः ॥ २ । १३ ॥

इस सूत्र पर है। जिस का तात्पर्य यह है कि जो पूर्व जन्म का जानने योग्य अनियतविपाक कर्म है, उस की ३ गति हैं। १-अपक्व कृत का नाश, २-वा प्रधान कर्मके भीतर भुगता जाना,३-वा नियतविपाक प्रधान कर्मसे दबे

हुये का बहुत काल तक स्थित रहना। जैसे पुण्य कर्म के उदय से पाप का वा श्वेतकर्म-वस्त्र धोने आदि से कलोंस का यहीं नाश हो जाता है, जिस में यह कहा गया है कि दो दो कर्म पाप पुण्य भेद से जानने चाहियें इत्यादि॥

अब जानना यह है कि पाप क्या वस्तु है और उस की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? जिस प्रकार एक लकड़ी को मोड़ते रहने से वह तिरछी हो जाती है और वह सीधे कर्मों के योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मा भी पराऽपकारादि पाप से अवस्थान्तर को प्राप्त होकर शुद्ध अवस्था से भोग्य शुभ फलों के योग्य नहीं रहता। वा जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर जो रङ्ग काले या अच्छे लगाये जावें, उन २ से वस्त्र की वह २ रङ्गत होजाती हैं। और उस रङ्ग विशेष से वह वस्त्र रङ्गानुसार पुष्ट वा क्षीण भी होता है। इसी प्रकार आत्मा भी विचित्र कर्मों के करने से विचित्र अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और अवस्थानुसार ही फलभोग की योग्यता वा अयोग्यता होती है। इसी प्रकार कुकर्म से आत्मा में एक प्रकार की वासना, विषमता वा मलिनता उत्पन्न हो जाती है। उस को दूर करने का उपाय भोग है। वह भोग दो प्रकार का है। एक ईश्वर वा राजा की व्यवस्था से परवश होकर भोगना। दूसरा अपने आप ही समझ कर कि मैंने यह बुरा किया है, जिस से मेरे आत्मा में पाप वास करता है, जो मुझे अनिष्ट है (स्मरण रहे कि यहां "आत्मा" शब्द का प्रयोग हमने अन्तःकरण सहित आत्मा के लिये किया है। केवल आत्मा में पाप पुण्य नहीं लग सकते)। मनुष्य विद्वान् लोगों से कहे कि मैंने यह पाप किया है इस से मेरा आत्मा घुटता है, इस की निवृत्ति का उपाय बताइये। तब वे लोग देश काल अवस्था के विचार से शास्त्रानुसार वा शास्त्र में स्पष्ट न कहा हो तो शास्त्र की अविरोधिनी अपनी कल्पना से प्रायश्चित्त बतावें। वह पापी श्रद्धा और नम्रता और पश्चात्ताप से युक्त उस २ प्रकार से अनुष्ठान करे। जो कष्ट हों, उन को सहे, आगे को अपना सुधार करे। यथार्थ में राजदण्डादि से भी तो इस से अधिक फल नहीं होता। क्योंकि एक पुरुष ने दूसरे पुरुष को थप्पड़ से मारा और मारने वाले को राजदण्ड होगया तो उस राजदण्ड से जिस के थप्पड़ लगा था, उस की चोट दूर नहीं हुई, किन्तु एक तो उस थप्पड़ से पिटने वाले को जो दुःख था सो इस अपराधी को दण्ड मिलने से शान्ति वा सन्तोष सा होकर चित्तविषमता का निवारक हुवा। दूसरे अपराधीको यह बलपूर्वक ज्ञात कराया

गया कि ऐसा काम करना योग्य न था। जिससे इसके चित्त की भी आगे के लिये और देखने वालों को पाप करने से पूर्व ही ग्लानि होकर उत्तरोत्तर संसार में शान्ति का प्रसार हुवा। तो प्रायश्चित्त का फल सोचें तौ एक प्रकार से राजदण्ड से भी उत्तम हो सकता है। क्योंकि बलात्कार से जब कभी एक पुरुष हानि उठाकर हानिकारक को राजद्वार से दण्ड दिलाता है तौ कभी २ ऐसा देखा गया है कि कारागार से छुटते ही आकर पूर्व द्वेष से उसी अपराधी ने उसी पुरुष को द्वेष के शब्द प्रकट करके कि "तू ने ही मुझे जेल में भेजवाया था" उससे भी अधिक हानियें फिर की हैं, परन्तु जब कि मनुष्य स्वयं अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त करता है, तब ऐसा नहीं हो सकता॥

प्रायः ऐसे भी प्रायश्चित्त हैं, जिनमें बड़ा अपराध है और भोग थोड़ा जान पड़ता है, परन्तु देश काल अवस्था के विचार से ऐसा होना ही चाहिये। एक पुरुष को बेत मारने से जितनी शिक्षा मिल सकती है, दूसरे को "तुम ने बुरा किया" इतना कहने का ही उस बेत खाने वाले से भी अधिक शिक्षा दायक प्रभाव हो जाता है। ऐसे ही देश और काल से भी भेद समझिये। सभ्य देशों के समझदार मनुष्यों को तौ "क्षमा मांगने" से ही जितनी शिक्षा होती है उतनी असभ्य अशिक्षितों को कभी २ वध से भी नहीं होती। इत्यादि बहुत दूर तक विचार फैलाने से प्रायश्चित्त की सार्थकता समझ में आ सकती है। यहां थोड़ा ही लिख कर समाप्त करते हैं)॥ ४६॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा। न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥ ४७॥ इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा। प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम्॥ ४८॥

अर्थ-दैववश वा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त के योग्य होकर प्रायश्चित्त विना किये सज्जनों के साथ संसर्ग न करे (४७ वें से आगे एक पुस्तक में "प्रायो नाम तपः प्रोक्तम्" इत्यादि श्लोक अधिक है)॥ ४७॥ कोई इस जन्म के और कोई पूर्व जन्म के दुराचरण से दुष्टात्मा मनुष्य, रूप की विपरीतता को प्राप्त होते हैं॥ ४८॥ जैसा कि:-

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्। ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः॥ ४९॥ पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्। धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः॥ ५०॥

अर्थ—सोने का चुराने वाला कुनखी होता है और मदिरा पीने वाला काले दांत को और ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोगिता को तथा गुरु की स्त्री से गमन करने वाला दुष्ट चर्म को पाता है ॥४९॥ चुगली करने वाला दुर्गन्ध नासिका को और झूठी निन्दा करने वाला दुर्गन्ध मुख को और धन का चुराने वाला अङ्गहीनता को और धान्य में अन्य वस्तु मिलाने वाला अधिकाङ्गता को ( प्राप्त होता है ) ॥ ५० ॥

अन्नहर्ताऽमयावित्वं मौक्यं वागऽपहारकः।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥५१॥

अर्थ—अन्न चुराने वाला मन्दाग्निता को, वाणी का चुराने वाला गूंगेपन को, कपड़े का चुराने वाला श्वेत कोढ़ और घोड़े का चुराने वाला पङ्गुपने को (प्राप्त होता है) ५१ वें से आगे अर्द्ध श्लोक १० पुस्तकों में अधिक है और रामचन्द्र ने उस पर टीका भी की हैः—

[ दीपहर्ता भवेदन्धः काणोनिर्वापकोभवेत् ]

दीपक चुराने वाला अन्धा और ( चोरी से ) दीपक बुझाने वाला काणा होता है । अन्य ९ पुस्तकों में इसी से आगे उत्तरार्धरूप और भी अर्ध श्लोक उपस्थित है किः—

[ हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ]

(हिंसा से बहुत रोगीपना और अहिंसा से नीरोगता होती है) ॥५१॥

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों में निन्दित जड़, मूक, अन्ध, बधिर और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतोनित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये। निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५३॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥५४॥

अर्थ—विना प्रायश्चित्त करने वाले निन्द्य लक्षणों से युक्त उत्पन्न होते हैं। इस कारण शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये ॥५३॥ ब्रह्महत्या,

मदिरापान, चोरी, गुरु, की स्त्री से व्यभिचार; इन को महापातक कहते हैं और इन महापातकियों के साथ रहना भी ( उसी के समान है ) ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्। गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५५॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः। गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥५६॥

अर्थ–अपनी बड़ाई के लिये असत्यभाषण करना, राजा से चुग़ली करना और गुरु से झूंठी ख़बर कहना, ये ब्रह्महत्या के समान हैं ॥५५॥ वेद को त्यागना वेद की निन्दा करना, झूंठी गवाही देना तथा मित्र का वध, निन्दित लशुनादि और पुरीषादि अभक्ष्य का भक्षण, ये छः सुरापान के समान हैं ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च। भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥५७॥ रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च। सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५८॥

अर्थ–धरोहर और मनुष्य, घोड़ा, चान्दी, भूमि, हीरा और मणियों का हर लेना सुवर्ण की चोरी के समान है ॥ ५७ ॥ सहोदरा भगिनी, कुमारी, चण्डाली, सखा और पुत्र की स्त्री, इन से व्यभिचार करना गुरुभार्यागमन के समान ( महापातक ) है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः। गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥५९॥ परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च। तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥

अर्थ–गाय का मारना, दुष्टों को यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन करना, आत्मा का बेचना, गुरु-माता-पिता-ब्रह्मयज्ञ-श्रौतस्मार्त्त अग्नि में होम और पुत्र का त्यागना ॥५९॥ छोटे का पहिले विवाह करने में ज्येष्ठ की परिवित्तिता, कनिष्ठ को परिवेत्ता होना, उन दोनों को कन्या देना और उन दोनों को यज्ञादि कराना ॥ ६० ॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्। तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥६१॥ व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च। भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥६२॥

अर्थ-और कन्या का दूषित करना, ( वैश्य न होकर ) सूद का लेना; व्रतभङ्ग करना, तालाब बगीचा, स्त्री और सन्तान का बेचना ॥६१॥ यथोचित कालमें उपनयन का न होना, बान्धवों का त्याग, नियत वेतन लेकर पढ़ाना, और ऐसे ही देकर पढ़ने का ग्रहण, बेचने के अयोग्य वस्तु का बेचना ॥६२॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम्। हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारोमूलकर्म च ॥६३॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामव पातनम्। आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६४॥

अर्थ-सुवर्णादि सम्पूर्ण खानों में अधिकार, बड़े भारी यन्त्र का चलाना ओषधियों का काटना, भार्यादि स्त्रियों से (वेश्यावत् करके) आजीवन करना, मारण और वशीकरण, ॥६३॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों को काटना, ( देव-पितरों के उद्देश विना केवल) आत्मार्थ पाकादि काम करना और निन्दित अन्न का भक्षण ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्नितास्तेयमृणानामनपक्रिया । असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥६५॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्। स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्॥६६॥

अर्थ-अग्निहोत्र न करना, चोरी करना, ऋणों का न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, नाचने गाने बजाने का सेवन, ॥ ६५ ॥ धान्य कुप्य और पशुओं की चोरी, मद्य पीनेवाली स्त्री से व्यभिचार, स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय का वध और नास्तिकता ( ये सब ) उपपातक हैं ॥

( तड़ागादि के बेचने से पुण्य कर्म रुकता है। नौकरी के पढ़ने पढ़ाने से गुरु शिष्य का पूर्ण भाव नहीं रहता। खानि खुदवाने के ठेके लेने और महायन्त्रों के चलवाने में जीवों की हिंसा है। उस के प्रायश्चित्त उन लोगों को करने चाहियें। मारण में दूसरे का स्पष्ट अपकार है। वशीकरण में दूसरे को अज्ञानी वा पराधीन करना बुरा है। वशीकरण किसी के पास सुन्दर स्त्री आदि भेज कर उस को मोहित करने से होता है ) ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः । जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥६७॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविक वधस्तथा। संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण को लाठी आदि से पीड़ा देने की क्रिया करना, दुर्गन्ध और मद्य का सूंघना, कुटिलता करना, तथा पुरुष से मैथुन करना, इन को जातिभ्रंशकर पातक कहा है ॥ ६७ ॥ गर्दभ, तुरङ्ग, उष्ट्र, मृग, हस्ती, बकरा, भेड़, मत्स्य, सर्प, महिष, इन में प्रत्येक के वध को "सङ्करीकरण" कहते हैं॥६८॥

निन्दितेभ्योधनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥६९॥ कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अप्रतिग्राह्य पुरुषों के धन का प्रतिग्रह लेना, (वैश्य न होकर) वाणिज्य करना, शूद्र की परिचर्या और झूंठ बोलना, इन को "अपात्रीकरण" जाने ॥६९॥ कीड़े मकौड़े पक्षी की हत्या, मद्य के साथ मिला भोजन, फल इन्धन और पुष्प का चुराना और अधीरता को "मलिनीकरण" कहते हैं ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् । यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ् निबोधत ॥७१॥ ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ये सब ब्रह्महत्यादि पाप जैसे अलग अलग कहे गये, वे जिन जिन व्रतों से नाश को प्राप्त किये जाते हैं, उन को अच्छे प्रकार सुनो ॥ ७१ ॥ ब्राह्मण का हत्यारा वन में कुटी बना कर मुरदे के सिर का चिह्न करके, भीख मांग कर खाता हुवा, अपनी शुद्धि के लिये बारह वर्ष रहे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यंशस्त्रभृतांवास्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ७४

अर्थ—अथवा शस्त्रधारण करने वाले विद्वानों का अपनी इच्छा से निशाना बने । अथवा नीचे सिर करके जलती हुई अग्नि में अपने को तीन वार डाले ॥ ७३ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित, गोसवन, अभिजित, विश्वजित, त्रिवृत वा अग्निष्टुत (ये यज्ञविशेष) करे ॥ ७४ ॥

जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् । ब्रह्महत्यापनोदाय

मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥७५॥ सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायो-पपादयेत् । धनं वा जीवनायाऽलं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥७६॥

अर्थ-अथवा ब्रह्महत्याके दूर करने को किसी एक वेद का जप करता हुवा सौ योजन गमन करे, थोड़ा खावे और जितेन्द्रिय होकर रहे ॥ ७५ ॥ अपनी सब जमा पूंजी अथवा जीवनार्थ पुष्कल धन वा असबाब सहित घर, वेद जानने वाले ब्राह्मण को देदेवे ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् । जपेद्वानियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥७७॥ कृतावपनोनिवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः॥७८॥

अर्थ-अथवा हविष्य भोजन करता हुवा सरस्वती-नदी के स्रोत की ओर गमन करे वा नियमपूर्वक आहार करतां हुवा वेद की संहिता को ३ बार पढ़े ॥ ७७ ॥ बारह वर्ष तक सिर मुंडाये गौ ब्राह्मण के हित में रत होकर ग्राम के बाहर वा गौ के गोष्ठ में, शुद्ध देश में वा वृक्ष के नीचे वास करे ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च॥७९॥त्रिवारंप्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते॥८०॥

अर्थ-अथवा ब्राह्मण वा गौ के अर्थ यदि उसी समय प्राण दे देवे तो वह गौ ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥७९॥ यदि ब्राह्मण का सर्वस्व चोर ले जाते हों उसको तीन बार बचावे ( अथवा ४ पुस्तक और राघवानन्द के टीकास्थ पाठभेद से " त्र्यवरम् " कम से कम तीन ब्राह्मणों के सर्वस्व की चोरी को बचाने वाला ) अथवा ऐसा यत्न ही करके चाहे धन भी न छुड़ाने पाया हो, अथवा इस निमित्त प्राण त्यागने पर ( अथवा कुल्लूक के अनुमत "प्राणलाभे" पाठ में, धन बचाने से ब्राह्मण का प्राण बचाने पर ब्रह्महत्या से ) छूटता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥८१॥ शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ–इस प्रकार दृढ़ व्रत करता हुवा, प्रतिदिन ब्रह्मचर्य से रहने वाला समाधान किये चित्त से बारह वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है ॥८१॥ अथवा अश्वमेधयज्ञ में ब्राह्मणों और राजा के समक्ष में (ब्रह्महत्या के पाप का) निवेदन करके यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करता हुवा (ब्रह्महत्या के पाप से) छूट जाता है ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणोमूलमग्रं राजन्यउच्यते।तस्मात्समागमे तेषा-मेनोविख्याप्य शुध्यति ॥८३॥ ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम्। प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्माऽत्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

अर्थ–ब्राह्मण धर्म का मूल है और राजा अग्र है। इस कारण उन के समागम में पाप का निवेदन करके शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण (सावित्री के) जन्म से ही देवतों का देवता और लोक को प्रमाण है, इस में वेद ही कारण है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदोब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम्। सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥८५॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रःसमाहितः। ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया॥८६॥

अर्थ–उन (ब्रह्महत्यादि करने वालों) को वेद के जानने वाले तीन भी विद्वान्, पापों के जो प्रायश्चित्त बतावें वही उन पापियों की शुद्धि के लिये हों। क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र है ॥ ८५ ॥ स्वस्थ चित्त ब्राह्मण इन में से कोई एक विधि ही करके आत्मवान्=मनस्वी होने से ब्रह्महत्या से किये पाप को दूर देता है ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

अर्थ–बिना जाने गर्भ को मार कर वा यज्ञ करते हुवे क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री का वध करके भी यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे ॥
(८७ वें से आगे एक पुस्तक में आत्रेयी का लक्षण करने के लिये एक यह श्लोक अधिक पाया जाता है:–

[ जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया ।
गर्भिणी त्वथ वा स्यात्तामात्रेयीं च विदुर्बुधाः ] ॥

अर्थात् जो जन्म से लेकर संस्कारों से मन्त्रपूर्वक संस्कृता स्त्री अथवा गर्भिणी हो, उसे विद्वान् लोग " आत्रेयी " जानते हैं ) ॥ ८७ ॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्ध्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-गवाही में झूंठ बोल कर, गुरु का विरोध करके, धरोहर को हज़म करके और स्त्री तथा मित्र का वध करके ( भी यही प्रायश्चित्त करे ) ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतोद्विजम् । कामतोब्राह्मण वधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥८९॥ सुरां पीत्वा द्विजोमोहादग्नि वर्णां सुरां पिबेत् । तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्तत

अर्थ-यह शुद्धि विना इच्छा ब्राह्मण के वध में कही है और इच्छा से ब्राह्मण के वध करने में प्रायश्चित्त ही नहीं कहा ॥ ८९ ॥ द्विज अज्ञान से ( दूसरे महापातक ) मदिरा पीकर, आग के समान गरम मदिरा पीवे, उस मद्य से शरीर जलने पर वह ( द्विज ) उस पाप से छुटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयोघृतं वाऽऽमरणाद्गो गोशकृद्रसमेव वा ॥९१॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥९२॥

अर्थ-अथवा गोमूत्र वा जल अग्निवर्ण गरम करके पीवे अथवा मरण पर्यन्त दुग्ध घृत ही पीकर रहे अथवा गोबर का रस पीवे (मद्यपान का पाप छूट जावेगा ) ॥९१॥ अथवा चावल की खुट्टी वा कुटे तिल एक समय रात को १ वर्ष तक भक्षण करे । सुरापान के पाप दूर होने को कम्बल वा कपड़ा पहिने और सिर के बाल रक्खे तथा सुरापात्र के चिह्न युक्त होकर रहे ॥९२॥

सुरा वैमलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥९३॥ गौडीपैष्टीचमाध्वीच विज्ञेयात्रिविधासुरा । यथैवैकातथासर्वा नपातव्याद्विजोत्तमैः ॥९४॥

अर्थ-सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मदिरा को न पीवें॥९३॥गुड़ की और पिट्ठी की तथा महुवे की; ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहियें। जैसी एक वैसी ही सब द्विजोत्तमों को न पीनी चाहियें ॥ ९४ ॥ क्योंकिः—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्। तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥९५॥अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्। अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणोमदमोहितः॥९६॥

अर्थ-यह राक्षस पिशाचों के अन्न-मद्य, मांस, सुरा, आसव; देवतों का हवि खाने वाले ब्राह्मण को भक्षण करने न चाहियें॥९५॥मद्य पीकर उन्मत्त हुवा ब्राह्मण अशुचि स्थान ( मोरी आदि ) में गिरेगा वा वेद की बकवाद करेगा वा और कोई निषिद्ध कार्य करेगा ( इस कारण मद्य न पीवे ) ॥९६॥

यस्यकायगतंब्रह्म मद्येनाप्लाव्यतेसकृत्।तस्यव्यपैतिब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति॥९७॥एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः। अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

अर्थ-जिस ब्राह्मण के देह में रहने वाला वेदज्ञान एक वार भी मद्य से डूब जाता है, उस की ब्राह्मणता नष्ट हो जाती है और वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥ यह सुरापान की विचित्र निष्कृति कही। अब ( तीसरे महापातक ) सोने की चोरी का प्रायश्चित्त कहता हूं ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु। स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान् मांभवाननुशास्त्विति ॥९९॥ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्। वधेन शुध्यति स्तेनोब्राह्मणस्तपसैव तु ॥१००॥

अर्थ-सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण, राजा के पास जाकर अपने किये को प्रसिद्ध करके कहे कि मुझे आप शिक्षा दें ॥९९॥ राजा (उसके कंधे पर लिये हुवे) मूसल को लेकर उस (चोर) को एकवार मारे, मारने (पीटने) से ब्राह्मण चोर शुद्ध होता है और तप करने से भी ( शुद्ध होता है ) ॥१००॥

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्। चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणोव्रतम्॥१०१॥एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं

द्विजः । गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ–चोरी के पाप को तप से दूर करने की इच्छा करने वाला द्विज चीर को पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करे ॥१०१॥ द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे । और गुरु स्त्री के व्यभिचार सम्बन्धी पाप(चौथे महापातक ) को इन ( आगे कहे ) व्रतों से दूर करे ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुध्यति१०३स्वयंवा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधायचाञ्जलौ। नैर्ऋतींदिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः॥१०४॥

अर्थ–गुरुभार्यागामी पाप को प्रसिद्ध करके लोहे की तप्त शय्या में सोवे और लोहे की स्त्री लाल करके उस के साथ आलिङ्गन करे । उस से मृत्यु पाकर वह शुद्ध होता है ॥१०३॥ वा आप ही लिङ्ग तथा वृषणों को काट कर अञ्जलि में लेकर जब तक शरीर न गिरजावे तब तक टेढ़ी चाल को न चलता हुवा सीधा नैर्ऋत्य दिशा में गमन करे ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने। प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः॥१०५॥चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः। हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये१०६

अर्थ–अथवा खट्वाङ्ग चिह्न और केश नख लोम श्मश्रु का धारण करने वाला यति होकर निर्जन वन में एक वर्ष पर्यन्त प्राजापत्य व्रत करे ॥१०५॥ अथवा जितेन्द्रिय रह कर ३ मास तक हविष्य तथा यवागु के भोजन से गुरुभार्यागमनसम्बन्धी पाप दूर करने के लिये चान्द्रायण व्रत करे ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनोमलम् । उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः॥१०७॥उपपातकसंयुक्तोगोघ्नोमासंयवान् पिबेत्। कृतवापोवसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

अर्थ–इन व्रतों को करके महापातकी पाप को दूर करें । और उपपातकी ( आगे कहे हुवे ) नानाप्रकार के व्रतों से पाप दूर करें॥१०७॥उपपातक से संयुक्त गौ का मारने वाला एक मास पर्यन्त यवों को पीवे, मुण्डन किया हुवा और गौ के चर्म से वेष्टित होकर गोष्ठ में रहे ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवण मितम्। गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौमासौनियतेन्द्रियः॥१०९॥दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः।पिबेत्।शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥११०॥

अर्थ—और इन्द्रियों को वश में करता हुवा दो मास पर्यन्त गोमूत्र से स्नान किया करे और खारी लवण वर्जित हविष्य अन्न का चौथे काल में थोड़ा भोजन किया करे ॥१०९॥ और दिन में उन गायों के पीछे चले और (खुर से ऊपर उड़ी) धूल को खड़ा हुआ पीवे और सेवा तथा अन्न से सत्कार करके रात को "वीरासन" होकर पहरा देवे ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्। आसीनासु तथासीनोनियतोवीतमत्सरः॥१११ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः। पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत्॥११२॥

अर्थ—और मत्सरतारहित नियमपूर्वक दृढ़ होकर बैठी हुई गौ के पीछे बैठ जावे और चलती हुई के पीछे चले और खड़ी हुई के साथ खड़ा रहे ॥ १११ ॥ व्याधियुक्ता और चोर व्याघ्रादि के भयों से आक्रान्ता तथा गिरी हुई और कीचड़ लगी हुई गौ को सब उपायों से छुड़ावे ॥ ११२ ॥

उष्णेवर्षतिशीते वा मारुतेवातिवाभृशम्।न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः॥११३॥आत्मनोयदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले। भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम्॥११४॥

अनेनविधिनायस्तु गोघ्नोगामनुगच्छति।स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥ वृषभैकादशागाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः।अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्योनिवेदयेत् ॥११६॥

अर्थ—उष्ण काल, शीत, वर्षा और अधिक वायु के चलने में यथाशक्ति गौ का बचाव न करके (गोहत्यारा) अपना बचाव न करे॥११३॥ और अपने वा दूसरे के घर में वा खेत में वा खलियान में भक्षण करती हुई गौ को और दूध पीते हुवे उस के बच्चे को प्रसिद्ध न करे ॥ ११४ ॥ इस विधान से जो गोहत्या वाला गौ की सेवा करता है वह उस गोहत्या के पाप को तीन

महीने में दूर करता है ॥ ११५ ॥ अच्छे प्रकार प्रायश्चित्तव्रत करके एक बैल और दूध गाय और इतना न हो तो अपना सर्वस्व धन वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को देदेवे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः। अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥११८॥

अर्थ-अवकीर्णी को छोड़ अन्य उपपातक वाले द्विज भी यही व्रत अथवा चान्द्रायण करें ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी, काने गधे पर चढ़ कर रात को चौराहे में जा, पाकयज्ञ के विधान से निर्ऋति देवता का यज्ञ करे ॥११८॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा। वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥ कामतोरेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः। अतिक्रामं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

अर्थ-विधिवत् अग्नि में होम करके उस के अनन्तर " सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ अथर्व ७। ३। ३३। १ " इस ऋचा के साथ मरुत, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि को घृत से आहुति दे ॥ ११९ ॥ ( ब्रह्मचर्य ) व्रत को धारण करने वाले द्विज के इच्छा से वीर्यस्खलन को वेद के जानने वाले धर्मज्ञ लोग ब्रह्मचर्य का खण्डित होना ( अवकीर्णित्व ) कहते हैं ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च। चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥१२१॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम्। सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥१२२॥

अर्थ-व्रतवाले अवकीर्णी का ब्रह्मसम्बन्धी तेज मारुत, इन्द्र, गुरु और अग्नि इन चारों में चला जाता है ( इस कारण इन को आहुति देकर फिर प्राप्त करे ) ॥ १२१ ॥ इस पातक के प्राप्त हुवे पर गधे के चमड़े को लपेट कर अपने किये अवकीर्णिरूप पाप को प्रसिद्ध करता हुवा सात घरों से भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेभ्योलब्धेन भैक्षेण वर्त्तयन्नेककालिकम्। उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥१२३॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

अर्थ—उन घरों से प्राप्त हुवे भिक्षान्न से एक काल में भोजन से निर्वाह करता हुवा त्रिकाल स्नान करने वाला वह (पापी) एक वर्ष में शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ इच्छा से कोई जातिभ्रंशकर कर्म करके ( आगे कहा ) सान्तपन कृच्छ्र और बिना इच्छा से ( करने पर ) प्राजापत्य व्रत करे ॥ १२४ ॥

संकराऽपात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्। मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥१२५॥ तुरीयोब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः। वैश्येऽष्टमांशोवृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः॥१२६॥

अर्थ-( पूर्वोक्त ) संकरीकरण और अपात्रीकरण करने पर शुद्धि के लिये एक महीने तक चान्द्रायण व्रत करे और मलिनीकरणों में शुद्धि के लिये तीन दिन गरम यवागू पीवे ॥ १२५ ॥ अच्छे आचरण करने वाले क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई प्रायश्चित्त है। वैसे ही वैश्य के (वध) में आठवां और शूद्र के ( वध ) में सोलहवां भाग प्रायश्चित्त होना चाहिये ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः। वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥१२७॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणोव्रतम् । वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अर्थ ब्राह्मण बिना इच्छा से क्षत्रिय को मारकर अच्छे प्रकार व्रत करके एक बैल के सहित १ सहस्र गौओं का दान करे ॥१२७॥ अथवा जटा धारण करके दृढ़ होकर तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त ग्राम से बहुत दूर वृक्ष के नीचे रहता हुवा करे ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः। प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम्॥१२९॥ एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्छूद्रहा चरेत्। वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥१३०॥

अर्थ–इसी व्रत को ( विना इच्छा से ) अच्छे आचरण वाले वैश्य की हत्या में ब्राह्मण एक वर्ष तक करे और एक सौ गौओं का दान देवे ॥१२९॥ इसी सम्पूर्ण व्रत को ( विना इच्छा से ) शूद्र का मारने वाला छः महीने तक करे अथवा एक बैल तथा दश श्वेत गौ ब्राह्मण को देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥१३१॥ पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् । उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥१३२॥

अर्थ–मार्जार, नेवला, चिड़िया, मेंढ़क, कुत्ता, गोधा, उलूक, काक, इन को मारकर शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे ॥१३१॥ अथवा तीन दिन दुग्धपान करे वा योजन भर तीन दिन रास्ता चले वा तीन दिन नदी में स्नान करे वा तीन दिन जलदेवता वाले ( आपोहिष्ठा० इत्यादि ऋ० १० । ९ ) सूक्त को जपे ॥ १३२ ॥

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥१३३॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ । शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥१३४॥

अर्थ–ब्राह्मण सर्प को मारकर लोहे की करछुलका दान करे । और नपुंसक के मारने पर धान्य के पलाल का भार और १ माषा मात्र सीसा देवे ॥ १३३ ॥ सूकर के मर जाने पर घी भर कर घड़ा और तीतर मरजाने में चार आढक तिल और तोते के मर जाने पर दो वर्ष का बछड़ा और क्रौञ्च पक्षी को मार कर तीन वर्ष का ( वत्स देवे ) ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च । वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥१३५॥ वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्चनीलान्वृषान्गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥१३६॥

अर्थ–हंस, बलाका, बक, मोर, वानर, श्येन और भास; इन को मारकर ब्राह्मण को गाय देवे ॥ १३५ ॥ अश्व को मारकर वस्त्र देवे और गज को मार कर पांच नील बैल; बकरे, और मैंढे को मार कर बैल देवे और गधे को मारकर एक वर्ष का ( वत्स ) देवे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्। अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् १३७ जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये। चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः॥१३८॥

अर्थ-क्रव्याद व्याघ्रादि को मार कर दूध वाली गौ और हरिणादि को मारकर बछिया और ऊंट को मारकर १ कृष्णल मात्र ( सोना ) देवे ॥१३७॥ चारों वर्णों की क्रम से बिगड़ी हुई स्त्रियों के विना जाने मर जाने पर शुद्धि के लिये चर्मपुट, धनुष्, बकरा और मेष पृथक् २ देवे ॥

( १३८ वें से आगे यह श्लोक ५ पुस्तकों में अधिक मिलता है:-

[ वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।

अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ]

(क्रम से तीनों वर्णों में से किसी स्त्री को भूल से मारने वाला शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे ) ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥१३९॥ अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे । पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥ १४० ॥

अर्थ-सर्पादि के वध के प्रायश्चित्तार्थ दान करने को असमर्थ द्विज पाप दूर करने को एक एक कृच्छ्र व्रत करे ॥ १३९ ॥ अस्थि वाले सहस्र क्षुद्रजीवों के वध में शूद्रवध का प्रायश्चित्त करे और अस्थिरहित जीवों के एक गाड़ी भर के वध में भी ( उसी प्रायश्चित्त को करे ) ॥ १४० ॥

किंचिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे। अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥ फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्। गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥१४२॥

अर्थ-अस्थि वाले क्षुद्रजन्तुओं के वध में ब्राह्मण को कुछ देदेवे और अस्थिरहित क्षुद्रजन्तुओं के वध में प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ १४१ ॥ फल देने वाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों के काटने में सौ ( सावित्र्यादि ) ऋचाओं को जपे ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः। फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने। वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥१४४॥

अर्थ—अन्नादि और गुड़ादि रसों और फलपुष्पादि में उत्पन्न हुवे जीवों के वध में "घृत का प्राशन" पापशोधन है ॥ १४३ ॥ खेती से उत्पन्न हुवे और वन में स्वयं उत्पन्न हुवे धान्यों के वृथा छेदन में दुग्ध का आहार करता हुवा एक दिन गौ के पीछे चले ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्। ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणु तानाद्यभक्षणे॥१४५॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति। मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अर्थ—इन प्रायश्चित्तों को करके हिंसाजनित पाप, जो कि जाने वा बिना जाने किया हो उसको दूर करना चाहिये। अब आगे अभक्ष्यभक्षण के प्रायश्चित्त सुनो ॥ १४५ ॥ अज्ञान से वारुणी मदिरा पीकर संस्कार से ही शुद्ध होता है और इच्छापूर्वक पीने से प्राणान्तिकवध अनिर्देश्य है। यह मर्यादा है ॥ १४६ ॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा। पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च। शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम्॥१४८

अर्थ—मद्य की बोतल में रक्खा पानी तथा मद्य के करवे के पानी को पीने वाला शङ्खपुष्पी को पानी में औटाकर पांच दिन पीवे ॥ १४७ ॥ मदिरा को स्पर्श करके वा देकर तथा ग्रहण करके और शूद्र के उच्छिष्ट पानी को पी कर तीन दिन विधिपूर्वक कुशों का काढ़ा पीवे ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः। प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति१४९ अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

अर्थ—सोमयज्ञ किया हुवा ब्राह्मण मद्य पीने वाले को सूंघ कर पानी में तीन वार प्राणायाम कर घृत का प्राशन करके शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥ विना

जाने मल मूत्र और सुरा से स्पर्श हुवे को प्राशन करके तीनों द्विजवर्ण फिर से संस्कार के योग्य हैं ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्याव्रतानि च। निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥१५१॥ अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च। जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥१५२॥

अर्थ—द्विजातियों के फिर से उपनयन होने में मुण्डन, मेखला का धारण, दण्डधारण, भिक्षा और व्रत ( ये सब ) नहीं होते हैं ॥१५१॥ जिन का भोजन करने के योग्य नहीं, उन का अन्न और स्त्री का तथा शूद्र का उच्छिष्ट और मांस और अन्य अभक्ष्य खालेवे तौ सात दिन जौ के सत्तू पीवे ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः। तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः। प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् १५४

अर्थ—सिरका आदि खट्टी ग्राह्य वस्तु भी और काढ़ा पीकर तब तक द्विज अशुद्ध रहता है जब तक वह पच कर नीचे नहीं जाता ॥ १५३ ॥ ग्राम का शूकर, खर, उष्ट्र, शृगाल, वानर और काक के मूत्र वा मल को द्विजाति भक्षण करले तौ चान्द्रायण व्रत करे ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥
"क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥१५६॥"

अर्थ—सूखे मांस और पृथिवी में उत्पन्न हुवे कुकुरमुत्ता और बेजाने हिंसा स्थान के मांस को भक्षण करले तौ भी यही ( चान्द्रायणव्रत ) करे ॥१५५॥ "कच्चे मांस के खाने वाले और शूकर, उष्ट्र, मुरग़ा, नर और काक को भक्षण करले तौ ( आगे कहे हुवे ) तप्तकृच्छ्रव्रत को करे। यह शोधन है" ॥ १५६ ॥

"मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्त्तको द्विजः। स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥१५७॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधुमांसं कथञ्चन। स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥१५८॥"

अर्थ–"जो द्विज ब्रह्मचारी मासिक श्राद्ध के अन्न को भोजन करे, वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन जल में निवास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी मद्य मांस को किसी प्रकार भक्षण करे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत करके व्रत शेष को समाप्त करे" ॥

( १५७ । १५८ श्लोक भी मृतकश्राद्ध और मांस के प्रचारकों ने मिलाये जान पड़ते हैं । भला जब श्राद्ध को वैदिककर्म बताते हैं तो उस में भोजन करने वाले को प्रायश्चित्ती क्यों बतलाते हैं । यह विरोध । और मांस सभी को अभक्ष्य है तो ब्रह्मचारी को मद्य मांस के सेवन में प्राकृत कृच्छ्रमात्र अल्प प्रायश्चित्त क्यों ? ) ॥ १५८ ॥

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वाश्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥१५९॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता। अज्ञानभुक्तंतूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशुशोधनैः १६०

अर्थ–बिल्ली, काक, मूसा, कुत्ता और नेवला के उच्छिष्ट और केश तथा कीट से युक्त अन्न को भोजन करके ब्रह्मसुवर्चला का काढ़ा पीवे (दो पुस्तकों में "ब्राह्मीं सुवर्चलाम्" पाठ है ) ॥१५९॥ अपने को पवित्र रहने की इच्छा करने वाला भोजन के अयोग्य अन्न का भोजन न करे और विना जाने खाये को वमन करके निकाले वा शोधन द्रव्यों से शीघ्र शोधन करे ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः१६१ धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वाकामाद्द्विजोत्तमः। स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देनविशुद्ध्यति १६२

अर्थ–अभक्ष्यभक्षण में जो प्रायश्चित्त हैं, उन के ये नाना प्रकार के विधान कहे । अब चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों का विधान सुनिये ॥१६१॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों ही के घर से धान्य; अन्न और धन की चोरी इच्छा से करके एक वर्ष कृच्छ्रव्रत करने से शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम्१६३ द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वा ऽन्यवेश्मतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥१६४॥

अर्थ-पुरुष, स्त्री, क्षेत्र, गृह, कुवा, बावड़ी और पानी के हरण करने में चान्द्रायणव्रत कहा है ॥१६३॥ दूसरे के घर से (खीरा, ककड़ी, मूली इत्यादि) तुच्छ वस्तुओं की चोरी करके अपनी शुद्धि के लिये वह वस्तु जिस की है उस को देकर ( आगे कहा ) सान्तपन कृच्छ्रव्रत करे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥ तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च। चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम्॥१६६॥

अर्थ-( मोदक खीर आदि ) भक्ष्य भोज्य पदार्थों और सवारी, शय्या, आसन तथा पुष्प, मूल और फल के चुराने में पञ्चगव्य का पान करना (और वस्तु जिस की उसी को दे देना ) शोधन है ॥ १६५ ॥ घास, लकड़ी, वृक्ष, शुष्कान्न, गुड़, कपड़ा, चमड़ा और मांस के चुराने में तीन रात्रिदिन उपवास करे ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता॥१६७॥कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च। पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसी और उपल (पत्थर) के चुराने में १२ दिन चावल की खुद्दी का भोजन करे॥१६७॥ कपास, रेशम, ऊन और बैलआदि दो खुर वाले, घोड़ा आदि एक खुर वाले, पक्षी, चन्दनादि गन्ध और औषध तथा रस्सी के चुराने में तीन दिन पानी पीकर रहे ॥१६८॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१६९॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

अर्थ-द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और जो गमन करने के अयोग्य है उस के साथ गमन के पाप को इन आगे कहे व्रतों से दूर करे ॥१६९॥ अपनी सगी बहन तथा मित्र की भार्या और पुत्र की स्त्री तथा कुमारी और चण्डाली के साथ गमन करने से गुरुस्त्रीगमन का प्रायश्चित्त करे॥१७०॥

पैतृष्वसेयींभगिनीं स्वस्रीयां मातुरेवच। मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥१७१॥एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तुबुद्धिमान्।ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताःपतति ह्युपयन्नधः १७२

अर्थ—पिता की बहन की लड़की तथा माता की बहन की लड़की और माता के भाई की बेटी ( इन ३ बहनों ) के साथ गमन करने से चान्द्रायण व्रत करे॥१७१॥ इन तीनों को बुद्धिमान् भार्या के अर्थ न ग्रहण करे। ज्ञाति होने से ये विवाह करने के अयोग्य हैं, इन के साथ विवाह करने वाला नीचता को प्राप्त हो जाता है॥ १७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥
"मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥

अर्थ—अमानुषी योनियों और रजस्वला और जल में वीर्य को स्खलित करके पुरुष सान्तपन कृच्छ्रव्रत करे॥१७३॥ "द्विज-पुरुष में वा स्त्री में मैथुन करके तथा बैल की गाड़ी में या पानी में वा दिन में मैथुन करके सचैल स्नान करे॥" (१७४ वां श्लोक प्रक्षिप्त है। क्योंकि इस में कोई प्रायश्चित्त विशेष नहीं कहा "स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्" यह तो विहित मैथुन में भी स्नान का विधान है। फिर भला ऐसे बड़े अप्राकृत पापकर्म में इतना अल्प स्नान और वस्त्र धोलेना मात्र भी कोई प्रायश्चित्त गिना जा सकता है?) ॥१७४॥

चण्डालान्त्यस्त्रियोगत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च। पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति॥१७५॥विप्रदुष्टांस्त्रियं भर्त्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि।यत्पुंसःपरदारेषु तच्चैनांचारयेद्व्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—चण्डाल और नीच की स्त्रियों से गमन और इन के यहां भोजन करके तथा प्रतिग्रह लेकर विना जाने विप्र पतित हो जाता और जान कर करने से उन्हीं में मिल जाता है॥१७५॥ दुष्टा स्त्री को भर्ता एक घर में बन्द रक्खे और जो पुरुष को पराई स्त्री के गमन करने में प्रायश्चित्त कहा है वह उस ( स्त्री ) से करावे॥ १७६॥

सा चेत्पुनःप्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

अर्थ-यदि अपने सजातीय पुरुष की बहकाई हुई फिर बिगड़ जावे, तो इस का पवित्र करने वाला कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत कहा है ॥

( १७७ यें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक हैः-

[ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेऽपसंगताः ।

अप्रजाताविशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ]

द्विजों की जो स्त्रियें शूद्र से सङ्ग करें, वे सन्तान उत्पन्न न करें तब तो (उक्त, प्रायश्चित्त से शुद्ध हों, परन्तु सन्तान उत्पन्न कर लेने वाली नहीं) ॥१७७

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः ।

तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७८॥

अर्थ-वेश्या वा शूद्रागमन में एक रात्रि में द्विज जो पाप करता है, उस ( पाप ) को नित्य भिक्षा मांग कर भोजन और गायत्री का जप करने से तीन वर्ष में दूर कर पाता है ॥ १७८ ॥

एषापापकृतामुक्ताचतुर्णामपिनिष्कृतिः।पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥१८०॥

अर्थ-यह पाप करने वाले चारों वर्णों की निष्कृति (प्रायश्चित्त) कही। अब इन पतितों के साथ मिलने वालोंके प्रायश्चित्तों को सुनिये-॥१७९॥एक वर्ष तक पतित के साथ मिल कर यज्ञ कराने, पढ़ाने और योनिसंबन्ध करने से पतित हो जाता है,परन्तु सहयान, सह-आसन और सहभोजन से नहीं ॥१८०॥

योयेन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

"पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।

निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥१८२॥"

अर्थ-जो मनुष्य इन पाप करने वालों में से जिन के संसर्ग को पाकर पतित होता है, वह उस के संसर्ग की शुद्धि के लिये वही व्रत करे ॥ १८१ ॥

"सपिण्ड बान्धव लोग ग्राम के बाहर जीते हुवे ही पतित की उदकक्रिया निन्दित दिनके सायंकाल में ज्ञाति वाले ऋत्विज् और गुरु के सामने करें ॥१८२॥"

"दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा। अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥१८३॥ निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने। दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥"

" अर्थ—और दासी जल भरे घड़े को प्रेतवत् ( दक्षिणाभिमुख होकर ) पैर से गिरावे और बान्धवों के साथ एक दिन रात अशौच रक्खें ॥ १८३ ॥ और उस पतित से बोलना, साथ बैठना और दायभाग देना और नीता" खौत सब छोड़ देवें ॥ १८४ ॥"

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम्। ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः॥१८५॥ प्रायश्चित्ते तु चरितेपूर्णकुम्भमपां नवम्। तेनैव सार्धंप्रास्येयुःस्नात्वा पुण्ये जलाशये१८६

"अर्थ—और बड़ाई और ज्येष्ठपने का उद्धार धन भी छूट जावे तथा बड़े का भाग, जो छोटा गुण में अधिक हो, वह पावे ॥ १८५॥ परन्तु प्रायश्चित्त करने पर पानी में भरे हुवे नये घड़े को उस के साथ बान्धव लोग पवित्र जलाशय में स्नान करके डाल देवें ॥ १८६ ॥

"स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम्। सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥ एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि। वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके॥१८८॥"

अर्थ—और वह उस घड़े को पानी में फेंक कर अपने मकान में आकर यथोक्त सम्पूर्ण ज्ञातिकर्मों को करने लगे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियों के विषय में भी यहीविधि करे और खाना कपड़ा देवे तथा घर के पास दूसरे मकान में रहने दे" (१८२ से १८८) तक ७ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्यों कि प्रथम तो मृतकश्राद्ध ही वैदिक नहीं। फिर पतित का जीवते हुवे ही मृतकवत् श्राद्ध आशौचादि सब व्यर्थ हैं। पतित के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध छोड़ देना पूर्व कह ही आये। इस के दायभाग का निषेध दायभाग प्रकरण में कर आये। यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है। आशौच और दायभाग का वर्णन यहां प्रकरण विरुद्ध भी है ) ॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत्। कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः। शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

अर्थ-विना प्रायश्चित्त किये हुवे पाप करने वालों के साथ कुछ भी व्यवहार न करे और प्रायश्चित्त किये हुवों की कभी निन्दा न करे ॥१८९॥ परन्तु बालक को मारने वाले और किये उपकार को दूर करने वाले तथा शरण आये को और स्त्री को मारने वाले के साथ धर्म से शुद्ध होने पर भी न रहे॥१९०॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि। तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्॥१९१॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः। ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत्॥१९२॥

अर्थ-जिन द्विजातियों का उक्तकाल में यथाशास्त्र गायत्री उपदेश और उपनयन न किया गया हो उन का तीन कृच्छ्रव्रत कराकर यथाशास्त्र उपनयन करे ॥१९१॥ विरुद्ध कर्म करने वाले और वेद को न पढ़े हुवे द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें तो उन को भी यह तीन कृच्छ्र का प्रायश्चित्त बतावे ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्। तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जपेन तपसैव च॥१९३॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः। मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात्॥१९४॥

अर्थ-जो ब्राह्मण निन्दितकर्म करके धन कमाते हैं वे उसके छोड़ने और जप तप से शुद्ध होते हैं ॥ १९३ ॥ एकाग्रचित्त हुवा तीन सहस्र गायत्री का जप कर गोष्ठ में एक महीने भर दुग्धाहार करके बुरे दान लेने के पाप से छूटता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम्। प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम्॥१९५॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्। गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९६॥

अर्थ-उस उपवास से कृश हुवे और गोष्ठ से आये तथा नम्र हुवे को (ब्राह्मण) पूछें कि सौम्य! क्या तू हम लोगों के बराबर होना चाहता है? ॥१९५॥ ब्राह्मणों के आगे ठीक२ कह कर गायों को घास देवे। गायों के पवित्र

किये तीर्थ में वे ( ब्राह्मण ) उस का समान व्यवहार आरम्भ करें ॥ १९६ ॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च। अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः। संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥१९८॥

अर्थ-(पूर्वोक्त ) व्रात्यों को यज्ञ कराने और दूसरों की अन्त्येष्टि कराने तथा अहीन अभिचार कराने पर ३ कृच्छ्रों से शुद्ध होता है ॥१९७॥ शरण आये को परित्याग करके और पढ़ाने के अयोग्य को वेद पढ़ा कर उस से उत्पन्न हुवे पाप को एक वर्ष तक जौ का आहार करने वाला दूर करता है ॥ १९८ ॥

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥

अर्थ-कुत्ता, सियार, खर, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट, सूकर वा अन्य ग्रामवासी मांसाहारियों से काटा हुवा मनुष्य प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥

( १९९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ शुना घ्रातोपलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य।
अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम् ] ॥

अर्थात् जो वस्तु कुत्ते ने सूंघी चाटी वा दांतों से चाबी हो, उस का पानी से धोना और अग्नि से पकाना कहा है ) ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥२००॥

अर्थ-पङ्क्तिरहितों का विशेष करके शोधन यह कहा है कि तीन दिन उपवास करके एक मास तक सायङ्काल में भोजन करना और वेदसंहिता का पाठ और संपूर्ण होमों को करना ( आठ पुस्तकों में-सकला=शाकला पाठ भेद है ) ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः। स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥२०१॥ विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च। सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति ॥२०२॥

अर्थ-ऊंट तथा गधे की सवारी पर इच्छा से चढ़ कर ब्राह्मण नग्न हो, स्नान करके प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥ विना जल से या जल में ही मलमूत्रादि करके चाहे रोगी भी हो, वस्त्र के सहित नगर के बाहर ( नदी में ) स्नान करके और पृथिवी को छूकर शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०३॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

अर्थ-वेद में कहे हुवे नित्यकर्म के छूटने और स्नातक ब्रह्मचारी के व्रत लोप में भोजन न करना प्रायश्चित्त कहा है ॥२०३॥ ब्राह्मण को " हुम् " ऐसा कह कर और विद्यादि में बड़े को " तू " ऐसा कह कर स्नान करके भूखा रह, दिन भर हाथ जोड़ कर अभिवादन से प्रसन्न करे ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥
"अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥२०६॥

अर्थ-तृण से भी (ब्राह्मण) को मार कर वा गले में कपड़ा डाल कर तथा बकवाद में जीते तौ हाथ जोड़ उसे प्रसन्न करे ॥ २०५ ॥ "ब्राह्मण को मारने की इच्छापूर्वक दण्ड उठाने से सौ वर्ष तक नरक को प्राप्त होता है और यदि दण्ड से मारे तौ १००० वर्ष तक नरक में रहता है ॥ २०६ ॥

" शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके वसेत् ॥२०७॥"

"अर्थ-( मारे हुवे ब्राह्मण का ) रुधिर भूमि के जितने रजः कणों को भिगोता है उतने हज़ार वर्ष रुधिर निकालने वाला नरक में वास करता है ॥" ( २०६ । २०७ भी प्रकरणविरुद्ध और अत्युक्त तथा पुनरुक्त भी हैं । यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है, सो २०८ वें में ब्राह्मण को दण्डा उठाने, मारने और रुधिर निकालने के प्रायश्चित्त कहे ही हैं, । फिर पूर्ववर्णित नरकादि गति की यहां दुबारा वर्णन करने की आवश्यकता कुछ भी नहीं है ) ॥ २०७ ॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥२०८॥

अर्थ—ब्राह्मण को मारने के लिये दण्डा उठाने से कृच्छ्र प्रायश्चित्त करे और दण्डा मारने से ( आगे कहा ) अतिकृच्छ्र और रुधिर निकल आवे तो दोनों प्रायश्चित्त करे ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये । शक्तिंचावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्२०९यैरभ्युपायैरेनांसि मानवोऽयपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥

अर्थ—जिनपापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उन पापों के दूर करने को शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की कल्पना करलेवे ॥ २०९ ॥ जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर करता है, उन देव, ऋषि, पितरों के किये हुवे उपायों को तुम से कहता हूं ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः॥२११॥गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥२१२॥

अर्थ—प्राजापत्य कृच्छ्र के आचरण करने वाला द्विज तीन दिन प्रातःकाल और तीन दिन सायंकाल भोजन करे और तीन दिन अयाचित अन्न का भोजन करे तथा परले तीन दिन उपवास करे, ( यह बारह दिन का एक "प्राजापत्य" व्रत होता है ॥२११॥ गोमूत्र, गोवर, दुग्ध, दधि, घृत और कुशा के पानी का एक दिन भक्षण करे और इस के पश्चात् एक दिन रात्रि का उपवास करे । इस को "सान्तपन कृच्छ्र" कहा है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् । त्र्यहंचोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः॥२१३॥तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥२१४॥

अर्थ—( कृच्छ्रवत् ) "अतिकृच्छ्र" आचरण करने वाला ३ सायं,३ प्रातः, ३ अयाचित; इन ९ दिन में एक एक ग्रास भोजन करे और अन्त के ३ दिन

उपवास करे ॥२१३॥ "तप्तकृच्छ्र" का आचरण करने वाला द्विज, स्थिरचित्त हुवा एक वार स्नान करके तीन दिन उष्ण जल पीवे और तीन दिन उष्ण दूध, इसी प्रकार तीन दिन उष्ण घृत और ३ दिन उष्ण वायु पीवे॥ २१४॥

( २१४ से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[ अपां पिबेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः।
पयः पिबेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः ]

जल ३ पल, घृत १ पल, दूध ३ पल; उक्त प्रमाण से ३ मात्रा [ उस २ दिन में उस २ वस्तु की ] पिया करे )॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्। पराकोनामकृच्छ्रोयं सर्वपापापनोदनः॥२१५॥ एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥२१६॥

अर्थ—स्वस्थ और स्वाधीन चित्त वाले का बारह दिन भोजन न करना "पराक" नाम कृच्छ्र, सब पाप दूर करता है॥ २१५॥ तीन काल स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में एक एक पिण्ड=ग्रास को घटावे और शुक्लपक्ष में एक एक बढ़ावे। इस व्रत को "चान्द्रायण" कहा है॥ २१६॥

एतमेवविधिंकृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतश्चरं-श्चान्द्रायणव्रतम्॥२१७॥अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते। नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन्॥२१८॥

अर्थ—इसी पिण्ड=ग्रास के घटाने बढ़ाने और त्रिकालस्नानात्मक "*यवमध्याख्य चान्द्रायण" को शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके जितेन्द्रिय होकर करे॥२१७॥ जितेन्द्रिय, हविष्य अन्न का भोजन करने वाला "यतिचान्द्रायण" व्रत का आचरण करता हुवा मध्याह्न में आठ २ पिण्ड=ग्रास भोजन करे॥ २१८॥

चतुरःप्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रःसमाहितः। चतुरोऽस्तमितेसूर्ये

*यवमध्याख्य=जिस चान्द्रायण में जैसे "यव" बीच में मोटा और किनारों पर पतला होता है, तद्वत शुक्लपक्ष में आरम्भ करने के कारण ग्रास वृद्धि करके फिर कृष्णपक्ष में ग्रास घटने से बिच के ग्रासों का भोजन यव-मध्य के समान मोटा हो जाता है॥

शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१९॥ यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रो ऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम्

अर्थ–विप्र प्रातःकाल चार ग्रास और चार सायङ्काल में भक्षण करे। इस को "शिशुचान्द्रायण" कहते हैं ॥२१९॥ स्वस्थ हुवा जैसे बने वैसे हविष्य अन्न के १ महीने में तीन अस्सी ३×८०=२४० दो सौ चालीस ग्रास भोजन करने वाला चन्द्रलोक को प्राप्त होता है ॥ २२० ॥

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम्। सर्वाऽकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥ महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम्। अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२२॥

अर्थ–इस "चान्द्रायण" व्रत को रुद्र आदित्य वसु मरुत् इन संज्ञा वाले विद्वानों ने महर्षियों के साथ सम्पूर्ण पाप के नाशार्थ किया है (२२० । २२१ भी अनावश्यक और अत्युक्त तथा भिन्न शैली के जान पड़ते हैं) ॥ २२१ ॥ (व्रती) आप नित्य महाव्याहृतियों से होम करे तथा अहिंसा सत्य अक्रोध और सरलता का आचरण करे ॥ २२२ ॥

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत्। स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥२२३॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा। ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२४॥

अर्थ–दिन में ३ वार और रात्रि में ३ वार सचैल गोता लगाकर स्नान करे तथा स्त्री, शूद्र और पतितों के साथ कभी न बोले॥२२३॥ स्थान और आसन पर उठा बैठा करे और यदि अशक्त होवे तो भूमि पर नीचे सोवे। व्रती ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला तथा गुरु देव द्विज का पूजन करने वाला हो ॥२२४॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः। सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥२२५॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः। अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

अर्थ–यथाशक्ति नित्य गायत्री और अन्य पवित्र मन्त्रों को जपे, सम्पूर्ण व्रतों में इसी प्रकार प्रायश्चित्त के लिये श्रद्धा से अनुष्ठान करे ॥ २२५ ॥ लोक

विदित पाप वाले द्विजाति इन व्रतों से शोधने योग्य हैं और गुप्तपाप वालों को मन्त्रों और होमों से शुद्ध करे ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥२२७॥ यथायथानरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥

अर्थ—पाप करने वाला पाप के प्रकाश करने और पश्चात्ताप करने तथा तप और अध्ययन करने से और यदि इन में असमर्थ हो तौ दान करने से पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥ मनुष्य जैसे जैसे अधर्म करके उसे कहता है, वैसे वैसे उस अधर्म से छूटता है । जैसे सांप कांचली से ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥२२९॥ कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात् प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥

अर्थ—जैसे जैसे उस का मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है, वैसे वैसे वह शरीर उस अधर्म से छूटता है ॥ २२९ ॥ पाप करने के पश्चात् सन्तापयुक्त होने से उस पाप से बचता है और " फिर ऐसा न करूं " इस प्रकार कह कर निवृत्त होने से वह पवित्र होता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसाप्रेत्यकर्मफलोदयम् । मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥२३१॥ अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वाकर्म विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् २३२

अर्थ—इस प्रकार मरने पर परलोक में कर्म के फलोदय को विचार कर मन वाणी शरीर से नित्य शुभ कर्म करे ॥ २३१ ॥ समझे वा विना समझे अशुभ कर्म करके उस से छूटने की इच्छा करने वाला फिर उस को दूसरी वार न करे ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् । तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥२३३॥ तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् । तपोमध्यं बुधैःप्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

अर्थ-इस ( पाप करने वाले ) के मन का जिस कर्म के करने में भारीपन हो उस में इतना प्रायश्चित्त करे जितने से इस को तुष्टि करने वाला हो जावे ॥ २३३ ॥ इस सब देव मनुष्यों के सुख का आदि, मध्य और अन्त वेद के जानने वाले पण्डितों ने तप को ही कहा है ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपोवार्ता तपःशूद्रस्य सेवनम् ॥२३५॥ ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण का वेदशास्त्र जानना, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का व्यापार करना और शूद्र का सेवा करना तप है ॥२३५॥ इन्द्रियों को जीतने वाले और कन्द मूल फल के भोजन करने वाले ऋषि संपूर्ण तीनों लोकों के चर तथा अचर को तप ही से देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदोविद्या दैवी च विविधा स्थितिः । तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३७॥ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥२३८॥

अर्थ-औषध, आरोग्य, विद्या और नाना प्रकार की देवतों की स्थिति सब तप ही से प्राप्त होते हैं क्योंकि उन का साधन तप ही है ॥२३७॥ जो दुस्तर है और दुःख से पाने योग्य है, जहां दुःख से जाया जाता है और जो दुःख से किया जाता है, वह सब तप से सधने योग्य है क्योंकि तप दुर्लङ्घ्य है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाऽकार्यकारिणः । तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥२३९॥ कीटाश्चाऽहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च। स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् २४०

अर्थ-महापातकी और शेष उपपातक वाले, उक्त प्रकार से तप ही के अनुष्ठान करने से उस पाप से छूटते हैं ॥ २३९ ॥ कीड़े, सांप, पतङ्ग, पशु, पक्षी और वृक्ष लता इत्यादि सब तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं (जड़ पदार्थों का तप और स्वर्गति चिन्त्य है ) ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनःकुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः । तत्सर्वं निर्दह-

न्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥२४१॥तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः। इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२।

अर्थ—मनुष्य, मन, वाणी, काय से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब को तप करने वाले तप से ही जलाते हैं॥ २४१॥ तप करने से शुद्ध हुवे ब्राह्मण के यज्ञ में देवता आहुति को ग्रहण करते और उन के मनोवाञ्छित फलों की वृद्धि करते हैं॥ २४२॥

"प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥ २४३॥"

"अर्थ—प्रजापति ने तप ही से इस शास्त्र को बनाया। उसी प्रकार ऋषियों ने तप ही से वेदों को पाया"॥

(२४३ वां श्लोक तो स्पष्ट ही मनु से भिन्न पुरुष का वचन है। परन्तु इसी से यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् यह तप का सब ही व्याख्यान अन्यकृत हो। क्योंकि मनु की शैली यह नहीं देखी जाती कि वह एक बात का इतना बड़ा गीत बढ़ावें। जो हो, परन्तु नन्दन टीकाकार ने "शास्त्रं=सर्वम्" माना है। तदनुसार तो यह श्लोक मनुप्रोक्त ही है। परन्तु नन्दन ने भी लिखा है कि (इदं शास्त्रमिति च पठन्ति) इस से जान पड़ता है कि नन्दन के समय में भी "शास्त्रम्" पाठ चल गया था)॥ २४३॥

इत्येतत्तपसोदेवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम्॥ २४४॥

अर्थ—इस सम्पूर्ण तप के उत्तम पुण्य को इस प्रकार देखते हुवे देवता लोग यह तप का माहात्म्य कहते हैं॥

(२४४ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है और इस पर रामचन्द्र ने टीका भी की है:—

[ब्रह्मचर्यं जपोहोम काले शुद्धाल्पभोजनम्।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयंभुवा]॥

ब्रह्मचर्य, जप, होम, समय पर शुद्ध थोड़ा भोजन, राग द्वेष लोभों का त्यागना, यह ब्रह्मा ने तप कहा है)॥ २४४॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा। नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥२४५॥ यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तंनिर्दहति क्षणात्। तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्॥२४६॥

अर्थ–प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का अध्ययन और पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना तथा अपराध को सहन करना; ये महापातकों के भी (कुसंस्काररूप) पापों का शीघ्र नाश करते हैं॥ २४५॥ जैसे अग्नि तेज से पाप के इन्धन को क्षण में सर्वथा जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण (कुसंस्काररूपी) पापों को जला देता है॥ २४६॥

"इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि। अतऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत॥२४७॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश। अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः॥ २४८॥"

"अर्थ–इस प्रकार ये पापों के प्रायश्चित्त यथाविधि कहे। अब अप्रकाश (छुपे) पापों का प्रायश्चित्त सुनो॥२४७॥ प्रणव और व्याहृति के साथ प्रतिदिन किये हुवे सोलह प्राणायाम महीने भर में भ्रूणहत्या वाले को भी पवित्र कर देते हैं"। (२४७ से २५१ तक ५ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि २४७ वें में जो कहा है कि यह प्रत्यक्ष पापों का प्रायश्चित्त कहा। अब छुपों का प्रायश्चित्त सुनो। प्रथम तो प्रायश्चित्त छिपाने पर होता नहीं। प्रत्युत छिपाना भी एक और पाप है और पूर्व कह आये हैं कि पाप का स्वीकार करके प्रकट करना भी एक प्रकार से प्रायश्चित्ताङ्ग है। दूसरे यह प्रतिज्ञावाक्य सब पुस्तकों में पुराने समय में न था क्योंकि कुल्लूक टीकाकार कहते हैं कि "यह श्लोक गोविन्दराम टीकाकार ने नहीं लिखा परन्तु मेधातिथि ने लिखा है" तथा राघवानन्द टीकाकार ने इस का पूर्वार्ध इस प्रकार लिखा है कि "इत्येषोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य वोविधिः" यदि यह पाठ ठीक मानें तो प्रायश्चित्तों की समाप्ति यहीं हो जानी चाहिये तथा छिपे पाप का गुरुतर=बड़ा भारी प्रायश्चित्त होना चाहिये। यहां २५१ में तो गुरुस्त्रीगमन के शरीरत्यागरूप प्रायश्चित्त के स्थान में कुछ ऋचाओं, मन्त्रों और सूक्तों का पाठमात्र ही विधान किया है। इत्यादि हेतुओं से यह २५१ तक कल्पना प्रतीत होती है)॥ २४८॥

"कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम्। माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति॥२४९॥ सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसङ्कल्पमेव च। अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः॥२५०॥"

"अर्थ-कुत्स ऋषि वाला "अप नः शोशुचदघम्" ८ ऋचा ऋग्वेदस्थ १। ९७ सूक्त और वसिष्ठ ऋषि वाली "प्रतिस्तोमेभिरुपसं वसिष्ठ०" इत्यादि ७। ८०। १ ऋचा "महित्रीणामवोस्तु०" इत्यादि १०। १८५। १ और 'एतुन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन०" इत्यादि ८। ९५। ७ शुद्धवती ऋचाओं का जप करके सुरापान करने वाला भी शुद्ध हो जाता है (दो पुस्तकों में-माहित्रं=माहेन्द्रम् पाठ है)॥२४९॥ सोना चुराकर एक बार प्रतिदिन "अस्य वामीयं=जिसमें 'अस्यवाम०, शब्द है (मतौ छः सूक्तसाम्नोः। अ०१० ५। २। ५९) उस "अस्य वामस्य पलितस्य होतुः० इत्यादि १। १६४। १-५२ ऋचा के सूक्त को पढ़ कर वा "शिवसङ्कल्प०" (यजुः ३४। १-६ इस सूक्त को पढ़ कर क्षण भर में निर्मल हो जाता है॥ २५०॥

"हविष्यन्तीयमभ्यस्य न तमंहइतीति च।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः॥ २५१॥"
एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा॥ २५२॥

"अर्थ- हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि० ऋ०१०। ८८ इस ११ ऋचा के सूक्त को और "न तमंहोन दुरितम् ० २। २३। ५ अथवा १०। १२६। १ और "इति वा इति मे मनः" १०। ११९। १ इस को तथा "सहस्रशीर्षा०,, इत्यादि १० ९०। १-१६ ऋचाओं के सूक्त को पढ़ कर गुरुस्त्रीगमन का पाप छूट जाता है॥२५१॥ छोटे बड़े पापों का प्रायश्चित्त करने की इच्छावाला मनुष्य "अव ते हेळ्ठ वरुण नमोभिः" इत्यादि १। २४। १४ ऋचा को अथवा "यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने०" इत्यादि ७। ८९। ५ ऋचा को एक वर्ष तक जपे॥ २५२॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यंभुक्त्वाचान्नंविगर्हितम्।जपंस्तरत्समन्दीयं पूयतेमानवस्त्र्यहात्॥२५३॥ सौमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति। स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम्॥२५४॥

अर्थ – प्रतिग्रह के अयोग्य का प्रतिग्रह लेकर और निन्दित अन्न भोजन करके "तरत्स मन्दी धावति" यह जिन में आता है उन पवमान देवता की ऋ० ९। ५८। १-४ ऋचाओं को तीन दिन पढ़ने से मनुष्य पवित्र होता है ॥२५३॥ "सोमारुद्रा धारये थाः० ऋ० ६। ७४। १-४ सूक्त और "अर्यम्णामिति–" ["अर्यमणं वरुणं मित्रं०" ऋ० ४। २। ४ ] (ठीक 'अर्यम्णाम्' प्रतीक वाला ३ ऋचा का कोई सूक्त नहीं मिलता) इन ३ ऋचाओं का एक मास अभ्यास करने से नदी में स्नान करता हुवा बहुत पापों वाला शुद्ध हो जाता है ॥२५४॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५५॥ मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः। सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥२५६॥

अर्थ – पापी पुरुष छः मास तक "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि मूतये" ऋ० १। १०६। १–७ इत्यादि ७ ऋचा का जप करे और जिसने जल में कोई न करने का काम किया हो, वह एक मास तक भिक्षा भोजन से निर्वाह करे ॥२५५॥ (३ पुस्तकों में अप्रशस्तम्= अप्रकाशम् पाठ है) "देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि०" यजुः ८। १३ इत्यादि ८ मन्त्र कात्यायन श्रौत सूत्र १०। ८। ६ के अनुसार शाकल होमीय कहाते हैं। इन का पाठ करके हवन करने वाला वा "नमः कपर्दिने०" इत्यादि यजुः १६। २९ (वा "नम आशवे० यजुः १६। ३१ इत्यादि वा "नमो मित्रस्य वरुणस्य०" इत्यादि ऋ० १०। ३७। १ ) ऋचा को जप कर एक वर्ष में बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः। अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५७॥ अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्। मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८

अर्थ – बड़े २ पातकों से युक्त हुवा जितेन्द्रिय होकर गायों को चरावे और पावमानी=पवमान देवता की ( ऋ० ९। १। १ से ९। ११४। ४ तक अर्थात् ९ वें मण्डल की समस्त) ऋचों को एक वर्ष पर्यन्त पढ़ कर भिक्षा-भोजन करे तब शुद्ध होता है ( दो पुस्तकों में महापातक के स्थान में उपपातक पाठ है, वही ठीक भी जान पड़ता है ) ॥२५७॥ पूर्वोक्त तीन पराकों से पवित्र हुवा और बाह्य आभ्यन्तर शौचयुक्त होकर वन में वेदसंहितामात्र को पढ़ कर सम्पूर्ण पातकों से छूट जाता है ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैः सर्वै-स्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५९॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापा-ऽपनोदनः। तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापपनोदनम् ॥ २६० ॥

अर्थ–संयत होकर त्रिरात्र उपवास करे और प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता रहे। जल में खड़ा हुआ–"ऋतं च सत्यं०" ऋ० १०। १९०। १–३ इस अघमर्षण सूक्त को त्रिरावृत्ति पढ़ कर सब पापों से बच जाता है ॥२५९॥ जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ और सब पापों को दूर करने वाला है, वैसे ही सब पापों को दूर करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है ॥ २६० ॥

हत्वालोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः। ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन॥२६१॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः। साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६२॥

अर्थ–इन तीन लोकों को मारकर और जहां तहां के भी अन्न को भोजन करता हुवा ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र कुछ पाप को नहीं प्राप्त होता (यह ऋग्वेदधारण की अत्युक्ति से प्रशंसा मात्र है। यथार्थ नहीं जानपड़ती। असम्भव सी भी है) ॥२६१॥ ऋक्संहिता वा यजुःसंहिता अथवा सामसंहिता की ब्राह्मणोपनिषदादिसहित समाहितचित्त होकर तीन आवृत्ति करने से सब पापों से बच जाता है ॥ २६२ ॥

यथामहाह्रदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टं विनश्यति। तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥ ऋचोयजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च। एषज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो योवेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥

अर्थ–जैसे बड़ी नदी में डाला हुवा ढेला गल जाता है, वैसे सम्पूर्ण पाप त्रिरावृत्ति वेद में डूब जाता है (यह भी वेदों की प्रशंसा है) ॥२६३॥ ऋग्यजुः और साम के नाना प्रकार के मन्त्र, यह त्रिवृद्वेद जानने के योग्य है। जो इस को जानता है, वह वेदवित् है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

—=०:*:०=—

इति मानवे धर्मशास्त्रे ( भृगुप्रोक्तायां संहितायाम् )
एकादशोऽध्यायः
॥ ११ ॥

अर्थ—सब वेदों का जो प्राथमिक तीन अक्षरयुक्त ओंकाररूप वेद है, जिस में तीनों वेद स्थित हैं, वह दूसरा त्रिवृद्वेद ओंकार गुप्त (बीजरूप) है। जो इस के स्वरूपार्थ (परमात्मा) को जानता है, वह वेदवित् है ॥

( तीन प्राचीन पुस्तकों में और राघवानन्द के भाष्य में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है, जिस की आवश्यकता भी है क्योंकि उपसंहार करना उचित भी था, जैसा कि मनु की शैली है। तदनुसार इस श्लोक में पूर्वाध्याय के विषय का उपसंहार और अगले अध्याय के विषय का प्रस्ताव है। अनुमान है कि १२ द्वादशाध्याय के आरम्भ के दो प्रक्षिप्त श्लोकों को बढ़ाने वाले ने यह श्लोक मनुसंहिताको भृगुसंहिता बनाने के लिये निकाल दिया है। वह यह है:—

[ एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः।
निःश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत ]

यह तुम से समस्त प्रायश्चित्त का निर्णय कह दिया। अब ब्राह्मण के इस मोक्षधर्मविधान को सुनो ॥ तथा इसी से आगे दो पुस्तकों में अर्ध श्लोक यह अधिक पाया जाता है:—

[ पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः।

यह ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पग्रन्थों से पृथक् " त्रिवृत् " वेद कहा गया है ) ॥ २६५ ॥

—=:०*०:=—

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
एकादशोऽध्यायः
॥ ११ ॥

ओ३म्

# अथ द्वादशोऽध्यायः

"चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयाऽनघ। कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥१॥ स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः। अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥२॥"

"अर्थ—हे पापरहित! तुमने चारों वर्णों का यह सम्पूर्ण धर्म कहा। अब कर्मों की शुभाऽशुभ परमार्थरूप फलप्राप्ति हम से कहिये (इस प्रकार महर्षि लोगों ने भृगु जी से पूछा) ॥१॥ वह धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु उन महर्षियों से बोले कि इस सम्पूर्ण कर्मयोग के निश्चय को सुनिये" ॥

( स्पष्ट है कि इन १। २ श्लोकों का कर्त्ता न मनु है, न भृगु। किन्तु कोई ग्रन्थ का सम्पादक वा संग्राहक कहता है, जिस ने इस धर्मशास्त्र में भृगु का ऋषियों से संवाद मान रक्खा है ) ॥ २ ॥

शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्। कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः ॥३॥ तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः। दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्त्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न शुभाऽशुभ फल वाले कर्म से मनुष्यों की उत्तम, मध्यम, अधमगति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है ॥३॥ उस देही के उत्तम, मध्यम, अधम और मन, वाणी, शरीर के आश्रित फल के देने वाले तीन प्रकार के १० लक्षणयुक्त कर्म का चलाने वाला मन को जानो। यहां से कर्मफल कहते हुवे क्रमपूर्वक मोक्ष का वर्णन करेंगे ) ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥५॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अन्याय से परद्रव्य लेने की इच्छा और मन से (पराया) बुरा चाहना तथा "परलोक में कुछ नहीं है" ऐसा विश्वास; यह तीन प्रकार का मानस (पाप)

कर्म है ॥ ५ ॥ कठोर और असत्यभाषण तथा सब प्रकार की चुग़ली और असम्बद्ध बकवाद करना; यह चार प्रकार का वाङ्मय (पाप) कर्म है ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥७॥ मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम्। वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥८॥

अर्थ–अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान (दण्डनीय= वध्य के वधादि) से अतिरिक्त हिंसा तथा दूसरे की स्त्री से गमन करना; यह तीन प्रकार का शारीरिक (पाप) कर्म है ॥७॥ मन से किये हुवे शुभ अशुभ कर्मफल का मन ही से, वाणी से किये हुवे का वाणी से और शरीर से किये हुवे का शरीर ही से यह (प्राणी) भोग करता है ॥

(८ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:–

[ त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाऽधर्मपथांस्त्यजेत् ]

३ प्रकार का शारीरिक, ४ प्रकार का वाचिक और ३ तीन प्रकार का मानसिक; यह १० अधर्म के मार्ग त्यागने चाहियें ) ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥९॥

अर्थ–शरीर के कर्मदोषों से मनुष्य वृक्षादि योनि और वाणी के कर्मदोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन के कर्मदोषों से चण्डालादि कुल में उत्पत्ति पाता है ॥ (९ वें श्लोक से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[ शुभैःप्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानवोभवेत्।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते]॥ १ ॥

शुभ कर्मों से देवभाव, शुभाशुभ मिश्रितों से मनुष्यभाव की प्राप्ति और केवल अशुभों से नीच योनियों में जन्म पाता है ॥ एक अन्यपुस्तक सहित ५ पुस्तकों में निम्नलिखित श्लोक और भी मिलता है:–

[ वाग्दण्डोहन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम्।
कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्याद्परिरक्षितः ]॥ २ ॥

विना रक्षा किया हुआ वाग्दण्ड विज्ञान को, मनोदण्ड परमगति को और कर्मदण्ड तीनों लोकों को नष्ट करता है॥ तथा एक अन्य पुस्तक सहित छः पुस्तकों में यह श्लोक और भी पाया जाता है:-

[ वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।
शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामोविधीयते ] ॥ ३ ॥

मौन को वाग्दण्ड, अनशन को मनोदण्ड और प्राणायाम को शारीरिक दण्ड कहते हैं ) ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ-वाणी का दमन (अशुभकर्म से रोकना), तथा मन का दमन और काय का दमन; ये तीनों जिस की बुद्धि में स्थित हैं वह "त्रिदण्डी" कहाता है ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततःसिद्धिं नियच्छति ॥११॥ योऽस्यात्मनःकारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥

अर्थ-मनुष्य सम्पूर्ण जीवों पर इन तीनों प्रकार का दमन करके काम, क्रोधों को रोक कर फिर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ जो इस आत्मा को कर्म में प्रवृत्त कराने वाला है उस को "क्षेत्रज्ञ" कहते हैं और जो कर्म करता है, बुद्धिमान् लोग उस को भूतात्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजःसर्वदेहिनाम्। येन वेदयते सर्वं सुखं दुखं च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण देहियों के साथ होने वाला दूसरा जीवसंज्ञावाला (अन्तःकरण) अन्तरात्मा है, जिस से जन्मों में सम्पूर्ण सुख दुःख जाना जाता है ॥१३॥ वे दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ जो कि पृथिव्यादि पञ्चभूतों से मिले हुवे हैं, ऊंच नीच सब भूतों में स्थित उस ( परमात्मा ) के आश्रय रहते हैं ॥

(१४ वें से आगे एक श्लोक तीन पुस्तकों में मिलता है और वह इसी प्रकरण में गीता में भी आया है। गीता से मनु प्राचीन है। इस लिये कदाचित् मनु से गीता में गया हो। यहां अन्तःकरण शरीर और जीवात्मा का वर्णन किया तो साथ में प्रसङ्गोपयोगी १४ वें श्लोकोक्त "तम्" पदवाच्य परमात्मा के वर्णन की आवश्यकता भी थी। अनुमान है कि यह श्लोक वास्तव में हो, पीछे जाता रहा हो वा अद्वैतियों ने निकाल दिया हो॥

[ उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
योलोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः ]॥

उत्तम पुरुष तो अन्य है जो "परमात्मा" कहाता है और जो तीन लोकों में प्रविष्ट, समर्थ और अविनाशी होने से इन का धारण पोषण करता है॥ और अगले २५ वें में भी उसी का प्रसङ्ग है)॥ १४॥

असंख्यामूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।उच्चावचानिभूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥ पञ्चभ्यएव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्। शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥१६॥

अर्थ-उस (परमात्मा) के शरीरतुल्य पञ्चभूतसमुदाय से असंख्य शरीर निकलते हैं जो कि उत्कृष्ट निकृष्ट प्राणियों को निरन्तर कर्म कराते हैं॥१५॥ दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों का मरकर पञ्चतन्मात्रा से दुःख सहन करने के लिये दूसरा शरीर अवश्य उत्पन्न होता है॥ १६॥

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः। तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥१७॥ सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषय सङ्गजान्। व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ॥१८॥

अर्थ-उस शरीर से यम की दी हुई यातनाओं को यहां भोग कर प्राणी उन्हीं भूतमात्रों में विभाग से फिर छिप जाते हैं॥१७॥ वह प्राणी निषिद्ध विषयों के उपभोगजनित दुःखों को भोग कर पाप को दूर करके बड़े पराक्रम वाले उन्हीं दोनों (महान् और क्षेत्रज्ञ) को प्राप्त होता है॥ १८॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह। याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम्॥१९॥यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः। तैरेव चावृतोभूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥२०॥

अर्थ-वे आलस्यरहित ( महान् और क्षेत्रज्ञ दोनों ) उस प्राणी के पुण्य और पाप को साथ २ देखते हैं। जिन से मिला हुवा इस लोक तथा परलोक में सुख और दुःख को प्राप्त होता है ॥१९॥ वह जीव यदि अधिक धर्म कर्म करता है और अधर्म न्यून, तो उन ही उत्तम पञ्चभूतों से युक्त स्वर्ग में सुख को भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः। तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीःप्राप्नोति यातनाः॥२१॥ यामीस्तायातनाःप्राप्य सजीवो वीतकल्मषः। तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥२२॥

अर्थ-और यदि वह जीव पाप अधिक और पुण्य थोड़ा करे तो उन उत्तम भूतों से त्यक्त हुवा यम की यातनाओं को प्राप्त होता है ॥२१॥ उन यम की यातनाओं को प्राप्त होकर वह जीव ( भोग से ) पापरहित होने पर फिर उन्हीं उत्तम पञ्चभूतों को क्रम से प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा। धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदामनः॥२३॥सत्त्वंरजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्। यैर्व्याप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

अर्थ-इस जीव की धर्म और अधर्म से इन गतियों को अपने मन से ही देख कर सर्वदा मन को धर्म में लगावे ॥२३॥ सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीनों को आत्मा (प्रकृति) के गुण जाने, जिन से व्याप्त हुवा यह "महान्" स्थावर जङ्गमरूप सम्पूर्ण भावों को अशेषता से व्याप कर स्थित है ॥२४॥

योयदैषां गुणोदेहे साकल्येनातिरिच्यते। स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥२५॥ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजःस्मृतम्। एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

अर्थ-जिस शरीर में गुणों में से जो गुण पूरा पूरा जब अधिक होता है, तब वह उस प्राणी को उसी गुण के अधिक लक्षणयुक्त कर देता है ॥ २५ ॥ यथार्थ वस्तु का जानना सत्त्व का लक्षण और उस के विपरीत=न जानना=अज्ञान=तम का और रागद्वेष रज के लक्षण हैं। इन सब प्राणियों का आश्रित शरीर इन सत्त्वादि गुणों की व्याप्ति वाला होता है ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्॥२७॥ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः । तद्रजोऽप्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥२८॥

अर्थ—उन तीनों में से जो कुछ प्रीति से मिला हुवा और शान्त प्रकाश रूप सा आत्मा में जाना जावे उस को सत्त्व जाने ॥२७॥ और जो दुःख से मिला हुवा तथा आत्मा की अप्रीति करे और सर्वदा शरीरियों को विषयों की ओर प्रतिकूल खींचने वाला है, उस को रज जाने ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तंविषयात्मकम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः । अग्र्योमध्योजघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥३०॥

अर्थ—जो मोह से युक्त हो, प्रकट न हो तथा विषय वाला हो और तर्क और बुद्धि द्वारा जानने के योग्य न हो उस को तम समझे ॥२९॥ इन (सत्त्वादि) तीनों गुणों का यथाक्रम उत्तम, मध्यम, अधम जो फलोदय है, उस सम्पूर्ण को आगे कहता हूं ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥३१॥ आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः। विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का मनन, ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं ॥ ३१ ॥ आरम्भ में रुचि होना, फिर अधैर्य; निषिद्ध कर्म को पकड़ना और निरन्तर विषयभोग; यह रजोगुण का लक्षण है ॥ ३२ ॥

लोभःस्वप्नोऽधृतिःक्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता। याचिष्णुता प्रमादश्च तामसंगुणलक्षणम्॥३३॥त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्। इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशोगुणलक्षणम्॥३४॥

अर्थ—लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचारीपना, याचन स्वभाव और प्रमाद; यह तमोगुण का लक्षण है॥३३॥ इन तीनों (सत्त्वादि)

गुणों का, जो कि तीनों में रहने वाले हैं, यह क्रम से संक्षिप्त गुणलक्षण जानना चाहिये कि-॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति। तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्॥३५॥येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्। न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥

अर्थ जिस कर्म को करके और करते हुवे और आगे करने का विचार करते हुवे ( तीनों काल में ) लज्जा करता है, उस सब को विद्वान् तम का लक्षण जाने ॥३५॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि को चाहता है और असम्पत्ति ( असिद्धि ) में शोक नहीं करता, उस को राजस जाने ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्। येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्॥३७॥तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते। सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥३८॥

अर्थ-जिस कर्म को सर्वथा जानने के लिये इच्छा करता है और जिस कर्म को करता हुवा ( तीनों काल में ) लज्जित नहीं होता, तथा जिस कर्म से इस के मन को आनन्द हो, वह सत्त्वगुण का लक्षण है ॥ ३७ ॥ तम का प्रधान लक्षण काम है और रज का प्रधान लक्षण अर्थ कहाता है। तथा सत्त्व का प्रधान लक्षण धर्म है। इन में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते। तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम्॥३९॥देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

अर्थ-इन सत्त्वादि गुणों में जिस गुण से जीव जिस गति को प्राप्त होता है, इस सब के उन गुणों को संक्षेप से यथाक्रम कहता हूं-॥ ३९ ॥ सात्त्विक देवत्व और राजस मनुष्यत्व को तथा तामस सदा तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार की गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः। अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥ ४१ ॥ स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः

अर्थ-जो सत्वादिगुणत्रयनिमित्त तीन प्रकार की गति कही, वह देशकालादि भेद से फिर भी उत्तम मध्यम अधम तीन तीन प्रकार की है और फिर कर्म का विशेष (अनन्त) जानना चाहिये ॥४१॥ वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कछुवे, पशु और मृग; यह तमोनिमित्त निकृष्ट गति है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः। सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः। रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः॥४४॥

अर्थ-हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और सूकर; यह तमोनिमित्त मध्यम गति है ॥ ४३ ॥ और चारण ( खुशामदी ) तथा पक्षी और दम्भ करने वाले पुरुष और राक्षस (हिंसक) तथा पिशाच (अनाचारी) यह तमोगतियों में उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः। द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः। वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥४६॥

अर्थ-( दशम अध्याय में कहे हुवे ) झल्ल मल्ल और नट तथा शस्त्र से आजीविका वाले मनुष्य और जुवा तथा मद्यपान में आसक्त पुरुष; यह रजोगुण की निकृष्ट गति है ॥ ४५ ॥ राजा लोग तथा क्षत्रिय, और राजों के पुरोहित और वाद वा झगड़ा करने वाले, यह मध्यम राजस गति है (राघवानन्द ने-" प्रधानाः=प्रसक्ताः " की और रामचन्द्र ने " वाद=दान " की व्याख्या की है ) ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये। तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥४७॥ तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः। नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

अर्थ-गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष और देवतों के अनुचर तथा सब अप्सरा; यह रजोगुण की गतियों में उत्तम गति है ॥ ४७ ॥ तप करने वाले, यति, विप्र और विमानों पर घूमने वाले, तथा ( चमकते ) नक्षत्र और दैत्य; सत्त्वगुण की अधम गति है ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः। पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः॥४९॥ ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानऽव्यक्तमेव च। उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥५०

अर्थ—यज्ञ करने वाले, ऋषि लोग, देव और वेद, तारे और काल के ज्ञाता, पितर और साध्य, यह मध्यमा सात्त्विक गति है॥४९॥ ब्रह्मा और विश्व को उत्पन्न करने वाले (सृष्टि के आरम्भ के ब्रह्माण्डादि) और धर्म तथा महत्तत्त्व और अव्यक्त (मूलप्रकृति) को विद्वान् लोग उत्तम सात्त्विक गति कहते हैं॥५०॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः। त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः॥५१॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽसेवनेन च। पापान् संयान्ति संसारानऽविद्वांसो नराधमाः॥५२॥

अर्थ—यह संपूर्ण तीन २ प्रकार के कर्म की सार्वभौतिक ३ प्रकार की सब सृष्टि कही॥५१॥ इन्द्रियों के प्रसङ्ग से और धर्म के आचरण न करने से मूढ अधम मनुष्य कुत्सित गतियों को प्राप्त होते हैं॥५२॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा।
क्रमशो याति लोकेस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत॥५३॥
"बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥५४॥"

अर्थ—यह जीव जो जो कर्म करके जिस जिस योनि में इस सृष्टि में जन्म लेता है, वह वह सब सुनो॥५३॥ "(ब्रह्महत्यादि) महापातक करने वाले जीव बहुत वर्ष पर्यन्त घोर नरकों में पड़ कर उस के क्षय से संसार में ये जन्म धारण करते हैं कि—"॥

(५३ वें में योनिप्राप्ति की प्रतिज्ञा करके ५५ वें में योनियों का वर्णन है, इस लिये बीच के ५४ वें की कुछ भी आवश्यकता नहीं है)॥५४॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्। चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥५५॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम्। हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत्॥५६॥

अर्थ कुत्ता, सूकर, गर्दभ, ऊंट, बैल, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुक्कस योनि को ब्रह्महत्यारा प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ मद्य पीने वाला ब्राह्मण कीड़े, मकौड़े, पतङ्ग, मैला खाने वाले पक्षियों और हिंसा करने वाले प्राणियों की ( योनि को ) प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चांचाम्बुचारिणाम्।हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनोविप्रःसहस्रशः॥५७॥ तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि। क्रूरकर्मकृतां चैव शतशोगुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ-चोरी करने वाला ब्राह्मण- मकड़ी, सर्प, घिरगट, जल में रहने वाले तथा हिंसा करने वाले पिशाचों के जन्म को हज़ारों वार प्राप्त होता है ॥५७॥ गुरुपत्नी से गमन करने वाला-घास, गुच्छे, लता, कच्चे मांस को खाने वाले और क्रूर कर्म करने वाले का जन्म सैंकड़ों वार पाता है ॥ ५८ ॥

हिंस्राभवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः। परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविण ॥५९॥ संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम्।अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः॥६०॥

अर्थ-प्राणियों का वध करने के स्वभाव वाले=(मार्जारादि) कच्चे मांस के खाने वाले होते हैं और अभक्ष्य के भक्षण करने वाले=कृमि और चोर=परस्पर एक दूसरे को खाने वाले होते हैं। तथा चण्डाल की स्त्री से गमन करने वाले भी मर कर इसी गति को प्राप्त होते हैं। (दो पुस्तकों के अतिरिक्त अन्यों में 'प्रेतान्त्य'अशुद्ध पाठ है) ॥५९॥ पतितों के साथ रहने और पराई स्त्री से मैथुन करने तथा ब्राह्मण का धन चुराने से ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेनमानवः।विविधानिचरत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥६१॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः। मधु दंशःपयःकाको रसं श्वा नकुलोघृतम् ॥६२॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा और नाना प्रकार के रत्नों को चुराकर हेमकार पक्षियों में जन्म होता है ॥६१॥ धान्य को चुराने से चूहा, कांसे के चुराने से हंस, जल के चुराने से मेंडक, मधु को चुराने से मक्खी वा डांस दूध के चुराने से कौवा, रस को चुराने से कुत्ता और घृत को चुराने से नेवला होता है ॥६२॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः। चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि॥६३॥ कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः। कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मांस को चुराने से गिद्ध, वपा (चरबी) के चुराने से जलकौवा नाम पक्षी, तेल को चुराने से तेल पीने वाला पक्षी, लवण को चुराने से झींगरी और दधि के चुराने से बलाका नाम पक्षी होता है ॥ ६३ ॥ रेशमी कपड़े चुराने से तीतर, अलसी का वस्त्र चुराने से मेंडक, कपास के कपड़े चुराने से सारस, गाय के चुराने से गोधा और गुड़ के चुराने से वाग्गुद नाम पक्षी होता है ॥६४॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः। श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ६५ बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम्। रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः॥६६॥

अर्थ—अच्छे सुगन्धित पदार्थों को चुराने से छछूंदर, सागपात के चुराने से मोर, विविध सिद्ध अन्न चुराने से गीदड़ और कच्चे अन्न चुराने से शल्यक होता है ॥६५॥ आग को चुराने से वक, शूर्प मुसलादि चुराने से गृहकारी पक्षी (मकड़ी) और रंगे वस्त्रों के चुराने से जीवजीवक (चकोर) होता है ॥६६॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः। स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः। अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाऽहुतं हविः॥६८॥

अर्थ—मृग हाथी को चुराने से भेड़िया, घोड़े के चुराने से व्याघ्र, फल मूल के चुराने से वन्दर और स्त्री के चुराने से रीछ, पीने के पानी चुराने से चातक पक्षी, सवारियों के चुराने से ऊंट तथा पशुओं के चुराने से बकरा होता है। (एक पुस्तक में स्तोकक=चातक है) ॥ ६७ ॥ मनुष्य को दूसरे का कुछ असार पदार्थ भी चुराने और विना होम किये हवि के भोजन करने से अवश्य तिर्यग्योनि प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः। एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ६९ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि। पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥

अर्थ–स्त्री भी इसी प्रकार चुराने से दोषों को प्राप्त होती हैं और उसी पाप से उन्हीं जन्तुवों की स्त्री बनती हैं ॥ ६९ ॥ चारों वर्ण विना आपत्ति अपने नित्य कर्म न करने से कुत्सितयोनि को प्राप्त होकर फिर शत्रुओं के दासत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतोविप्रोधर्मात्स्वकाच्च्युतः । अमेध्य कुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥७१॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतोवैश्यो भवति पूयभुक् । चैलाशकश्चभवति शूद्रोधर्मात्स्वकाच्च्युतः॥७२॥

अर्थ–अपने कर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण मर कर वमन का भोजन करने वाला ज्वालामुख, स्वकर्मभ्रष्ट क्षत्रिय पुरीष और शव का भोजन करने वाला कट-पूतनाख्ययोनिविशेष में उत्पन्न होता है ॥७१॥ स्वकर्मभ्रष्ट वैश्य मरकर पीब का भक्षण करने वाला मैत्राक्षज्योति नाम उत्पन्न होता और वैसे ही स्वकर्म भ्रष्ट शूद्र कपड़े की जूं आदि खाने वाला चैलाशक नाम होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः।तथातथाकुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥ तेऽभ्यासात्कर्मणांते षां पापानामल्प बुद्धयः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥७४॥

अर्थ–विषयासक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों को सेवन करते हैं, वैसे वैसे उन में उन की कुशलता हो जाती है ॥ ७३ ॥ वे निर्बुद्धि उन पापकर्मों के अभ्यास से यहां उन उन योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् । करम्भबालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान्॥७६॥

अर्थ–तामिस्रादि उग्र नरकों में दुःख का अनुभव करते हैं तथा असि-पत्रवनादि बन्धन छेदन वाले घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ॥७५॥ और नाना प्रकार की पीड़ा तथा काक उलूक आदि से भक्षण और तप्त बालुकादि से तपाये जाते और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः। शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्मच दारुणम्। बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥७८॥

अर्थ—अधिक दुःख वाली तिर्यक्‌योनियों में नित्य २ उत्पन्न होते और नाना प्रकार की शीत आतप की पीड़ा तथा अनेक प्रकार के भयों को प्राप्त होते हैं ॥ ७७॥ बारम्बार गर्भस्थान में वास अतिकठिन उत्पत्ति तथा उत्पन्न होने पर शृङ्खलादि के बन्धनों और दूसरे के हलकारेपन के दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः।द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्यचार्जनम्७९ जरां चैवाऽप्रतीकारांव्याधिभिश्चोपपीडनम्। क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्यमेव च दुर्जयम्॥८०॥

अर्थ—बन्धु और प्यारों की जुदाई तथा दुर्जनों के साथ रहना और धन कमाने का परिश्रम और धन का नाश और क्लेश से मित्र का मिलना तथा विना कारण शत्रुओं का उत्पन्न होना ( ये सब प्राप्त होते हैं ) ॥७९॥ अनिवारणीय वृद्धावस्था और व्याधियों से क्लेशित होना तथा नाना प्रकार के ( क्षुत्पिपासादि ) क्लेशों और दुर्जय मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते। तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः। नैश्श्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

अर्थ—जिसजिस ( सात्त्विक, राजस, तामस ) भाव से जो जो कर्म करता है वैसे वैसे शरीर से उसउस फल का भोग करता है ॥ ८१ ॥ यह सब कर्मों का फलोदय तुम से कहा। अब आगे ब्राह्मण का कल्याण करने वाले इस कर्म को सुनोः॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।अहिंसा गुरुसेवा च निश्श्रेयसकरं परम् ॥८३॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्। किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

अर्थ-वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा; यह परम कल्याण का देने वाला है ॥८३॥ इन सब कर्मों में कुछ अधिक श्रेय का देने वाला कर्म पुरुष के लिये कहा है (कि:-) ॥८४॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥ षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च। श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥८६॥

अर्थ-इन सब में आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा है। वह संपूर्ण विद्याओं में प्रधान है, क्योंकि उस से मोक्ष प्राप्त होता है ॥८५॥ इन छः कर्मों में इस लोक तथा परलोक में सर्वदा अतिशय श्रेय को देने वाला वैदिक कर्म जानिये ॥ ८६ ॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः। अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥८७॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥८८॥

अर्थ-वैदिक (परमात्मा की उपासनादि) कर्मयोग में ये सब पुण्य उस उस कर्मविधि में संपूर्णता से क्रमपूर्वक आजाते हैं ॥८७॥ सुख का अभ्युदय करने वाला और मोक्ष का देने वाला एक प्रवृत्त, दूसरा निवृत्त, यह दो प्रकार का क्रम से वैदिक कर्म है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

अर्थ-इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उस को प्रवृत्त कहते हैं और जो निष्काम तथा ज्ञान पूर्वक किया जाता है उस को निवृत्त कहते हैं। (८९ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[ अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते।
कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥ ]

अकाम से उपहत कर्म निवृत्त और काम से किया कर्म प्रवृत्त कहाता है) ॥८९॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

अर्थ-प्रवृत्त कर्म करने से देवताओं के साम्य को प्राप्त होता है तथा निवृत्त कर्म के करने से पञ्चभूतों को लांघ कर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥९०॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः। आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ९२

अर्थ- सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को बराबर देखने वाला आत्मयाजी ( आत्मयज्ञ करने वाला ) स्वाराज्य ( मोक्ष ) को प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥ ब्राह्मण यथोक्त कर्मों को छोड़ कर भी आत्मज्ञान और इन्द्रियनिग्रह तथा वेद के अभ्यास में यत्न करे ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः। प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजोभवति नान्यथा ॥९३॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥९४॥

अर्थ-ब्राह्मण का विशेष करके जन्मसाफल्य यही है। क्योंकि इस को पाकर द्विज कृतकृत्य होता है, दूसरे प्रकार नहीं॥९३॥ पितर, देव और मनुष्यों की वेद आंख है और वह सनातन है तथा (अन्य ग्रन्थ पढ़ने मात्र से जानने को ) अशक्य और अप्रमेय है। इस प्रकार ( वेदशास्त्र की ) स्थिति है ॥९४॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥९५॥ उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥९६॥

अर्थ-जो स्मृति वेदबाह्य हैं और जो कुदृष्टि हैं वे सब निष्फल हैं क्योंकि अन्धकार में ले जाने वाली हैं ( एक प्रकार से मानो मनु अपनी ही स्मृति को भी किसी अंश में वेदविरुद्ध हो जाना सम्भव मानते हुवे यह वचन कहते हैं। क्योंकि मनु के लक्ष्य में रखने को अन्यस्मृति तो उस समय थीं ही नहीं ) ॥ ९५ ॥ वेद से अन्यमूलक जो कुछ ग्रन्थ हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, वे अर्वाक्काल के होने से निष्फल और असत्य हैं (इस लिये जो वेद से प्रमाणित है, वही प्रमाण है ) ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं

च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ-चार वर्ण, तीन लोक, अलग २ चार आश्रम, तथा भूत भविष्यत वर्तमान, सब वेद ही से प्रसिद्ध है ॥९७॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये ५ भी वेद ही से उत्पन्न हैं । यद्यपि उत्पत्ति (सत्वादि) गुणों के कर्म से है ॥ ( अर्थात् यद्यपि सब पदार्थ अपने २ उपादान से उत्पन्न हैं, परन्तु उन सब का ज्ञान वेद से ही आरम्भ हुवा, इस लिये शब्दादि विषयों की उत्पत्ति वेद से ही कही गई ) ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥ सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

अर्थ-सनातन वेदशास्त्र सर्वदा संपूर्ण जीवों का धारण और पोषण करता है । इस प्राणी के लिये इस वेद के साधन को मैं ( मनु ) परम मानता हूं ॥९९॥ सैनापत्य और राज्य तथा दण्डनेतापन और सब लोगों पर आधिपत्य को वही पाने योग्य है, जो वेदशास्त्र का जानने वाला है ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥

अर्थ-जैसे बलवान् हुवा अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला अपने कर्मज दोष को जला देता है ॥

(१०१ से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक मिलता है, जो कि आवश्यक भी था:-

[ न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ]

परन्तु वेदबल के भरोसे मनुष्य को (निर्भय हो) पापकर्म में रुचिवाला नहीं बनना चाहिये । क्योंकि अज्ञान वा प्रमाद से जो कर्म बन जाते हैं, उन्हीं का [पूर्व श्लोकानुसार] हनन हो सकता है, अन्यों का नहीं ) ॥१०१॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥

अर्थ-वेद शास्त्रार्थ का तत्त्व जानने वाला, चाहे जिस आश्रम में रह कर इसी लोक में रहता हुवा वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्योग्रन्थिनः श्रेष्ठाग्रन्थिभ्योधारिणोवराः।धारिभ्योज्ञानिनः श्रेष्ठाज्ञानिभ्योऽव्यवसायिनः ॥१०३॥ तपोविद्या च विप्रस्य निश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१०४॥

अर्थ- विना पढ़ने वालों से ग्रन्थ के पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उन से (कण्ठस्थ) धारण करने वाले तथा उन से भी उसके अर्थ जानने वाले और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ हैं ॥१०३॥ तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याणप्रद है। तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥१०५॥आर्षं धर्मोपदेशं चवेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ-धर्म के तत्त्व को जानने की इच्छा करने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध शास्त्र; इन तीनों को भले प्रकार से जानना चाहिये ॥ १०५ ॥ ऋषियों के कहे हुवे उपदेशरूप धर्म को वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से जो खोज करता है वह धर्म को जानता है; अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

"नैश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥"

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

अर्थ-"यह निश्रेयस का साधन कर्म निःशेष यथावत् कहा। अब इस मनु के शास्त्र का रहस्य बताया जाता है") यह स्पष्ट ही अन्यकृत हैं। तथा इस के विना भी प्रसङ्ग में कुछ भेद नहीं पड़ता) ॥१०७॥ जहां पर सामान्य विधि हो और विशेष न हो वहां कैसा होना चाहिये, इस शङ्का पर कहते हैं कि जो शिष्ट ब्राह्मण कहें वहां वही अशङ्कित धर्म है ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतोयैस्तु वेदःसपरिबृंहणः। तेशिष्टाब्राह्मणाज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः १०९ दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्प-

येत् । त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-ब्रह्मचर्यादियुक्त धर्म से जिन्होंने षडङ्गादि सहित वेद पढ़ा है, वे श्रुति के प्रत्यक्ष करने वाले लोग शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहियें, ॥१०९॥ (१११ में कहे हुवे ) दश भी श्रेष्ठ विद्वान् जिस धर्म को कहें, वा ( उन के अभाव में ) सदाचारी तीन भी कहें; उस धर्म को न लांघे ॥

( ११० वें से आगे चार पुस्तकों में १ यह श्लोक प्रक्षिप्त है:-

[ पुराणं मानवो धर्मः साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ] ॥

१ पुराण, २ मनुप्रोक्त धर्म, ३ साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा शास्त्र, ४ साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन ४ को हेतुओं से खण्डित न करे ) ॥ ११० ॥

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च । त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

अर्थ-१-३ तीन वेदों के जानने वाले और ४ ( श्रुतिस्मृति के अविरुद्ध ) न्यायशास्त्र का जानने वाला तथा ५ ( मीमांसक ) तर्क का जानने वाला और ६ निरुक्त जानने वाला तथा ७ धर्मशास्त्र का जानने वाला और ८-१० पूर्व के तीन ( ब्रह्मचारी गृही वनी ) आश्रम वाले, यह दशावरा सभा ( परिषत् ) है ॥ १११ ॥ ऋक् यजुः, साम; इन तीन वेदों को जानने वालों की धर्मसंशय निर्णय के लिये त्र्यवरा सभा जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ अव्रतानामऽमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

अर्थ-वेद का जानने वाला ब्राह्मण एक भी जिस धर्म को कहे उस को श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये और अज्ञों का दश हज़ार का भी कहा कुछ नहीं ॥ ११३ ॥ व्रत और वेदमन्त्रों से रहित तथा केवल जातिमात्र से जीते हुवे सहस्रों भी इकट्ठे हुवों को परिषत्त्व (धर्मनिर्णय का सभात्व) नहीं है ॥११४॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममऽतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा

तद्वक्तृननुगच्छति ॥११५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्। अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

अर्थ-तमोगुणप्रधान, मूर्ख, धर्मप्रमाणवेदार्थ को न जानने वाले लोग जिस को (प्रायश्चित्तादि) धर्म बताते हैं, उस का पाप सौगुणा होकर उन बताने वालों को लगता है ॥११५॥ यह निःश्रेयस का साधन धर्मादि सब तुम से कहा। इस के अनुष्ठान से न गिरने वाले ब्राह्मणादि परमगति को प्राप्त होते हैं ॥११६॥

" एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥ "
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चाऽसच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥

अर्थ-" इस प्रकार उस भगवान् देव (मनु) ने लोगों के हित की इच्छा से धर्म का परमगुह्य यह सब मुझ को उपदेश किया" ॥ (भृगु वा सम्पादक कोई कहता है) ॥ ११७ ॥ सत् और असत् सब को समाहितचित्त होकर आत्मा में देखे, क्योंकि सब को आत्मा में देखने वाला (परमात्मा के भय से) अधर्म में मन नहीं लगाता ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥११९॥ खं सन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्। पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्त्तिषु॥१२०॥

अर्थ-आत्मा ही संपूर्ण देवता है, क्योंकि सब कुछ आत्मा में ही स्थित है और इन शरीरियों (जीवात्माओं) के कर्मयोग को आत्मा ही उत्पन्न करता है ॥ ११९ ॥ आकाशों में आकाश को निविष्ट करे और चेष्टा तथा स्पर्श में वायु को और जाठराग्नि तथा दृष्टि में परमतेज को और शरीर के स्नेह में जल को तथा मूर्त्तियों (शरीरों) में पृथिवी को सन्निविष्ट करे (इस क्रम से ध्यानावस्थित होवे) ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्। वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम्॥१२१॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥१२२॥

अर्थ—मन में चन्द्र को, कान में दिशाओं को, गति में विष्णु को, बल में शिव को, वाणी में अग्नि को और गुदा में मित्र को, लिङ्ग में प्रजापति को निवेशित करे। (इन २ इन्द्रियों के ये २ अधिष्ठातृदेवता=दिव्यगुण हैं। ध्यान करने वाला प्रथम उस २ इन्द्रिय के साथ उस २ के अधिष्ठातृ देवता की भले प्रकार स्थिति सम्पादन करे अर्थात् इन्द्रियों से अनुचित विषय ग्रहण को वर्जे) ॥ १२१ ॥ सब के नियन्ता और अणु से अणु तथा सुवर्ण की सी आभा वाले और स्वप्न की सी (एकाग्र) बुद्धि से गम्य को परम पुरुष जानना चाहिये ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥१२३॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

अर्थ-इस को कोई अग्नि कहते हैं और कोई मनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शाश्वतब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥ यह आत्मा सब जीवों को पञ्चमहाभूतों रूप मूर्त्तियों से व्याप्त करा कर नित्य चक्र के समान जन्म वृद्धि क्षयों से घुमाता है ॥१२४॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् ॥१२५॥
"इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्" ॥१२६॥

अर्थ—इस प्रकार जो सब में आत्मा से परमात्मा को देखता है, वह समदृष्टि होकर परमपद ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥ "इस प्रकार यह मनु का शास्त्र भृगु ने कहा है। इस को पढ़ने वाला द्विज सर्वदा आचार वाला और यथेष्ट गति को प्राप्त होता है" ॥ (यह वचन भृगु से भी पीछे बनाकर मिलाया गया स्पष्ट है) ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तैषा मनुसंहिता च

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

नवीन पुस्तकें

# भीम प्रश्नोत्तरी

पं० भीमसेन शर्मा इटावा निवासी की रचित

" आर्यमतनिराकरण प्रश्नावली " का उत्तर-

इस में ३६० प्रश्नों के उक्त पुस्तक का उत्तर प्रौढ़ता से दिया गया है। पं० छुट्टनलाल स्वामी जो कई वर्षों से इस का उत्तर वेदप्रकाश द्वारा दे रहे थे, उन्हों ने बहुविलम्बित समय जान कर अब स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। अनेक पत्र वेदप्रकाश कार्यालय में इसके उत्तर छाप कर स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशनार्थ प्रेरणा वा प्रार्थना के आ रहे थे। आज यह पुस्तक त्यार होगया। दयानन्द ति० भा० के उत्तर " भास्करप्रकाश " के छपने से पश्चात् जो शङ्का शास्त्रों के आधार पर आर्यधर्म पर उठायी जा सक्ती थीं, प्रायः वे सब ही पं० भीमसेनजी ने एकत्र करदी थीं, इस कारण इन शङ्काओं पर आर्यसमाज की ओर से उत्तर की बड़ी आवश्यकता थी, वह इस " भीमप्रश्नोत्तरी " ने पूर्ण करदी है। स्वर्गवासी श्री स्वामी नित्यानन्द जी ने, तथा राणा हीरासिंह साहब धामीनरेश ने भी इस के उत्तर छापने की प्रेरणा की थी, अब यह स्वामी जी के स्मारक में अर्पित है।

अवध प्रदेशान्तर्गत " अमेठी " के राजकुमारों ने जो इस के छापने में सहायतार्थ धन भेजा है, उस के लिये ग्रन्थकार ने उन्हें धन्यवाद दिया है॥ मूल्य ॥)

OM

# MANU-SMRITI

Translated

IN-TO

HINDI

Printed and Published

By

## P. TULSI RAMSWAMI

At The Swami Machine Press Meerut

Price Re. 1-4-0

Seventh Edition.

1914